

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष: 12, अंक: 45, जनवरी-मार्च 2025

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

विविध  
विधाएँ



विद्यार्थी मंच

मूल्य: ₹ 100 रुपये

उस पार से.....

## प्रसंग

क्यों हो रहे हैं इस्तेमाल  
खून-स्याही के आग-पानी  
जगह-वे-जगह ?  
सड़कों पर  
विछ रहे कंकड़ों के साथ  
झुगियों के बेपर्दे होने का विस्तार  
मिल रहा है गले  
गली-गली से  
ढीली हो रही है  
सन्नाटे की ऐंठन  
जनम रही है कविता  
बढ़ रहा है दबाव  
बार-बार उड़ जाते हैं  
मीटरों में फिट-प्यूज-वायर  
ओ ट्राफिक-पुलिस  
हम कहाँ हैं मुहताज  
तुम्हारी हरकतों के ?  
हमारे हाथों में है टार्च  
बढ़ रही है रफ्तार  
: जनम रही है कविता



ध्रुवदेव मिश्र पाषाण  
(9 सितंबर 1939 - 7 जनवरी 2025)

- धूप के पंख/17, 30 जुलाई '1973

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष : 12, अंक : 45, जनवरी-मार्च 2025

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा  
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच  
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय  
 कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव  
 आकल्पक : संतोष तिवारी

## परामर्श एवं विशेष सहयोग :

डॉ. पंकज साहा : प्राक्तन प्राध्यापक, खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल  
 कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, बर्मिघम, यू.के.  
 डॉ. कृष्ण कन्हैया : चिकित्सक एवं रचनाकार, बर्मिघम, यू.के.  
 अमित राय : एसोसिएट प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता  
 शशिभूषण द्विवेदी : ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के RHODES Scholar's  
 मृत्युंजय श्रीवास्तव : संस्कृतकर्मी एवं विचारक  
 प्रकाश कुमार अग्रवाल : असिस्टेंट प्रो., हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, प. बंगाल  
 विनय कुमार मिश्र : प्राध्यापक, बंगवासी कॉलेज  
 चित्रा माली : प्रभारी अकादमिक निदेशक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता  
 विजया सिंह : शिक्षिका, रानी बिड़ला गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता  
 विजय कु. साव (निशांत) : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल  
 उत्सव सिन्हा : वर्चुअल प्रोडक्शन स्पेशियलिस्ट, मुंबई  
 व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :  
 विवेक लाल, विनीता लाल, सरिता खोवाला, परमजीत पंडित, नगीना लाल दास एवं रुद्रकान्त झा  
 संपर्क एवं प्रसार :  
 विनोद यादव : 9007517546, पद्माकर व्यास : 9433196407  
 चाँदनी सिन्हा (बर्मिघम, यू.के.) : +447411412229  
 लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।  
 पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

## पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : प्राक्तन प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र  
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)  
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद  
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन  
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात  
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर - बंग विश्वविद्यालय  
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता  
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)  
 डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता  
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र  
 कानूनी सलाहकार : एड. बृजेंद्र प्रताप सिंह, कलकत्ता हाईकोर्ट  
 मुक्तांचल : A/C- 50200014076551, HDFC Bank  
 BURRABAZAR, KOLKATA-700007,  
 IFSC CODE - HDFC0000219  
 संपादकीय कार्यालय :  
 आधुनिक अपार्टमेंट, ग्राउण्ड फ्लोर, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल  
 संपर्क करें :  
 डॉ. मीरा सिन्हा (संपादक) : 9831497320  
 सुशील कुमार पांडेय : 8820406080  
 कार्यालय प्रभारी :  
 बलराम साव : 8910783904  
 ई-मेल : muktanchalpatrika@gmail.com/  
 sinhameera48@gmail.com  
 मुद्रक : गाथा प्रकाशन, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106  
 पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये  
 सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन- 5000 रुपये  
 संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-5500 रुपये  
 डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

## अवस्थिति

शो	06	संस्तुति	
		आलेख	
ध	07	माधव नागदा	हिंदी लघुकथाओं में यथास्थिति का अतिक्रमण
	13	मांगन मिश्र 'मार्तण्ड'	रेणु करी राजनीतिक चेतना
स	19	डॉ. नागेश्वर यादव	सुमित्रानन्दन पंत की आलोचना दृष्टि
	32	डॉ. ऋषि भूषण चौबे	हिंदी के मध्यकालीन कवियों की भाषा-दृष्टि
मी		कहानी	
	37	रंजना जायसवाल	मसालदानी
क्ष	43	संदीप तोमर	मेरा प्रथम पुरुष मित्र
		निबंध	
ण	51	मृत्युंजय श्रीवास्तव	किताबें मेरी जान
		संस्मृति	
ज	53	कौशल किशोर	कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण को सलाम!
		आत्मकथांश	
न	56	रूपसिंह चन्देल	नौकरी की तलाश
		डायरी अंश	
सं	63	शशिभूषण द्विवेदी	सन 2025 और कुछ डायरी के पन्ने
	67	कुबेर कुमावत	डायरी : लिखे बगैर रहा नहीं
चा		समय की शिला पर	
	71	श्याम सुन्दर तिवारी	नवगीत साहित्य की शुभता का संकेत
र		कविता	
	74	उमा झुनझुनवाला	मैं अभी प्रतीक्षा में हूँ प्रिये!, प्रतीक्षारत, प्रतीक्षा-3, प्रतीक्षा-4 (1-2), प्रतीक्षा के रंग
	76	डॉ. विजया सिंह	औरतें जो तौलिया इस्तेमाल नहीं करतीं
	78	डॉ. शिप्रा मिश्रा	रोटी, हे पौरुषेय, तुरपाई, मेरे भीतर का पिता
	80	शंकरानंद	भूख की भाषा, किनारे पर, कुछ बनाना, हुनर
	81	जितेंद्र जितांशु	वक्त ने सौंपी, अपनी ही दुनिया में, सूरज की आशा में, कौन तुम



## अवस्थिति

शो ध	सरगम के सुर साधे	
	83 राजकुमार कुम्भज	कविता का संस्कार
स मी क्ष ण	शोधार्थी की कलम से	
	87 डॉ. घुँघरू परमार	अभंग गाथा में सामाजिक मूल्य : संत तुकाराम के विशेष परिप्रेक्ष्य में
	91 संजय कुमार सेन	वैचारिक सार्थकता और सामाजिक अर्थवत्ता के संदर्भ में हरिशंकर परसाई के व्यंग्य
	95 आरती कुमारी	दर्दजा : स्त्री जीवन की त्रासदी
	98 गौरव कुमार	मार्क्सवादी चिंतन के परिप्रेक्ष्य में धूमिल की कविताओं का मूल्यांकन
सृ ज न	104 कंचन रजक	नई और पुरानी पीढ़ी का द्वंद्व
	व्यंग्य	
	109 हरिशंकर राढ़ी	चलो मजाक कर लें
	साक्षात्कार	
सं चा र	111 जितेन्द्र कुमार	कथाकार सुरेश कांटक से बातचीत
	यात्रा वृत्तांत	
	119 विनोद साव	बुद्ध का विहार (बिहार)
	उपन्यास अंश	
	128 हरभजन सिंह मेहरोत्रा	देह दान (निर्वासिनी उपन्यास)
	पुस्तकायन	
	131 सुषमा मुनीन्द्र	ठलुआ चिंतन (कहानी संग्रह)
	133 डॉ. पंकज साहा	भाव एवं शिल्प के सहज कवि : कमर मेवाड़ी
	135 अभिमत	
	139 गतिविधियाँ	

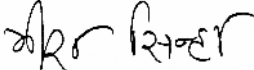
आवरण : राजसार्थक शर्मा

इधर कुछ दशकों से हिंदी साहित्य-संसार में विमर्शों की धूम रही है, जिसने आलोचनात्मक पक्ष को प्रबल किया है। परंतु, सर्जन में विविधता का अभाव सा होता चला गया है। साहित्य की चार-छह विधाएँ ही अभिव्यक्तियों को निरूपित कर रही हैं। सच तो यह है कि पिछली सदी में आधुनिकता के प्रवेश के साथ ही साहित्य की विविध विधाओं ने जितनी जोरदार दस्तक दी थी, वह नई सदी में नहीं के बराबर है। ऐसे में, विविध विधाओं के सर्जनात्मक मूल्य और शिल्प को बरकरार रखना हमारे सामने चुनौती बन कर खड़ी है। संचार के तकनीक में अधिक से अधिक दृश्यता को ग्रहण किया है। सृजन का अवलोकन अधिक और पठन-पाठन कम हो गया है। सुंदर भाषा और मनोहारी शैली का आनंद विलुप्त होता जा रहा है। पढ़ना-लिखना और उस पर चर्चा-परिचर्चा अब अपनी विच्छिन्नता में वर्ग विशेष तक ही सीमित रह गई है। कलम की जगह टंकण ने ले लिया है और कागज की जगह आभासी 'वाल' ने, जिन पर 'ब्लॉग' लिखे जाते हैं। सब कुछ बड़ी शिद्दत से गुजरता है और हम सहेजने की जगह 'सेव' किया करते हैं और फिर उन्हें मिटा भी देते हैं। यह सब कुछ समय की रफ्तार में चलने की मजबूरी से उत्पन्न है, जहाँ ठहरने की कोई गुंजाइश नहीं बनती। शायद यही एक बड़ा कारण है कि हम साहित्य की भिन्न-भिन्न विधाओं को कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से उतना अधिक नहीं सँवार पा रहे हैं। संकट यहाँ तक गहरा गया है कि कुछ-कुछ विधाएँ तो साहित्य जगत से तिरोहित ही होती जा रही हैं या पनाह लेने के लिए किसी अन्य विधा में घुल-मिल गई है।

मुक्तांचल-45 में विविध विधाओं को समेटने की कोशिश की गई है। यह कोशिश भी संपूर्ण नहीं अपूर्ण ही है। पाठकों एवं अध्येताओं से अनुरोध है कि इस कोशिश को मिले-जुले प्रयास से आगे बढ़ाया जाए। तय है कि 'साहित्य' समाज का दर्पण है अतः युग का यथार्थ उसमें प्रतिभासित होगा ही, लेकिन यह भी जरूरी है कि उसमें असर डालने की ताकत भी हो और उस ताकत को हासिल करने के लिए अभिव्यक्ति के कौशल को प्राप्त करना होता है। कथ्य और शिल्प क्षेत्रों को मिलाकर ही कृतिया कालजयी अथवा युगांतकारी होती है।

उसी संदर्भ में 'मुक्तांचल-46' के द्वारा हम साहित्य में प्रयुक्त नवाचार की खोज करेंगे, हिंदी साहित्य में बदलाव के बिंदु युगांतकारी रहे हैं। साहित्य की विविध विधाओं में कथ्य, शैली और शिल्प के बदलते तेवर को आकलित करना एक जरूरी काम है। मैं अपने अध्येताओं एवं लेखकों से आग्रह करती हूँ कि वे इस अंक के लिए आलेख, गवेषणा, पाठ, पुनर्पाठ, अन्तःपाठ, पुस्तक समीक्षा आदि भेजें। शोधार्थी व्यक्ति केंद्रित शोध न कर साहित्य के 'ट्रेंड' को पकड़े। अध्ययन, अध्यापन एवं शोध समीक्षा केवल व्यवहार, प्रचार और तुष्टिकरण तक ही सीमित और संकुचित न रह जाए।

उम्मीद है 'मुक्तांचल-46' में मुक्तांचल-45 की प्रबल प्रतिक्रिया मिलेगी जिसे हम संवाद के मोर्चे तक ले जा सकेंगे। मुक्तांचल का अभिप्रेत है साहित्यिक संवाद।

  
संपादक

## हिंदी लघुकथाओं में यथास्थिति का अतिक्रमण

- माधव नागदा

पिछले दिनों एक राष्ट्रीय स्तर की पत्रिका में प्रकाशित एक लघुकथा ने ध्यान आकर्षित किया। लघुकथा इस प्रकार है, 'दीपाली शिकायत करती है- अंकल मैंने फेसबुक पर इन्वाइट किया मगर आप नहीं आए। अंकल बोले- बेटी, फेसबुक पर मैंने लाइक तो कर ही दिया था।' इस 'लघुकथा' को पढ़कर मुझे इंटरनेट से ही जुड़ा एक किस्सा याद आ गया, 'मित्र कहना है- मैं रात को तुम्हें मेल भेज दूँगा। इस पर दूसरा मित्र बोलता है- 'यार, मेल नहीं, फीमेल भेजना।' दोनों में किसे लघुकथा कहें और किसे चुटकला? इसी पत्रिका में प्रकाशित दो और लघुकथाएँ देखिए- पहली में प्रकृति, विकृति और संस्कृति पर बस चलती है। साहित्यकार अपने विचार रखते हैं; भूख लगने पर भोजन करना प्रकृति, दूसरे का भोजन छीनकर खाना विकृति और अपना भोजन दूसरे को देना संस्कृति है। बहस के अंत में एक कवि विचार व्यक्त करता है- कवि के लिए कविता लिखना प्रकृति, अन्य की एक या दो कविता सुनना संस्कृति और अपनी एक के बजाय दस-दस कविताएँ सुनाना विकृति है। दूसरी लघुकथा में एक कविनुमा व्यक्ति के कंधे से मोटरसाइकिल सवार उचक्का झोला झटककर ले जाता है। जब लोग सांत्वना प्रगट करने इकट्ठा होते हैं तो कविनुमा व्यक्ति जोर से हँसने लगता है। हँसने का कारण पूछने पर वह कहता है, 'साला गया काम से, झोले में मेरी कविता की डायरी थी।' ऐसी लघुकथाएँ केवल इसी पत्रिका में नहीं, बल्कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं, संग्रहों-संकलनों में भी प्रकाशित होती रहती हैं। इस प्रकार की लघुकथाएँ यथास्थितिवादी हैं जो न तो पाठक की संवेदनाओं को झकझोरती हैं और न ही उसमें विचारोत्तेजना उत्पन्न करती हैं। ये मनुष्य के संघर्ष को, उनकी परिवर्तनकामी चेष्टा को आवाज नहीं देती, बल्कि क्षण भर के लिए गुदगुदाकर रह जाती है। गुदगुदाना या सिर्फ मनोरंजन करना ही साहित्य का मकसद नहीं है। लघुकथा अपेक्षाकृत नया साहित्यरूप है जो देश, काल और परिस्थितियों की उपज है। जहाँ पुराने साहित्यरूपों यथा कविता, कहानी, उपन्यास की सीमा रेखा आती है वहीं से लघुकथा की भूमिका आरंभ होती है। नामवर सिंह कहते हैं, "यह धारणा गलत है कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है। रूप की विशेषता आ जाती है। एक ही साहित्यकार कविता में वास्तविकता का एक पहलू दिखाता है तो उपन्यास में दूसरा, कहानी में तीसरा। साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं, बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है।"

लघुकथा का आविर्भाव महज इसीलिए, नहीं हुआ है कि लोगों को गुदगुदाया जाए या समाज में जो है हू-ब-हू वही दिखाया जाए। बेशक साहित्य को साज का दर्पण कहा गया है। मगर आज के बदले हुए परिवेश में यह एक अधूरी बात है। दर्पण का काम है जैसा है वैसा दिखाना। नंगा है तो नंगा दिखाना। हम यह समझते हैं कि अपनी नंगई देखकर मनुष्य शर्म के मारे वस्त्र धारण कर लेगा। परंतु आज तो मनुष्य अपने नंगेपन पर ही इतराने लगा है। इसलिए केवल दर्पण दिखाने से काम नहीं चलेगा। आज बिल्लोरी शीशा चाहिए जो बिखरी हुई आग को एक जगह इकट्ठा कर ठूठ हो चुके

इनसान को बेचैन कर दे। बेलिन्स्की कहते हैं, 'यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिए ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निःसृत होती है, यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय में फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल या सवाल का जवाब नहीं तो वह निर्जीव है।' श्रीकृष्ण शर्मा अपनी कविता 'एक अक्षर और' में इसी बात को यों कहते हैं, **'और लिखो/फिर लिखो तुम/एक अक्षर और/आग से लिखो/लिखो तूफान से/या खून से लिखो/कलम से लिखो तुम/या कलम के ईमान से/पर लिखो/विपरीत स्थिति में भी/बड़ी ही शान से/इन अनास्था के क्षणों में/जड़ो तुम फिर/एक आस्थावान प्रस्तर और।'**

ऐसी बात नहीं है कि हिंदी में सारी लघुकथाएँ स्थितियों का फोटोग्राफिक चित्रण मात्र हैं। कई लघुकथाएँ आगे बढ़कर यथास्थिति का अतिक्रमण करते हुए युग सत्य को गहरी संवेदनशीलता या वाजिब आक्रोश के साथ आभिव्यक्त कर रही हैं। ऐसी लघुकथाएँ शिनाख्त की जा सकती हैं जो परिवर्तनकामी हैं, जनसंघर्ष की पक्षधर हैं, विचारोत्तेजक हैं, सार्थक हैं।

रघुवीर सहाय की लघुकथा 'नैतिकता बोध' से बात प्रारंभ कर सकते हैं। एक यात्री दूसरे से कहता है, भाई हमें बैठने दो। मगर दूसरा मना कर देता है, कहता है मैं आराम करूँगा। पहला खड़ा रहता है। दूसरा आदमी बैठा रहता है और देखता रहता है। अचानक वह उठकर जगह देते हुए कहता है, भाई मुझसे अब बर्दाश्त नहीं होता। आप यहाँ बैठ जाइए। रघुवीर सहाय ने इस लघुकथा के माध्यम से अनास्था के क्षणों में एक आस्थावान पत्थर जड़ा है। इसका अंत यों भी हो सकता था कि पहला यात्री खड़ा-खड़ा थककर गैलरी में नीचे बैठ जाता और सहयात्री सीट पर पसरा ही रहता। जैसा कि आज के कई लघुकथाकार अमानवीयकरण की स्थितियों का चित्रांकन करते समय बखूबी कर रहे हैं। लेकिन, उस सूरत में

लघुकथा साधारण-सी होती, बेअसर और यथास्थिति की पोषक आप कह सकते हैं कि यह हृदय परिवर्तन की कथा है इसलिए आदर्शवादी है। परंतु, यहाँ देखने वाली बात यह है कि आदर्श यथार्थ में रचा-बसा है। आदर्श हावी नहीं है, यथार्थ हावी है, इसीलिए विश्वसनीयता कहीं से भी खंडित नहीं होती। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना अपनी एक कविता में कहते हैं कि आपके घर के कमरे में लाश पड़ी हो तो आप दूसरे कमरे में पूजा कर सकते हैं। जब सहयात्री खड़ा है, परेशानी में है तो सीट पर बैठा व्यक्ति ज्यादा देर बर्दाश्त नहीं कर सकता है। अभी तक आम आदमी की संवेदनाएँ इतनी भोथरी नहीं हुई हैं। वाहन चलाते समय सामने अगर गिलहरी आ जाए तो पैर खुद-ब-खुद ब्रेक पर चले जाते हैं। अतः यात्री के भीतर नैतिकता बोध जगना न केवल विश्वसनीय है, बल्कि लघुकथा को भी कालजयी बनाता है। यहाँ माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' पर भी विचार किया जा सकता है। यद्यपि उस जमाने में लघुकथा जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। समीक्षकों की निगाह में यह रचना हिंदी की पहली कहानी की दौड़ में सम्मिलित है। आज लघुकथा मीमांसकों ने इसे लघुकथा के रूप में लगभग हथिया लिया है। वैसे भी यदि उस जमाने में लघुकथा शब्द प्रचलन में होता तो 'एक टोकरी भर मिट्टी' के कलेवर और ट्रीटमेंट को देखते हुए इसे कहानी नहीं लघुकथा से ही नवाजा जाता। तो यहाँ गरीब वृद्ध विधवा की झोंपड़ी को कब्जाने वाला जमींदार अंत में झोंपड़ी लौटा देता है। परंतु, झोंपड़ी का लौटाना आकस्मिक नहीं है। यद्यपि, यहाँ आदर्शवाद 'नैतिकता बोध' की अपेक्षा स्थूल है, परंतु जमींदार का हृदय परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं लगता। झोंपड़ी वृद्ध विधवा के गिड़गिड़ाने पर नहीं लौटाई जाती। बल्कि, वह ऐसा कटाक्ष करती है जो जमींदार के अंतस में कटार की तरह जा लगती है। वृद्धा कहती है, 'महाराज! नाराज न हों, आपसे तो एक टोकरी भर मिट्टी नहीं उठाई जाती और इस झोंपड़ी में तो हजारों टोकरियाँ मिट्टी पड़ी है। उसका भार आप जन्म भर उठा



सकेंगे? आप इस बात पर विचार कीजिए।' इस खथन से जमींदार की आँखें खुल जाती हैं।

आज कई लघुकथाकार आदर्श को यथार्थ के लिए घातक समझते हैं। वे अंतर्विरोधों की निर्मम चीर-फाड़ तो करते हैं, परंतु दुनिया कैसी हो इसकी तरफ इशारा नहीं करते। वस्तुतः जिस रचना में आदर्श, यथार्थ के साथ रच-पचकर, एकमेव होकर अभिव्यक्त होता है, वह दिशापरक होता है। ऐसी रचना समाज का दर्पण न होकर समाज का दीपक होती है। तात्पर्य यह कि यथार्थ थोपा हुआ न हो, बल्कि रघुवीर सहाय की 'नैतिकता का बोध' की तरह लघुकथा में से उपडे। डॉ० सुरेश सिन्हा कहते हैं, 'आदर्शवादी दृष्टिकोण को साहित्य से बर्खास्त करने के प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता है, क्योंकि आदर्शवाद हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं नैतिक मान्यताओं के ठोस धरातल पर खड़ा है और जो साहित्य मूल्य-मर्यादा रहित है, आदर्शच्युत है, वह हमारे लिए मूल्यहीन है। शाश्वत साहित्य किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर ही रचा जाता है और तभी उस साहित्य का कोई मूल्यांवेक्षण हो सकता है। वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना आदर्श एवं यथार्थ के परस्पर मेल से ही हो सकती है।' लघुकथाकार सुरेन्द्र गुप्त के अनुसार 'यथातथ्य चित्रण से रचनाकार समाज को कुछ दे पा रहा है या केवल अपने मन की भड़ास निकाल रहा है? रचनाकार का सृजन समाज-सापेक्ष होना चाहिए। समाज को उससे कुछ अपेक्षाएँ हैं। वह ऐसी रचनाएँ दे, जो कहीं न कहीं लोकरंजन के दायरे में आती हों और सत्यम्, शिवं, सुंदरम् की अभिव्यक्ति को मुखरित करती हों। मेरे विचार से सत्यम्, शिवं, सुंदरम् ही गिरते मूल्यों का सर्वोत्तम विकल्प हो सकता है। रचना यदि आदर्शोन्मुखी होगी तो कहीं ज्यादा प्रभावशाली होकर कालजयी रचना का रूप ले सकती है। लेकिन, उसके साथ एक बात निर्विवाद रूप से जुड़ी हुई है कि रचना अपनी विश्वसनीयता की सत्यता को बराबर बनाए रखे।'

पवन शर्मा की 'कुन्दन' लघुकथा में पुश्तैनी मकान

को बचाने के लिए पत्नी अपने गहने बेच देने का प्रस्ताव रखती है। उससे पति की बेचैनी देखी नहीं जाती। रात को बारह बजे तक करवटें बदलता रहता है, क्योंकि पिता जी की चिट्ठी आती है कि मकान छुड़वाने के लिए बारह हजार रुपयों की तत्काल जरूरत है, मयाद जो पूरी हो गई है। अब कहाँ से लाए इतने रुपये। पति की मनःस्थिति बताने के लिए लाल रंग के बल्ब का प्रभावी प्रतीक लिया गया है जिससे लघुकथा सपाट होने से बच गई है। प्रारंभ में पति को यह लाल रंग कमरे में बिखरे सुर्ख कून की तरह लग रहा था। किंतु, जब पत्नी उसके सिर का बोझ हल्का कर देती है तो 'लाल रंग के जीरो वाट के बल्ब में उसे अपनी पत्नी का चेहरा कुन्दन की भाँति चमकता दिखाई देता है।' यदि पत्नी गहने बेचने का प्रस्ताव नहीं रखती तो यह लघुकथा भी पारिवारिक रिश्तों के विघटन की उन सैकड़ों लघुकथाओं की तरह हो जाती जैसी कि आज धड़ल्ले से लिखी जा रही है। 'जगमगाहट' (रूप देवगुण) की भुक्तभोगी लड़की बॉस लोगों की वासनात्मक दृष्टि के चलते दो-दो बार नौकरी छोड़ चुकी है। तीसरी बार उसने तय कर लिया कि वह भागेगी नहीं वरन सामना करेगी। यहाँ भी वह बॉस के व्यवहार को लेकर हरदम सशंकित रहती है। एक दिन बॉस जब उसे फाइलें देखने रिकॉर्ड रूम में बुलाता है तो उसकी आशंका विश्वास में बदल जाती है। घोर एकांत। इतने में लाइटें चली जाती हैं। अब तो अनर्थ होने वाला ही है। जैसे ही बॉस छूने की कोशिश करेगा वह चिल्ला पड़ेगी। लेकिन, उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता है जब बॉस कहता है, 'देखो तुम्हें अँधेरा अच्छा नहीं लगता होगा। तुम्हारी भाभी (बॉस की पत्नी) को भी अच्छा नहीं लगता। जाओ, तुम बाहर चली जाओ।' यह लघुकथा बनी-बनाई धारणा पर प्रहार करते हुए बताती है कि सारे मर्द एक जैसे नहीं होते। सतीश दुबे की 'लास्ट लेसन', रामेश्वर कम्बोज 'हिमांशु' की 'ऊँचाई', मुरलीधर वैष्णव की 'रंग नंबर', रामकुमार घोटड़ की 'छत्रछाया' सतीशराज पुष्करमा की 'मन के साँप' में रिश्तों की गरमास

आश्चर्यकारी और समाज के लिए दिशापरक है। मधुदीप की 'ऐसे' लघुकथा भी रेखांकित करने योग्य है जिसमें दो मित्र जिंदगी से इस कदर नाराज हैं कि आत्महत्या करने का निर्णय लेते हैं। मगर तरीका क्या हो? इसी उधेड़बुन में एक मित्र इस नतीजे पर पहुँचता है कि मरना ही है तो जिंदगी से लड़कर क्यों न मरें। यही वह बिंदु है जहाँ से दोनों पुनः जिंदगी की दौड़ में सम्मिलित हो जाते हैं।

बलराम अग्रवाल की 'गो-भोजन कथा' एक साथ कई मोर्चों पर खड़ी दिखाई देती है। यह लघुकथा कई तरह के अंतर्विरोध की ओर इशारा करते हुए उत्तरोत्तर संवेदनात्मक रूप से सघनतर होती हुई मानवीय करुणा के एक ऐसे बिंदु पर समाप्त होती है कि पाठक का मन भीग जाता है। इस छोटी सी रचना में कई प्रसंग यादगार बन पड़े हैं। पति इंदर द्वारा बशीर की गाय को पूजने का प्रस्ताव रखने पर माधुरी के मुँह से 'छिः' निकलना एक अक्षर में पूरे युग सत्य का उद्घाटन है। फिर इंदर का यह रस्योद्घाटन कि बशीर की मौत दंगे में इस गाय को बचाते हुए ही हुई थी। हमारी बद्धमूल धारणा पर अचूक प्रहार है। अंत में बशीर के यहाँ गो-भोजन के लिए पहुँची माधुरी द्वारा भोजन सामग्री गाय को खिलाने की बजाय खस्ता हाल जिंदगी जी रही बशीर की गर्भवती बेवा को सौंप देना स्त्री में समाई सहज करुणा का मर्मस्पर्शी बिंदु है जिससे संदेश मिलता है कि जाति और संप्रदाय से भी बड़ी चीज मानवीय संवेदनाएँ हैं। सुरेश शर्मा की 'मानव धर्म' भी मानवता की मिसाल पेश करते हुए 'गो भोजन कथा' के बशीर प्रसंग की तरह मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह को दूर करती है। आज हमारे देश में राख के नीचे सांप्रदायिकता की चिंगारियाँ सुलग रही हैं। राजनेता इसे हवा देने में लगे हैं। यह साहित्यकार बिरादरी ही है जो एकता और भाईचारे के लिए चिंतातुर है। वह अपने लेखन से अनवरत ठंडे पानी के छींटे डाल रही है। लघुकथाकार भी इस मुहिम में अग्रसर हैं। विष्णु प्रभाकर की 'पानी की जाति', फज़ल इमान मल्लिक की 'मुसलमान',

कमल चोपड़ा की 'बाह-बेली', रमेश बतरा की 'सूअर', किशोर काबरा की 'ईद मुबारक', अंबिकादत्त की 'बीच का दिन' लघुकथाएँ हमारी कंडीशंड हो चुकी मानसिकता पर प्रहार करती हैं।

यहाँ सुकेश साहनी की 'मेंढको के बीच' विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो शिल्प की बारीक बुनावट और विचार की ताजगी के चलते सांप्रदायिकता विषयक दसियों लघुकथाओं में अलग ही प्रभाव छोड़ती है। अभी तक यह होता रहा है कि लघुकथाओं में मुसलमान को अच्छा दिखाने के लिए दंगों में हिंदू को बचाते हुए तो हिंदू को अच्छा बताने के लिए मुसलमान की मदद करते हुए दिखाया गया है। परंतु, सुकेश साहनी बहुत आगे जाते हुए मानवीय संवेदनाओं के मामले में जाति या संप्रदाय के प्रश्न को ही खारिज कर देते हैं। वे लघुकथा के माध्यम से यह स्थापना देते हैं कि ऐसा सवाल उठाना भी एक तरह से सांप्रदायिक मनोवृत्ति का द्योतक है। नाले में गिरी गाय को बचाने वाले आदमी के संदर्भ में पिता अपने पुत्र से कहता है, 'बेटा, मुझे इतना ही पता है कि वह एक अच्छा आदमी था... वह हिंदू था या मुसलमान यह जानने की कोशिश मैंने नहीं की, क्योंकि तुम्हारे दादा जी ने मुझे बचपन में ही सावधान कर दिया था कि जिस दिन मैं इस चक्कर में पड़ूँगा उसी दिन आदमी से मेंढक में बदल जाऊँगा।' कहना न होगा कि यहाँ मेंढक सांप्रदायिक मानसिकता का प्रतीक है लघुकथा की सार्थकता इसमें है कि पिता से कहानी सुनने के पश्चात बच्चा मेंढकों से दूर रहने लगता है।

सुभाष नीरव की लघुकथा 'बारिश' यथास्थिति के अतिक्रमण का एक आदर्श उदाहरण है। एक प्रेमी युगल बारिश से बचने के लिए झोपड़ी में शरण लेता है। झोपड़ी का वृद्ध मालिक उन्हें स्थान और अवसर मुहैया कराते हुए स्वयं बाहर निकल जाता है और तेज बारिश में भींगने लगता है। यह देख लड़की रोमानी हो चुके प्रेमी को बाहर खींच लाती है, 'वो बूढ़ा देखो कैसे मजे से बारिश का आनंद ले रहा है और हम जवान होकर भी बारिश से

डर रहे हैं।' दोनों नाचने झूमने लगते हैं। बूढ़े की स्मृति में बचपन घुमड़ जाता है। वह भी लड़के-लड़की के संग-संग बरसती बूंदों को चेहरे पर टपकते हुए थिरकने लग जाता है। इस तरह अंत तक आते-आते यह लघुकथा आनंद और प्रेम का मधुर संगीत बनकर उभरती है। कुछ ऐसा ही प्रभाव अखिल रायजादा की 'पहला संगीत' में हैप्पी बर्थ डे टू यू सुनते हुए पड़ता है। गोद में बच्चा थामे भिखारी लड़की भीख माँगना स्थगित करते हुए कथानायक के पास नया गिटार देखकर कहती है, 'आज मेरे भाई का जन्म दिन है, हैप्पी बर्थ डे बजा दो न।' लोकल ट्रेन के सहयात्री उस समय आश्चर्य में पड़ जाते हैं जब वह गिटार पर धुन बजाता है और भिखारी लड़की का छोटा भाई गोद से उतरकर नाचने लगता है। अगर कथानायक धुन बजाने की बजाए उसे दुत्कार कर भगा देता, या भीख देकर रवाना कर देता तो लघुकथा निष्प्रभ हो जाती। कहने का तात्पर्य यह कि सृजनात्मक चेतना और मानवीय संवेदनाओं से संपृक्त दृष्टिमान लेखक स्थितियों को रेखांकित करने योग्य महत्वपूर्ण रचना में ढाल देता है।

हिंदी कहानी में आज नारी विमर्श काफी हद तक देह विमर्श तक सिमट कर रह गया है। परंतु, लघुकथाओं में कई सचेत लेखकों ने देह के पार जाकर नारी के भीतर समाई उस परिवर्तनकामी शक्ति को पहचाना है जो तमाम रूढ़ियों से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व का एहसास कराने को कटिबद्ध है। इस संदर्भ में 'फूली' (भागीरथ) की फूली, 'श्राद्ध' (अशोक भाटिया) की दायवाती, 'अशुभ दिन' (पवित्रा अग्रवाल) की बहू, 'बहू का सवाल' (बलराम) की भाभी रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ दृढ़तापूर्वक खड़ी दिखाई देती है। ये पात्र केवल अंधविश्वास के विरुद्ध सशक्त नारी स्तर के रूप में मुखरित हुए हैं, बल्कि पुरुषवर्चस्ववादी सड़ी-गली परंपराओं का सफलतापूर्वक अतिक्रमण करते हैं। इसीलिए, इन लघुकथाओं की सार्थकता और भी बढ़ जाती है। मसलन अशोक भाटिया की 'श्राद्ध' लघुकथा में दयावती जिस समझदारी से रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ जो ठोस कदम उठाती है वह

बहुत आश्चर्यकारी है। माँ, पिता जी का श्राद्ध करना चाहती है। नहीं करेगी तो मोहल्ले वाले ताने मारेगे, बापू की आत्मा कोसेगी। दूसरी ओर भाई को दो दिन से तेज बुखार है। पैसे सीमित हैं। इनसे श्राद्ध करें या भाई को बचाए? माँ श्राद्ध के पक्ष में है। किंतु, दयावती दृढ़तापूर्वक कहती है कि भाई को बचाना जरूरी है। वह माँ से चुभता हुआ सवाल करती है, 'ये बता इसमें आत्मा नहीं है?' यह सवाल माँ से नहीं, बल्कि पूरे समाज से है। अंत में दवा की पर्ची लेकर दयावती को मजबूत कदमों से बाहर निकलते हुए बताया गया है जो कि आज की करवट बदल रही नारी के मजबूत इरादों का द्योतक है। इसी प्रकार 'काहे का मरद' (पवित्रा अग्रवाल) की कमलम्मा भी दोहरे स्वर पर संघर्ष करती हुई अपना रास्ता स्वयं तलाशती है। वह अपने मर्द की तानाशाही का मर्दन तो करती ही है, जातिगत ऊँच-नीच को भी दरकिनार कर देती है। जातिगत पाखंड पर करारा प्रहार करते हुए ठाकुरों के होश ठिकाने लगा देने वाली चित्रा मुद्गल की रतिया डोम (नाम) को भला कोई लघुकथा प्रेमी कैसे भूल सकता है।

वस्तुतः जीवन में सब-कुछ सत्यं, शिवम्, सुंदरम् ही नहीं है। जीवन इकरंगा नहीं, बल्कि चटख और धूसर रंगों का मिश्रण है। यहाँ सुख कम और दुख अधिक है। खुशियों का दरवाजा सरलता से नहीं खुलता। इन्हें पाने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। इसके बावजूद हमारे समाज की एक बड़ी आबादी खुशियों से महरूम है। हम जानते हैं कि सच्चे और मेहनतकश लोगों को वह सब हासिल नहीं हो पाता जो इतर हथकंडे अपनाने वाले पा लेते हैं। ऐसी जटिल परिस्थितियों में हम अगर लघुकथा से उम्मीद करें कि वह सिर्फ आदर्शवादी हो, सकारात्मक हो, या सत्यं, शिवम्, सुंदरम् को चित्रित करने वाली हो तो यह इस विधा के साथ ज्यादाती होगी। एकरसता किसी भी विधा के लिए घातक है। विविधता से ही जीवंतता है। जैसा कि प्रारंभ में बेलिन्स्की को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि सार्थक रचना वह होती है जो आपको

बेचैन कर दे, विचारोत्तेजक हो, जो आपके मन में सवाल खड़े करे या किसी सवाल का जवाब हो। जब सवाल खड़े होंगे तभी व्यक्ति उसके जवाब ढूँढ़ने आरंभ करेगा और तभी उसकी जड़ता टूटेगी। इस तरह पाठकों की जड़ता पर प्रहार करने वाली लघुकथाओं को भी यथास्थिति का अतिक्रमण करने वाली रचनाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है। जैसे कि भूपिंदर सिंह की छोटी सी लघुकथा 'रोटी का टुकड़ा।' दरअसल यह लघुकथा जातिवाद के ताबूत में अंतिम कील की तरह है। इस कथा का वह अंश देखिए जब बच्चा भरपेट मार खा लेने के पश्चात भोलेपन के साथ कहता है, 'माँ, एक टुकड़ा उसके घर का खाकर क्या मैं भंगी हो गया?'

‘और नहीं तो क्या?’

‘और जो काकू भंगी हमारे घर पर पिछले दस सालों से रोटी खा रहा है वह क्यों नहीं ‘बामन’ हो गया? बच्चे ने पूछा।’

बच्चा शताब्दियों की आँखों में आँखें डालकर यह सवाल करता है और हम तिलमिलाकर रह जाते हैं।

पारस दासोत की 'सुनो लघुकथा' की मामी बच्चों को कहानी (लघुकथा) सुनाने के पश्चात खुश है कि वे इसे सुनकर बच्चे प्रश्नाकुल हो उठे हैं। प्रश्नाकुलता ही परिवर्तन की ओर पहला कदम है। कई लघुकथाएँ ऐसी हैं जो हमें बेचैन कर देती हैं और हमारी स्मृति का अमिट

हिस्सा बन जाती हैं। जैसे प्रेमचंद की 'बाबाजी का भोग', श्यामानंद शास्त्री की 'धरती का काव्य', रावी की 'भिखारी और चोर', आनंद हर्षुल की 'पहरे पर संतरी', महावीर उत्तरांचली की 'सरहद', आनंद की 'धरोहर', विकेश निझावत की 'उसका दर्द', युगदल की 'नुचे पंखों वाली चिड़िया' आदि। केवल घटना के वर्णन से नहीं, बल्कि उसमें समाहित संवेदना और विचार के प्रभावी संप्रेषण से ही सशक्त लघुकथा सामने आ सकती है। शिल्प भी आवश्यक है, लेकिन शिल्प का घटाटोप न हो। इस दृष्टि से आनंद की 'धरोहर' उल्लेखनीय है। यहाँ शिल्प, संवेदना और विचार का श्रेष्ठ समन्वय है। इसी प्रकार युगल की 'नुचे पंखों वाली चिड़िया' अपनी संवेदनात्मक दार के चलते ही भीतर तक छील देती है। यह केवल स्त्री के दर्द को ही नहीं, बल्कि बेरोजगारी से आजिज आ चुके युवक की मानसिक पीड़ा और ऊहापोह को भी बड़ी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त करती है। साथ ही बहुत बड़ा सवाल खड़ा करती है कि क्यों आजाद भारत में भी एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को अपनी पत्नी की इज्जत किसी होटल में गिरवी रखनी पड़ती है, होटल भी अपने दोस्त की। इससे ज्यादा त्रासद स्थिति और क्या हो सकती है। यथास्थिति का अतिक्रमण करने वाली और भी कई लघुकथाएँ हैं, यहाँ केवल बानगी भर दी गई है। एक विचार दिया गया है कि जहाँ और भी है।

संपर्क : लालमादड़ी (नाथद्वारा)-313301

मो० : 9829588494

## रेणु की राजनीतिक चेतना

- मांगन मिश्र 'मार्तण्ड'

क्रांतिधर्मा राष्ट्रकवि दिनकर का कथन है—

“तुम स्वयं मरण के मुख पर चरण धरो रे  
जीना है तो मरने से नहीं डरो रे!”

समाजवादी लेखक रेणु के समग्र जीवन को गहराई से देखा-समझा जाए तो यही और केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि वे दिनकर के उपर्युक्त कथन को ही जीवन भर जीने का सार्थक उद्देश्य समझते रहे। और ऐसा वे जीवन के पग-पग पर चरितार्थ कर दिखाते भी रहे हैं। खतरों से जूझना, चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार करना, पीड़ितों-शोषितों के लिए मर मिटना तथा आमजन की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझना उनकी जिंदगी बन जाती है और शायद उनकी नियति भी। वे सम-समाज के नाना विध विषमताओं, विसंगतियों के बावजूद रागात्मकता का स्वर बाँधते हैं। आपसी लगाव दिखाते हैं। इसी से उनका समाज आगे बढ़ता है। और यही उनका समाजशास्त्र भी है। उनकी तमाम कृतियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने पर लगभग यही सार ऊभर कर सामने आता है। सच पूछिए तो यही उनकी मूल चिंता भी है। विलगाव का दर्द, पलायन का दर्द, टूटते प्रेम-सौहार्द का दर्द और सबसे बड़ा सांस्कृतिक संकट का दर्द। इस संदर्भ में गजलकार अशोक मिजाज के भिन्न शेर इन दर्दों की सटीक व्याख्या करते दिखते हैं,

“बदल रहे हैं यहाँ सब रिवाज, क्या होगा  
मुझे ही फिक्र है, कल का साज क्या होगा”

वस्तुतः रेणु के जीवन का प्रथम चरण परंपरागत सामाजिक मूल्यों, संस्कारों को समझने और उससे जूझने में बीतता है। दूसरा चरण स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़कर अपना विजन तैयार कर साहित्याकाश में विचरण करता है। और तीसरा चरण उनकी राजनीतिक चेतना का होता है, जहाँ जूझना-लड़ना ही उनका जीवन बन जाता है। इस राजनीतिक चेतना को वे अपनी कृतियों में गंभीरता से स्थान देकर जन-कल्याणार्थ सुलभ भी कराते हैं। और यही साहित्य का धर्म व उद्देश्य भी होता है— ‘सत्यं-शिवं-सुंदरम्’।

अररिया जिला के औराही हिंगना में 4 मार्च 1923 ई० को फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म एक मध्यमवर्गीय किसान पिता शिलानाथ मंडल के यहाँ होता है। भरा-पूरा परिवार है। पिता का स्वप्न है कि वह खूब पढ़-लिख कर उच्चाधिकारी बनें। फलतः शिक्षा प्राप्त करने के लिए रेणु क्रमशः सिमरबनी, अररिया, फारबिसगंज होते हुए विराटनगर (नेपाल) तक जाते हैं। सिमरबनी में ही उन्हें साहित्यिक गुरु रामदेवी तिवारी ‘द्विजदेवी’ का सानिध्य मिलता है, जो अंत-अंत तक निभता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से कालांतर में वे कविता छोड़ गद्य विधा में आते हैं। 1938 ई० में इसी सिमरबनी में द्विजदेवी जी के मार्गदर्शन में ‘युवक’ की स्थापना होती है और उक्त अवसर पर द्विजदेवी जी की अध्यक्षता में एक कवि-सम्मेलन का आयोजन होता है। तेजस्वी छात्र फणीश्वर मंडल पहली बार फक्कड़पन से अपनी कविता सुनाता है— मैं कवि हूँ अल्हड़ दीवाना...।

रेणु सिमरबनी, अररिया, फारबिसगंज से 9वीं कक्षा तक, विराटनगर के आदर्श विद्यालय से पूर्व



मैट्रिक तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय से येन-केन प्रकारेण मैट्रिक तथा इंटर की परीक्षा पास करते हैं। पढ़ने में उनका मन नहीं लगता है। इससे उनके पिता दुखी होते हैं और उसे अपने कोइराला मित्रों के पास (विराटनगर) पढ़ने भेज देते हैं। वह वहाँ भी मैट्रिक की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। पिता का दुख और बढ़ जाता है, वे लगभग निराश हो जाते हैं। इस अवधि में रेणु की कोइराला परिवार से काफी घनिष्ठता हो जाती है। विशेश्वर प्रसाद कोइराला उस समय बी०एच०यू० काशी में पढ़ रहे होते हैं। जब इनके छोटे भाई पढ़ने के लिए काशी जाने लगे तो रेणु भी उनके साथ काशी जाकर पढ़ने लगते हैं। और वहीं से मैट्रिक तथा इंटर की परीक्षा पास करते हैं। इस दरम्यान वह काशी के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश में पूरी तरह रच-बस जाते हैं। इन संपर्कों के कारण वह हिंदी, नेपाली, बंगला और मैथिली फरटि से बोलने लगते हैं।

सच तो यह है कि उनकी राजनीतिक चेतना बचपनावस्था से ही जड़ जमाने लगती है। 1930 ई० में केवल नौ वर्ष की उम्र में वह वानर सेना के कार्यकर्ता के रूप में चौदह दिनों की जेल-यात्रा करते हैं। लायंस क्लब फारबिसगंज से प्राप्त आर्थिक मदद से वह छात्रों की टोलियाँ बनाकर फारबिसगंज के आस-पास के गाँवों में जाकर प्राकृतिक आपदा झेल रहे लोगों के बीच राहत सामग्री का वितरण करते हैं। तंत्र के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए वह गिरफ्तार भी होते हैं। जब जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल से पलायन कर नेपाल में रहकर भारतीय क्रांति का संचालन कर रहे होते हैं, तब रेणु फकत 21-22 वर्ष की कच्ची उम्र में उनके आजाद दस्ते के लिए राइफल लाने पेशावर तक की साहसिक यात्रा करते हैं। इसी कारण वह जे०पी० और वी०पी० कोइराला का सदैव प्रियपात्र बने रहते हैं। उपर्युक्त घटनाओं को इनके राजनीतिक चेतना का प्रथम अंकुरण तो माना ही जाना चाहिए। महाकवि गेटे उचित ही कहते हैं, “चरित्र संघर्ष में विकसित होता है और बुद्धि एकांत में।”

राजनीतिक चेतना का यह क्रम आगे भी बना रहता

है। 1942 ई० में भारत छोड़ो आंदोलन के फलस्वरूप तीन वर्षों तक वह नजरबंदी में रहता है। इस अवधि में वह भूमिगत होकर भी बुलेटिन लिखने का कार्य जारी रखता है। 1945 ई० में उनकी पहली कहानी ‘बट बाबा’ विश्वमित्र में प्रकाशित होकर प्रशंसित व चर्चित हो जाती है। 1946 ई० में वे विराटनगर जूट मिल (नेपाल) के मजदूर आंदोलन में भागीदारी के कारण गिरफ्तार होते हैं। जूट मिल के मजदूरों का संगठन बनाकर उनके लिए समय-समय पर बुकलेटों का प्रकाशन कर उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। बुकलेट का नाम होता है ‘विराटनगर के मजदूरों का खूनी दास्तान।’ मिल गेट पर सत्याग्रह और हड़ताल जारी रहता है। फिर 1948 ई० में डालमिया नगर के मजदूर आंदोलन में उनकी भागीदारी होती है। पुनश्च पूर्णिया के कुछ जिंदादिल युवक जब ‘आजाद दस्ता’ बनाते हैं, तब रेणु उनका सक्रिय सदस्य बन जाते हैं। पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर रेणु की खूब पिटाई होती है, फिर उन्हें अररिया जेल में डाल दिया जाता है। इस क्रम में अररिया जेल से पूर्णिया जेल होते हुए उनका स्थानांतरण केंद्रीय कारागार भागलपुर में होता है, जहाँ से उनकी भेंट दीक्षा गुरु द्विजदेनी जी तथा साहित्यकार सतीनाथ भादुड़ी से होती है। उनलोगों के सानिध्य में उनकी राजनीतिक चेतना विकसित होने लगती है। उस समय पूर्णिया जिला के फारबिसगंज में (संप्रति अररिया जिला) क्रांतिकारियों का राष्ट्रीय विद्यालय हुआ करता था, जहाँ क्रांति के समर्पित योद्धा तैयार किए जाते थे। इसके संस्थापक एवं मार्गदर्शक महान स्वतंत्रता सेनानी, शिक्षाविद, साहित्यकार, नाटककार, आशुकवि, पत्रकार व संगीतार द्विजदेनी जी ही हुआ करते थे। रेणु भी उस राजनीतिक चेतना-स्रोत ‘राष्ट्रीय विद्यालय’ (आनंद मठ) का सक्रिय सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार द्विजदेनी जी के मार्गदर्शन में उनकी राजनीतिक चेतना पल्लवित-पुष्पित होने लगती है। 1942 ई० के आंदोलन में उनकी पूर्ण सक्रियता जगजाहिर है।

रेणु के जीवन में अनेक राजनीतिक मोड़ आते हैं। समाजवादी मूर्धन्य नेताओं- जयप्रकाश नारायण, डॉ०

लोहिया, एस० एम० जोशी, अशोक मेहता आदि पर उनके क्रिया-कलापों का व्यापक प्रभाव पड़ता है और अंत तक उनलोगों से मित्रता बनी रहती है। नेपाल के कोइराला परिवार से उनकी पारिवारिक घनिष्ठता पूर्व से ही थी। फलतः भारत की आज़दी के बाद 1950 ई० में नेपाल में स्वाधीनता के लिए राजासाही शासन के विरुद्ध जब विद्रोह की आग फैलती है, तब कोइराला परिवार का उसमें कूदते ही रेणु भी उस क्रांति युद्ध में शरीक हो जाते हैं। महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए वे पूर्णिया तथा भारत के अन्य समाजवादियों द्वारा इस क्रांति युद्ध में मदद पहुँचाते हैं। क्रांति का स्वरूप भयंकर था, खूब तोड़-फोड़ हुई, बड़ा खून-खराबा हुआ। विराटनगर में नेपाल रेडियो की पहली स्थापना हुई और सारी दुनिया को नेपाल-क्रांति की विजय-सूचना नियमित रूपेण प्रसारित की जाने लगी। इस सशस्त्र क्रांति में के०पी० कोइराला मिलिट्री गवर्नर हुए तथा रेणु जी नेपाल आकाशवाणी के प्रथम डायरेक्टर जनरल (निदेशक) बनाए गए। देश-विदेश से संपर्क के लिए एक बड़ा ट्रांसमीटर मँगवाया गया। रेणु जी उससे निरंतर क्रांति विषयक उद्घोषणा किया करते। राणाशाही से मोर्चा के लिए गोरिल्ला युद्ध की योजना बनती है। वे युद्ध की रिपोर्टिंग के साथ-साथ एक सक्रिय सैनिक का भी दायित्व निभाते हैं। मुक्ति फौज का संदेश शीघ्रातिशीघ्र तराई से पहाड़ियों के गाँव-गाँव तक पहुँचाना कठिन कार्य था, लेकिन रेणु दिवा-रात्रि खबरों को सिलसिलेवार व्यवस्थित करते। विशेष ध्यान यह रखा जाता कि प्रसारण में ऐसी बात जनता तक न जाए, जिससे मुक्ति फौज से जनता का विश्वास डिंग जाए। क्रांति की धार तेज करने हेतु रेणु 'हिल रहा हिमालय' नामक धारावाहिक रिपोर्टाज लिखते हैं, जो कालांतर में सोशलिस्ट पार्टी द्वारा संचालित 'साप्ताहिक जनता' में प्रकाशित होकर प्रशंसित व चर्चित होता है। इसी हिल रहा हिमालय रिपोर्टाज का पुनर्लेखन 'नेपाली क्रांति कथा' (1978) नाम से हुआ है। रेणु की नेपाली क्रांति कथा पढ़कर इसे और गहराई से समझा जा सकता है।

इससे काठमांडू के राजाओं में खलबली मच गई, उनके होश उड़ने लगे। अंत में, राजाओं तथा कोइराला के बीच संधि होती है और नेपाल के शासन में दोनों की भागीदारी सुनिश्चित होती है। किंतु, रेणु इस संधि से संतुष्ट नहीं होते हैं। वे शोषण के विरुद्ध संपूर्ण विजय चाहने वाले क्रांतिकारी हैं। उनकी भावनाओं को दिनकर के शब्दों में निम्न प्रकार से समझना आसान होगा—

“हम मान गए जब क्रांति काल होता है,  
सारी लपटों का रंग लाल होता है।”

बावजूद इसके रेणु सशस्त्र संग्राम और लेखन कार्य एक साथ करते हैं। वे ऐसे साहित्यकार हैं, जो साहित्य और राजनीति को एक साथ साधते हैं। कलम और बंदूक लेकर एक साथ साहित्य-सृजन करते हैं। ऋषिश्रेष्ठ परशुराम तथा क्रांतिकारी साहित्यकार यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, अज्ञेय और पंजाबी कवि पाश की तरह तत्कालीन बिहार के अकेले रेणु 'अग्रतः सकलं शास्त्रं, पृष्ठतः सशरं धनु' को चरितार्थ कर रहे होते हैं। यानी एक साथ शस्त्र और शास्त्र को साध रहे होते हैं। ऐसे निर्भीक क्रांतिकारी कलमजीवी हैं रेणु। कथनी और करनी को एक साथ पूरी ईमानदारी से बरतने वाले। ऐसे लोग अब कहाँ दिखते...? ऐसे बेजोड़ कलाकार हैं वे। दिनकर के ही शब्दों में कहें तो, “जीवन को कविता या साहित्य में जीवंत बनाकर चित्रित करने से बड़ी कला और क्या हो सकती है।” वस्तुतः नेपाल की मुक्ति के लिए रेणु अपने यौवन का बलिदान कर देते हैं।

उनकी राजनीतिक चेतना चुनाव लड़ने तक पहुँचती है। 1972ई० में आम चुनाव में एक निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में वे चुनाव लड़ते हैं। चुनाव लड़ने से पूर्व पूछने पर वे कहते हैं, “अकेला चना भाड़ न फोड़ सकता मगर जमीन में जड़ जमाकर वह मुट्ठी भर चना तो पैदा कर ही सकता है। अकेला और निर्दलीय होने के कारण मेरी आत्मा मंद नहीं हो जाएगी।” प्रोफेसर व साहित्यकार डॉ० प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' के यह पूछने पर कि आप चुनाव में क्यों खड़े हो गए? तो उनका उत्तर था, “जीतने के लिए नहीं, बल्कि जानने के लिए, लिखने के लिए

खड़ा हो गया हूँ। चुनाव भारतीय जीवन का एक हिस्सा बन चुका है। अतः उसे प्रत्यक्षतः जानने के लिए, लिखने के लिए, लिखने के लिए इन्वॉल्वमेंट आवश्यक है।” उस समय तक रेणु की राजनीतिक चेतना इतनी विकसित हो चुकी होती है कि वे यहाँ के जन और तंत्र, दोनों को बखूबी समझने लगते हैं। बकौल कवि धूमिल के शब्दों में कहें तो, “न जन है न तंत्र है/यहाँ केवल/लोगों का षडयंत्र है।”

बावजूद इसके चुनाव लड़ते हैं और पूर्वानुमान के अनुसार हारते भी हैं। रेणु दूसरों से अलग, एकदम अलग मिज़ाज के व्यक्तित्व हैं। वह चाहे जीवन में हो या फिर साहित्य में, कोई असमानता नहीं। उनकी राजनीतिक सजगता की एक बानगी और...। 1950 ई० में जोगबनी में सोशलिस्ट पार्टी का प्रांतीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें जे०पी०, डॉ० लोहिया, हयात चाँद तथा नेपाल के तमाम शिखरस्थ नेता सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर रेणु लिखित एक प्रहसन का मंचन हुआ था, जिसमें स्वयं रेणु एक किरदार भी निभाते हैं।

रेणु महज एक कथाकार ही नहीं है, अपितु पूंजीवादी, सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध निरंतर संघर्ष की आग प्रज्वलित करने वाले एक अप्रतिम योद्धा हैं, जिन्हें खुद की आहुति देने में कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होती है। 1974 ई० में जे० पी० द्वारा संपूर्ण क्रांति का नारा दिए जाने पर अस्वस्थ रहते हुए भी वे सत्ता की विसंगतियों, विडंबनाओं के विरुद्ध इस आंदोलन में कूद पड़ते हैं। हर मोड़ पर, हर चौराहे पर वे भीड़ का नेतृत्व करते दिखाई देते हैं। नुक्कड़ सभाएँ करते रहे। अपने ओजस्वी व क्रांतिकारी भाषणों से जनता को उत्प्रेरित करते रहे। अब तक आजादी के बाद सजाए स्वप्न भंग हो चुके होते हैं। जनता सारी बातें समझ चुकी है। विकास का सच आधा-अधूरा पड़ा हुआ है। तंत्र मनमानी चल रही है। इसे गजलकाल दुष्यंत कुमार के शब्दों में कहें तो—

“खरगोश बन के दौड़ रहे हैं तमाम ख्वाब  
फिरता है चाँदनी में कोई सच डरा-डरा।”

ऐसी ही विकट स्थिति पूरे देश की हो गई है। मुल्क

की हिफाजत के लिए रेणु कभी अपनी परवाह नहीं करते। आपातकाल लागू होने पर उन्हें जेल में डाल दिया जाता है, यातनाएँ दी जाती हैं, किंतु वे निर्भीक बने रहे। जे० पी० की एक सभा में वे सत्ता की करतूतों से विक्षुब्ध होकर, सरकार से प्राप्त ‘पद्मश्री’ की उपाधि तथा बिहार सरकार के साहित्यकार-कलाकार कोष से प्राप्त तीन सौ रुपये की मासिक वृत्ति लौटा देते हैं। वे पद्मश्री को पापश्री समझने लगते हैं। जोरदार करतल ध्वनि से उपस्थित जन-समूह उनका हार्दिक स्वागत करते हैं। अन्याय व शोषण के विरुद्ध अविरल संघर्ष उनका स्वाभाविक चरित्र बन जाता है। एक रोशनी की उम्मीद लेकर जीने वाले रेणु की जिजीविषा इस संदर्भ में, शाकर विनय मिश्र का स्वप्न, रेणु के संघर्षों में पूरी तरह समा जाता है—

“एक अदद उम्मीद लेकर मैं हूँ रातों के खिलाफ  
रोशनी की जंग जारी है अँधेरों के खिलाफ़।”

आजादी के बाद भारतीय ग्राम्य जीवन में आए बदलाव को गहराई से पहचानते हुए रेणु सामाजिक-राजनीतिक चेतना संपन्न लेखक की तरह उन बदलावों, विसंगतियों और विरूपताओं को अपने कथा साहित्य में एकदम नए अंदाज में रूपायित करते हैं। उनकी राजनीतिक चेतना उनके साहित्य में भी अच्छी तरह महसूस की जा सकती है। साहित्यकार डॉ० बेचन का कथन है, “राजनीतिक विचारधारा के प्रभाव में लिखे गए उपन्यासों में प्रायः बौद्धिकता हावी हो जाती है। कठपुतलियों जैसे चरित्र विकसित हो जाते हैं। किंतु, रेणु के ‘मैला आँचल’ में उनके राजनीतिक पात्र मानवीय सजीवता के साथ जीते हैं। इस उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक मतवाद, पार्टियाँ, संगठन और समस्याएँ मौजूद हैं लेकिन इसके पात्र जीवन के नए पक्षों, सुख-दुख, विश्वास, मान्यताएँ और मर्यादाओं को पूरी वास्तविकता के साथ जीते नजर आते हैं। राजनीति के विषयम क्षण में भी वे आत्मसंयम बरतते दिखते हैं, जो उनकी सफलता मानी जाएगी।” ‘मैला आँचल’ के विषय में कुछ और विद्वानों, साहित्यकारों का मत जानना भी उपयोगी व श्रेयस्कर होगा। साहित्यकार परमानंद श्रीवास्तव का मत है, “कुल मिलाकर तत्कालीन राजनीतिक

परिवेश में वह सब कुछ, इस अंचल के यथार्थ को मूर्त कर दिया है।” प्रसिद्ध क्रांतिकारी साहित्यकार मन्मथनाथ गुप्त इस विषय में कहते हैं, “गोदान के बाद बस एक ही है यह।” बहुत बड़ी टिप्पणी है यह। प्रो० (डॉ०) नलिन विलोचन शर्मा इसे ‘सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास’ कहते हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रोफेसर, पत्रकार व साहित्यकार डॉ० धर्मवीर भारती का मत है, “विद्यापति के मिथिला में एक अभिनव कथा शिल्पी का जन्म हुआ। रेणु ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है।” साहित्यकार जैनेन्द्र का कथन है, “मैला आंचल में रेणु कई मायनों में प्रेमचंद से आगे हो गए हैं।” विचार करें, कितनी गंभीर टिप्पणी है यह। जनकवि नागार्जुन रेणु को हिंदी साहित्य में ‘संघर्ष का प्रतीक’ मानते हैं। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त सभी साहित्यकारों ने ‘मैला आंचल’ की आंचलिकता, उसके नए शिल्प, आंचल की मिट्टी से रागात्मक और निर्व्याज संबंध तथा उनकी राजनीतिक चेतना की भरपूर सराहना की है। यह अलग बात है कि कुछ मत इसके विपरीत भी हैं। पर, इसकी सुगंधि जन-जन तक पहुँच चुकी थी। उनका गद्य प्रायः कव्यात्मक ही है। “गद्य कवीनां निकषं वदन्ति” को चरितार्थ करते हुए। और उनकी खासियत यह है कि वे कभी किसी विचारधारा को खुद पर हावी नहीं होने देते। समय-समाज के सच को, आंचल के यथार्थ को बिना लाग-लेपट के लोगों तक खूबसूरती से स्प्रेषित कर देते हैं। इसी कारण रेणु बाकियों से भिन्न नजर आते हैं। वस्तुतः वे ऐसे मानवतावादी रचनाकार हैं, जहाँ क्रांति और प्रेम एकाकार हो जाते हैं।

रेणु के कई उपन्यासों और कहानियों में राजनीति की बिसात जरूर सजी है, लेकिन समय की जरूरत के हिसाब से। कहीं कोई बलाघात नहीं। ‘जुलूस’ (1965) में संस्कृति के साथ-साथ राजनीतिक परिवेश का सम्यक ताना-बाना बुना गया है। ‘आत्म साथी’ तथा ‘जलवा’ कहानी में आंचल की राजनीतिक स्थिति उजागर हुई है। ‘कितने चौराहे’ (1966) में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हक-हकूक के लिए राजनीतिक संघर्ष का सजीव चित्रण

है। अन्य कई कथा साहित्य में भी जरूरत के हिसाब से उनकी राजनीतिक चेतना दिखाई देती है।

रेणु न केवल राजनीति में भाग लेते हैं अपितु संसर्ग में आए हुए राजनीतिक पात्रों का बड़ी सजीवता से अपने साहित्य में चित्रण करते हैं। पूर्णिया जिला के सोशललिस्ट नेता के रूप में उनकी राजनीतिक सक्रियता, उन्हें पूर्णिया जिला के जन-जीवन को बहुत नजदीक से देखने-समझने का अवसर प्रदान करती है। नेपाल क्रांति में कोइराला परिवार से जुड़ते हैं। अनेक संघर्षशील व्यक्तित्व से उनका संपर्क होता है। 1949 ई० में ‘नई दिशा’ साप्ताहिक पत्र का संपादन और प्रकाशन राजनीतिक चेतना का ही विस्तार है। इसी कारण ग्राम्य जीवन का यथार्थ, उनके संघर्ष, लोक-राग, लोक-चेतना तथा राजनीतिक चेतना की धारा उनके साहित्य में निर्बाध लगती है। वे राजनीति को कभी साहित्य से अलग नहीं समझते। इसे साहित्य का अविभाज्य अंग ही समझते रहे। फलतः जहाँ भूमिहीनों और भू-स्वामियों के संघर्ष की चेतना के साथ ही क्रांतिकारी चेतना उनके साहित्य में आती है, वहीं डॉ० प्रशांत जैसे शिक्षित युवक के माध्यम से सामंतवाद के विरुद्ध जनसंघर्ष को संगठित करने का अवसर भी सुलभ होता है। उनके अनेक मित्र तथा समाज के संघर्षशील व्यक्तित्व उनकी कहानियों, उनके उपन्यासों के जीवंत पात्र बनते हैं। इस तरह वे समय, समाज के यथार्थ को, उनके चरित्रों को, उनके राजनीतिक व क्रांतिकारी विचारों को साहित्य-सृजन का अपरिहार्य अंग बना देते हैं। वे एक साथ लेखक और समाजवादी क्रांतिकारी हैं।

जे० पी० आंदोलन के क्रम में सितंबर 1974 ई० में रेणु जब गिरफ्तार होकर पूर्णिया जेल आते हैं तो वहाँ सर्वोदयी नेता बैद्यनाथ चौधरी के साथ जेल के एक ही कमरे में रहने के कारण आत्मीय संबंध बन जाता है। उस समय रेणु जेल में ही कई राजनीतिक रेखाचित्र बनाते हैं। गांधी की दांडी यात्रा, आपातकाल में जे० पी० गिरफ्तारी, पुलिस बर्बरता आदि के रेखाचित्र इनमें प्रमुख हैं। इन रेखाचित्रों का बनना भी, उनकी राजनीतिक चेतना का ही साक्ष्य है। किम अधिकम!

## आलेख

गिरते स्वास्थ्य के बावजूद रेणु सक्रिय राजनीति, सक्रिय आंदोलन व संघर्ष में जीवन के अंतिम क्षण तक तन-मन-कर्म से जुड़े रहते हैं। इतिहास गवाह है कि भारत और नेपाल में लोकतंत्र की स्थापना हेतु हिंदी लेखकों की पट्टी से रेणु सदैव अग्रिम पंक्ति में खड़े रहते हैं। निःसंदेह वे न केवल एक लेखक हैं, अपितु लोकतंत्र के सच्चे प्रहरी और समर्पित स्वतंत्रता सेनानी भी हैं। यह कहने में कोई संकोच नहीं होता है कि रेणु के साहित्यकार में उनकी राजनीतिक चेतना मन-प्राण-कर्म के साथ पूरी निष्ठा से समाई हुई है।

अंत में, साहित्यकार सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के कथन को उद्धृत करना समीचीनी लगता है, “जब भी भारत

में लोकतंत्र की विजय को याद किया जाएगा, हिंदी लेखकों में अकेले रेणु ऐसे लेखक होंगे, जो सबसे ज्यादा याद आएँगे। उनके निधन से न केवल एक कला शिल्पी उठ गया है, बल्कि एक ऐसा व्यक्ति उठ गया है, जो अन्याय की हर चुनौती में सबसे आगे खड़ा दिखता था।” मुझे लगता है कि रेणु का शरीर भले ही हमारे साथ न हो, किंतु उनके सृजन की निरंतर यात्रा आज भी जारी है। उनके सृजन की खुशबू जनजीवन में चतुर्दिक फैलकर हमें आह्लादित व अनुप्राणित कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

### सन्दर्भ सूची

#### रेणु रचनावली (संपादक : भारत यायावर)

1. मैला आँचल, पृ० सं० 21-308, खंड-2
2. जुलूस, पृ० सं० 109-230, खंड-3
3. कितने चौराहे, पृ० सं० 231-318, खंड-3
4. आत्म साक्षा। पृ० सं० 399, खण्ड-1
5. जलवा पृ० 460 खंड 1
6. नेपाली क्रांति कथा, पृ० सं० 191-250, खंड-4
7. आज (साहित्य विशेषांक 1958)
8. रेणु विषयक विशेष वार्ता : विद्यासागर गुप्त, जगदीश मिल, फारबिसगंज से

संपर्क : प्रधान संपादक ‘संवदिया’

फारबिसगंज (अररिया), बिहार, मो० : 9973269906



## सुमित्रानन्दन पंत की आलोचना दृष्टि

- डॉ० नागेश्वर यादव

हिंदी आलोचना के विकास-क्रम को समझने के लिए उन कवि समीक्षकों के योगदान को नजरअंदाज नहीं कर सकते, जिन्होंने घोषित रूप में आलोचना-कार्य तो नहीं किया है, किंतु अपनी काव्य-कृतियों की मूल संवेदना एवं शिल्प को स्पष्ट करने के प्रसंग में कुछ सीमित अर्थों में आलोचक की भूमिका का निर्वाह अवश्य किया है। जब कोई कवि नई विचार धारा के साथ काव्य-जगत में पदार्पण करता है तो उसकी काव्य रचना को लेकर अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी और प्रशंसापरक चौंकाने वाले तथ्य सामने आते हैं। परिणाम स्वरूप कवि का अभिव्यक्त विचार, दर्शन और मूल्य उस अर्थ में पाठक तक संप्रेषित नहीं हो पाता है, जिस अर्थ में उसने अपने काव्य-वैभव से अपेक्षा की थी। अक्सर आलोचकों की इस भ्रांत विचार-प्रणाली को देखकर कुछ कवि अपने ऊपर नैतिक दबाव महसूस करते हुए आलोचक की भूमिका में उतरने के लिए बाध्य होते रहे हैं, ताकि वे पाठक और काव्य-मर्मज्ञ को सीधे-सीधे अपने काव्य-वैभव से जोड़ सकें। हिंदी साहित्य में यह परंपरा छायावादी कवियों से आरंभ होती है। हिंदी साहित्य के पाठक इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं कि शैशवावस्था से ही जितना व्यंग्यबाण छायावाद को सहन करना पड़ा है उतना शायद ही किसी अन्य काव्य धाराओं को सहन करना पड़ा हो। कभी इस काव्य को विलायती संस्करण और पराश्रित काव्य कहा गया, तो कभी जीवन से पलायन कर नारी के अंक में रहस्यमयी सत्ता के अभिजात वर्गीय गीत के रूप में पेश किया गया, जिसमें युग-जीवन के स्पंदन का सर्वथा अभाव है। अपने वादों को प्रतिष्ठित करने, अपने विचार-दर्शन तथा काव्य के शिल्प पर औचित्यपूर्ण विवेचन-विश्लेषण करने और आलोचकों को यथोचित जवाब देने की प्रवृत्ति ने ही इन कवियों को समीक्षक बना दिया। इस संदर्भ में पंत जी की आत्म स्वीकारोक्ति द्रष्टव्य है- “पल्लव, आधुनिक कवि, उत्तरा तथा चिदंबर की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग कर्दम के प्रवर्तों को लाँघकर, काव्य-भावना के रथ को आगे बढ़ाने के लिए, कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है।” (साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ०सं० 66)

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि पंत जी ने आलोचना के लिए आलोचना नहीं लिखी है, अपितु इनकी आलोचनाएँ इनकी कविता के अंदर से होकर आने वाली जीवंतता और शक्तिमत्ता को खोलने वाली एक उत्तरदायित्वपूर्ण संरचना है। पंत जी का अधिकांश आलोचना कर्म उनकी काव्य-कृतियों की भूमिका में उन संकेत सूत्रों के रूप में प्रकट हुआ है, जिसके आधार पर विद्यार्थी और काव्य-मर्मज्ञ पूर्वाग्रह रहित होकर सीधे-सीधे उनके विचारों से जुड़ने में सक्षम हो पाते हैं। इसी अर्थ में पंत जी को आलोचक या कवि समीक्षक मान सकते हैं, अन्यथा वे शुद्ध रूप से कवि हैं। पंत जी के आलोचक व्यक्तित्व को उद्घाटित करने वाली कृतियों में **गद्य पथ, साठ वर्ष : एक रेखांकन, छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, शिल्प और दर्शन, आधुनिक कवि, पल्लव, युगान्त, उत्तरा, चिदंबर** की भूमिकाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। यों तो पंत जी ने अपनी सभी काव्य कृतियों की भूमिका में काव्य-कला संबंधी अपने विचार व्यक्त किए हैं, किंतु उनमें **पल्लव** और **युगान्त** की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी **‘पल्लव’** की भूमिका को छायावाद का घोषणा-

पत्र और 'युगान्त' की भूमिका को छायावाद का अंत के रूप में देखा जाता है। इनमें कवि ने भाषा, अलंकार, छंद आदि के अर्थ, स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इनकी महत्ता पर विचार किया है। इसी क्रम में उन्होंने परंपरागत काव्य भाषा के रूप में प्रयुक्त ब्रजभाषा की कमियों को उजागर करते हुए नवीन भाव बोध से समन्वित रचना को मूल्यांकित करने के लिए समालोचना को समयानुकूल रूपांतरित करने की माँग की है। "रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गए... जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपांतर न हो वह विश्वभारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुदित हो जाए, तब तक हिंदी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकता।" (पल्लव ... पृ.सं. 49) काव्य के वस्तु एवं शिल्प संबंधी जो विचार पंत जी द्वारा अभिव्यक्त किए गए हैं उन्हीं के आलोक में उनके आलोचकीय दृष्टि को विधिवत और क्रमबद्ध तरीके से समझने-समझाने की दिशा में कार्य करना प्रस्तावित शोध आलेख का विनम्र प्रयास है।

छायावादी काव्य जिस नवीन भावधारा को लेकर साहित्य जगत में उपक्रित हुआ था, उसके लिए नवीन अभिव्यंजना शिल्पों का होना भी अनिवार्य था। सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति न तो परंपरित भाषा, छंदों, प्रतीकों और उपमानों से संभव था न ही उनका मूल्यांकन प्राचीन काल से चली आ रही काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों के दायरे में संभव था। पंत जी काव्य-सौंदर्य के सच्चे पारखी और मर्मज्ञ ही नहीं हैं, अपितु अपने समय के सवालियों को बड़ी गहराई से सुनने और समझने वाले साहित्यकार रहे हैं। उनके मन में तर्कों के बादल हमेशा उड़ा करते थे कि गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए और वह भी जन समुदाय की भाषा। उनके अन्य समकालीन कवियों ने ब्रजभाषा की गलियों से होकर हिंदी के प्रांगण में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई थी जबकि पंत जी सीधे खड़ी बोली हिंदी की अंगुली पकड़कर काव्य रचना के क्षेत्र में पदार्पण किए थे। इसीलिए वे काव्य-भाषा के रूप में एक ऐसी भाषा की तलाश कर रहे थे जो अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति

में इतनी सक्षम हो कि समूचे जन-गण के हर्ष-विषाद, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, नूतन-पुरातन मानवजाति की सभ्यता का उत्थान-पतन सब कुछ को चित्रित कर सके। वह भाषा होते हुए भी राष्ट्र की महिमा से मंडित हो, सिर्फ पुस्तकों की नहीं अपितु सच्चे अर्थों में मनुष्यों की भाषा हो। जिसमें देशवासी हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते-झगड़ते, गले मिलते और साँस लेते हों। इसीलिए, वे वयोवृद्ध ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली हिंदी को काव्य-भाषा के रूप में अपनाने की पैरवी करते हैं। उनके अनुसार ब्रजभाषा में वह क्षमता नहीं कि वह आधुनिक जीवन की संपूर्ण गतिविधियों को वाणी प्रदान कर सके, दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक आदि को समेट सके। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं—

“ब्रज भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल छाया में, सौंदर्य का कश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों..., पर उसका वक्ष स्थल इतना विशाल नहीं कि इसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध, जल स्थल, अनिल, आकाश, ज्योति, अंधकार, वन, पर्वत, नदी, घाटी, नहर, खाड़ी, द्वीप, उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, उष्ण-शीत प्रधान वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, विविध प्रदेशों की जलवायु, आचार-व्यवहार... सब कुछ समा सके।” (पल्लव, प्रवेश, पृ.सं. 23)

उपर्युक्त उद्धरण एक और पंत जी को उन राष्ट्र-प्रेमियों से जोड़ता है, जो अंग्रेजों की दासता से मुक्त होने के लिए एक ऐसी भाषा की तलाश कर रहे थे जिस भाषा के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को आसानी से सभी देशवासियों तक पहुँचाने में सहायता मिलती, तो दूसरी ओर भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी सरीखे हिंदी भाषा-संस्कृति के उन्नायकों से जो देश के जर्ने-जर्ने से प्रेम करते हुए राष्ट्रीयता की भावना को जन-चेतना से जोड़ना चाहते थे। पंत जी को इस बात का भी आभास था कि खड़ी बोली हिंदी में अभी वह अभिव्यंजना शक्ति

नहीं आ पाई है कि वह एका-एक ब्रजभाषा को काव्य-सिंहासन से पदच्युत कर सके। अभी वह ‘पत्रं-पुष्पम’ से सुसज्जित नहीं अपितु केवल ‘बाल पल्लव’ के रूप में साहित्याकाश में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, गुप्त आदि भाषा किकर आलोचकों एवं सुकवियों के सार्थक प्रयास ने उसे रूप-रंग और वैभव प्रदान कर एक शक्तिशाली एवं परिनिष्ठित भाषा के रूप में खड़ा कर दिया था। ‘होनहार बिरवान के होत चीकने पात’ को चरितार्थ करती हुई खड़ीबोली रूपी ओजस्विनी कन्या साहित्य और जन-गण की भाषा बनने के योग्य है। पंतजी तत्कालीन खड़ी बोली हिंदी का शब्दचित्र कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं— “आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत है। उसका कोशिर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छूट गए..., वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया, पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई, वह विपुल विस्तृत हो गई, हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई, चारों दिशाओं से त्रिविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे... विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल पर स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है।” (पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ 16)

यह सत्य है कि द्विवेदी युग में खड़ी बोली काव्य-भाषा के पद पर आसीन तो हो गई थी, परंतु उसमें वह मृदुलता और कोमलता न थी जो ब्रजभाषा में थी। साथ ही द्विवेदी जी की भाषा संबंधी आदर्श मान्यताएँ तत्कालीन कवियों को अपनी रचनाओं में संगीतात्मकता और गेयता के अनुरूप शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की छूट पर पाबंदी लगा रखी थी। परिणाम स्वरूप संगीतात्मकता और नाद के अभाव में खड़ी बोली हिंदी कुछ कर्कश और रुक्ष होते जा रही थी। यही कारण है कि नवीन काव्य धारा के रूप में उदित छायावादी कवियों ने परंपरागत काव्य-रुढ़ियों और शैलीगत परंपराओं को न अपनाकर अपना मार्ग स्वयं बनाने का आग्रह प्रकट करते रहे। इसका एक

दूसरा पहलू यह है कि चूँकि छायावाद अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म और बाँग्ला के रबीन्द्रनाथ की गीतांजलि का प्रभाव ग्रहण कर हिंदी में आया था। संभवतः इसलिए छायावादी कवियों ने रोमांटिक कवियों की तरह अपने पूर्ववर्ती युग के कवियों द्वारा व्यवहृत भाषा के विरुद्ध आवाज उठाई। उन लोगों ने खड़ी बोली हिंदी को एक ऐसी काव्य भाषा के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिसमें कोमलता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता और संगीतात्मकता हो। सूक्ष्म-साम्य योजना, नूतन प्रतीकों और संगीत-ताल-लय आदि का जो उनकी कविताओं में विधान किया गया है वे उनके इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। पंत जी ने शब्दों में निहित अर्थ की अंतरात्मा को पहचान कर कविता में उसका प्रयोग करने पर बल दिया है। कवि को शब्द की आत्मा का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए कि यदि एक ही पंक्ति में . . . . . , वीची आदि शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं तो उनका अर्थ एक समान नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न होगा। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं— “भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं— ‘लिहोर’ में उठान, ‘लहर’ में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कंपन, तरंग में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है, ‘वीची’ से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूमती हुई हँसमुख लहरियों का, ‘उर्मि’ से मधुर मुखरित हिलोरो का, हिल्लोल-कल्लो से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ.सं. 29)।

तात्पर्य यह कि पंत जी कविता में सटीक भावों के लिए सटीक शब्दों की योजना पर जोर देते थे इसके लिए वे व्याकरण के निश्चित विधानों का अतिक्रमण करने में भी परहेज नहीं करते थे। इसे परिस्थिति की माँग समझें या नवीनता की ललक किंतु, इतना तय है कि पंत जी ने भाषा के अनगढ़ एवं कर्णकटु शब्दों को अपने हृदय के साँचे में ढालकर कोमल एवं सुकुमार बनाया है तथा

खड़ी बोली की खड़खड़ाहट को दूर कर उसमें सरलता और सुबोधता का संचार किया है। विविध प्रकार के शब्दों को कोमलता एवं सुकुमारता का बाना पहना कर उनका कविता में ऐसा प्रयोग किया है कि वे सभी मिलकर रस की धारा बहाने लगते हैं। कविता में प्रयुक्त शब्द के अर्थ किस प्रकार से भाव में एकाकार हो जाते हैं, उस पर विचार करते हुए पंत जी लिखते हैं— “जिस प्रकार संगीत के भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते; यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिंधु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते हैं, उनकी लंगड़ाहट में गति आ जाती है, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 32) पंत जी ने अपने इसी प्रयास में कण, फण, मरण, उडुगण, अन्वेषण आदि के स्थान पर कन, फन, मरन, उडुगन, अन्वेषन आदि लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। इस क्रम में उनकी बादल कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

“धूम धुँआरे, काजर-कारे हम ही विकरारे बादर।/मदनराज के वीर-बहादर, पावस के उड़ते फणिधर।” इसमें कवि ने कोमलता लाने के लिए काजल, काले, विकराले बादल और बहादुर शब्दों के स्थान पर क्रमशः काजर, कारे, विकरारे, बादर बहादुर शब्दों का प्रयोग किया है।

पंत जी के अनुसार भाषा में परिवर्तन उसके क्रमिक विकास का प्रतीक है, जो स्थान, काल और भौगोलिक परिस्थिति के अनुरूप होते रहता है, परंतु कवि को कविता के लिए चित्र-भाषा का चुनाव करना जरूरी है, जो राग, आकर्षण और स्फूर्ति के तत्वों से युक्त होती है। कविता में शब्दों का ऐसा प्रयोग जिसके उच्चारण मात्र से ही उसका अर्थ सहृदय को आह्लादित कर दे, अमूर्त भावों को ध्वनि संक्तों के द्वारा आँखों के सामने चित्रित कर दे। यह तभी संभव होता है जब कवि अभिव्यंजना के

महत्व को स्वीकार करता है। भावनाओं का आवेग और विचारों की आँधी तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय-मस्तिष्क को आंदोलित करती रहती हैं, किंतु जब तक उनकी अभिव्यंजना नहीं होती, उनका कोई अस्तित्व नहीं होता है। विचारणीय प्रश्न यह है कि भाव, विचार और दर्शन के अनुसार अभिव्यंजना के स्वरूप में परिवर्तन होते रहता है ऐसी स्थिति में अभिव्यंजना का मानक स्वरूप क्या होना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए पंत जी लिखते हैं कि — “यदि एक कलाकार स्वानुभूतियों एवं स्वसंवेदनाओं को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि वे ही अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ पाठक-हृदय को परिचालित कर दे तो वही उसकी सफलता की चरम चोटी है।” (छायावाद की अभिव्यंजना प्रणाली, निबंध से, पृ०सं० 46) अक्सर देखा गया है कि उदात्त विषय की गंदी अभिव्यंजना की छाया से कलुषित बन जाता है और महत्वहीन विषय भी कमनीय अभिव्यंजना के परिधान से सहज ही रमणीय एवं आकर्षक बनकर श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि करता है। इससे काव्य में अभिव्यंजना की महत्ता को समझा जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पंत जी ने भाषा की लघुत्तम इकाई ध्वनि से लेकर वाक्य संयोजन तक में स्वरैक्य स्थापित करने का प्रयास किया है। ध्वनि-चित्रण में तो व्यंजनों का ही प्राधान्य रहता है, परंतु जहाँ-जहाँ भावना की अभिव्यक्ति अथवा गति आदि तस्वीर खींचनी होती है वहाँ पंत जी स्वरों पर ही अधिक निर्भर रहते हैं— “इसका कारण यह है कि काव्य-संगीत के मूल तंतु स्वर है न कि व्यंजन! और भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण एवं उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 38) अर्थात् वे स्वर संगीत की रक्षा करते हुए उसके यथोचित संकोच द्वारा ध्वन्यात्मकता लाने के पक्षपाती हैं।

इसीलिए पंत जी अपने पूर्ववर्ती कवियों (विशेषकर रीतिकालीन) द्वारा प्रयुक्त अलंकार विधान, जो स्वरैक्य लाने के उद्देश्य से किया गया है, उससे असहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं— “जहाँ भाव और भाषा में मैत्री

अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल बटु समुदाय ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनाई देते हैं। ..... अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 31)

गौरतलब है कि पंत जी काव्य में अलंकारों के विरोधी नहीं थे, अपितु वे भी उसे अभिव्यंजना प्रणाली का प्रमुख साधन मानते थे। परंतु, उनके अनुसार “अलंकार केवल वाणी की सजावट नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 31) आशय यह कि रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार काव्य के बाह्य सौंदर्य को तो चमत्कारपूर्ण ढंग से उपस्थित करते हैं, परंतु उनकी ध्वन्यात्मकता में वह स्वाभाविकता नहीं जो सहृदय पाठक को आकृष्ट कर सके। पंत जी भाषा को संप्रेषणीय और आकर्षक बनाने के लिए एक ओर पाश्चात्य जगत में प्रचलित मानवीयकरण, विशेषण विपर्यय जैसे अलंकारों का प्रयोग करते हैं, तो दूसरी तरफ भारतीय काव्य शास्त्रियों द्वारा उद्भावित रूपक, उपमादि अलंकार को नए रूप में प्रयोग करते हैं।

पंत जी के मानस में खड़ी बोली हिंदी का जो रूप अंकित था वह गद्य और पद्य दोनों में युग-जीवन को वाणी प्रदान करने की कुव्वत रखती थी, देश के वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल, धर्म-दर्शन, इतिहास-भूगोल, ज्योतिष, विज्ञान आदि के रास्ते आधुनिक सभ्यता का निर्माण करने वाली थी। आधुनिक सभ्यता के विशद यान पर सवार होकर विश्वव्यापी उत्थान, पतन, देशव्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष विषाद, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों को एकाकार करने वाली थी। उन्हीं के शब्दों में “समस्त भारत की हृत्कंपन है, देश की शिरोपशिराओं में नवजीवन संचारिणी संजीवनी

है; वह हमारे भगीरथ प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य विधाता की वरदान स्वरूप, विश्व कवि की हृत्कमण्डलु से निस्त अमृत स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कर्ण कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्णयान, आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किए, धर्म और ज्ञान की निर्मल पालों को फहराता हुआ... संसार के विशाल सागर संगम की ओर अग्रसर हो रहा है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 25-26)

भाषा का स्वरूप एवं महत्व स्थान एवं काल के अनुरूप भिन्न-भिन्न होने के बावजूद भी वह अपनी जातीय पहचान और सभ्यता के क्रमिक विकास के लक्षणों को समेटे रहती है। भाषा अपने नादमय चित्र और ध्वनिमय स्वरूप में संसार को वाणी प्रदान करते हुए अपना पद चिह्न छोड़ जाता है। यह चिह्न दो रूपों में प्रतिबिंबित होता है— एक नित्य सत्य और दूसरा अनित्य सत्य के रूप में। नित्य सत्य चिरस्थायी होता है, जबकि अनित्य सत्य क्षणिक और अस्थायी। सभ्यता के विकास के साथ-साथ पुराने मिटते और उसके स्थान पर नवीन स्थापित होते रहते हैं। इसका महत्व इस दृष्टि से है कि अपने सद्यः स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंश को वाणी देता है। “वही नाद उस युग के वायुमंडल में गूँज उठता, उसकी हृत्तंत्री से नवीन छंदों में, नवीन राग-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठा, नवीन युग के लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पंदन, कंपन तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात बसंत के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 26)

इस प्रकार भाषा का परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बनकर उसके स्वरूप में निखार लाता है, नवीन स्फूर्ति और स्पंदन लाता है। इसी को पंत जी ने ‘युग के खंडहर पर बिखरा हुआ अपनी युगानुकूल वाणी का ईषत स्वर्णिम प्रकाश कहा है।’ (युगवाणी, दृष्टिपात, पृ०सं० 4) यह जनता के हृदयगत संस्कारों, विचारों, प्रवृत्तियों और दैनिक क्रिया-कलापों से ठीक वैसे ही जुड़



जाति हैं जैसे बादल से बिजली। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि भक्तिकाल से लेकर द्विवेदीयुग के पूर्व तक ब्रजभाषा साहित्य की भाषा नहीं रही, किंतु परिस्थिति एवं युग की माँग के अनुरूप खड़ी-बोली भाषा के विभिन्न तत्वों वर्ण, शब्द, छंद, अलंकार आदि में काट-छाँट करके अपने स्वरूप में निखार लाने का आग्रही है।

यहाँ एक बात का उल्लेख करना नितांत आवश्यक है कि जैसे-जैसे पंत जी के विचारों में परिवर्तन होते रहा है वैसे-वैसे उनके शिल्प में भी बदलाव आता गया है। वे अपनी प्रारंभिक रचनाओं में वाणी को सजाने, सँवारने एवं सरस बनाने में जितना तल्लीन दिखते हैं, जीवन की कठोर धरातल पर उतरते ही वे बेपरवाह हो जाते हैं। वे न तो वाणी का शृंगार चाहते हैं, न ही उन्हें अधिक शब्दों की जरूरत पड़ती है, अपितु वे संकेतों एवं प्रतीकों के माध्यम से युग की धड़कन, उसकी सिहरन और स्पंदन को रूपायित करते हैं। ‘खुल गए छंद के बंध’, तथा ‘वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार’ जैसी पंक्तियाँ उनके इसी विचारधारा को प्रतिफलित करती हैं। वे स्वयं लिखते हैं— “पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौंदर्य की पुष्टि करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा अधिक बुद्धि गर्भित हो जाने के कारण मेरी अलंकारिकता अभिव्यंजनाजनित हो गई है।” (आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 8-9)

पहले तो पंत जी भारतीय काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित छंदों में से कुछ छंदों को ही खड़ी-बोली की प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल मानते हैं। तथा काव्य में छन्दों का प्रयोग कवि की रुचि विशेष पर निर्भर होने की बात करते हैं। इस तथ्य का खुलासा करते हुए वे लिखते हैं— “प्रत्येक कवि के अपने विशेष छंद होते हैं जिनमें उसकी छाप सी लग जाती है, जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी-बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदे, स्नेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता

मिली है। ... कवित्त छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का और सजात नहीं, पोष्य पुत्र है, न जाने यह हिंदी में कहाँ से आ गया।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 36-37) इतना तो तय है कि पंत जी ने अपनी रचनाओं में जहाँ भाषा को भावानुकूल डाला है, वहाँ छंदों को भी संगीत के ढाँचे में ढालकर भावानुकूल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। अपनी इस कठोर साधना और प्रयास की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं— “छंदों को अपनी अँगुलियों में नचाने से पूर्व कवि को छंदों के संकेतों पर नाचना पड़ता है, सरकस के नवीन अदम्य अस्वों की तरह उन्हें साधना, उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है... उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छंदों के तारों, परदों तथा तंतुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने से पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार के निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 36)

इतना ही नहीं वे छंदों की सफलता हेतु राग एवं तुक के उचित नियोजन पर जोर देते हैं। राग को वे ध्वनि-लोक की कल्पना मानते हुए कहते हैं कि जो कार्य भाव जगत में कल्पना करती है, वह कार्य शब्द जगत में राग। परंतु, दोनों अभिन्न हैं। सच पूछे तो पंत जी की छंद-योजना अत्यंत व्यापक होने के बावजूद भी उनके प्रत्येक छंद में राग की एक धारा विद्यमान रहती है। यदि कहीं शब्दों की कड़ियों में असंबद्धता दिखाई भी देती है तो उसे वे तुक, राग एवं लय से भर देते हैं। इस कथन की पुष्टि में उनका निम्नलिखित मत द्रष्टव्य है— “जिस प्रकार जलौध पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मंद गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार छंद भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है। (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 43)

ध्यान देने वाली बात यह है कि पंत जी ने निराला

जी द्वारा प्रयुक्त मुक्त छंद की आलोचना इसी कमी के कारण की थी। अन्यथा पंत जी भी मुक्तक छंद को कवियों की दृष्टि से उपयुक्त माना है। क्योंकि, इसमें भाव तथा भाषा के सामंजस्य निर्वाह में कवियों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं- “उनके कुछ शब्द बंगला की तरह अक्षर मात्रिक राग पर, कुछ हिंदी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता है।” (पल्लव, प्रवेश, पृ०सं० 44)

इसी प्रकार पंत जी खड़ी-बोली हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बड़ी सोत-समझ कर करने की सलाह देते हैं, अन्यथा कविता का स्वर शिथिल होने का भय सदैव बना रहता है। जहाँ तक संभव हो सके हिंदी की संयुक्त क्रिया ‘है’ का प्रयोग नहीं करना ही वे श्रेयस्कर मानते हैं।

पंत जी ने सिर्फ काव्य के शिल्प पक्ष पर ही प्रकाश नहीं डाला है, अपितु अपने तथा अपने समकालीन कवियों की काव्य-संवेदनाओं पर भी यत्र-तत्र विचार किया है, जिनमें उनका प्रखर आलोचकीय दृष्टिकोण प्रस्फुटित हुआ है। उन्होंने ‘आधुनिक कवि’ नामक कृति में अपने काव्य के अंतरंग पक्ष का विवेचन बड़ी कश-म-कश की स्थिति में किया है। आरंभ में ही वे स्वीकार करते हैं कि “मैं अपने यत्किंचित साहित्यिक प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था किंतु, साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। संभव है, मैं अपने काव्य की आत्मा को स्पष्ट और सम्यक रूप से पाठकों के सामने न रख सकूँ पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी।” आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 01)

यहाँ पंत जी का कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है क्योंकि, कवि और समीक्षक दो भिन्न भाव-भूमियों पर साहित्य-सर्जन में प्रवृत्त होते हैं। कवि के लिए भाव और कल्पना अमूल्य साधन होता है, जबकि आलोचक के

लिए ज्ञान-गरिमा, सूक्ष्म पर्यालोचन और तर्क प्रधान कारयित्री प्रतिभा। किंतु, कभी-कभी यह भी देखा गया है कि कवि सिर्फ अनुभूतियों का गायक ही नहीं होता, बल्कि एक सजग द्रष्टा भी होता है। उसके भाव, विचार, दर्शन और आस्थाएँ युगबोध के सार तत्वों को समेटकर सिद्धांत का रूप ले लेते हैं। बशर्ते कि उन सिद्धांतों में कवि की ईमानदारी व्यावहारिक स्तर पर झलकती हो।

‘वीणा’ से लेकर ‘पल्लव’ तक आते-आते किस तरह उनकी विचारधारा प्रकृति के प्रति अगाध मोह का परित्याग कर जीवन के कठोर धरातल पर संचरण करने लगते हैं, उसका शब्द चित्र उन्हीं के शब्दों में कुछ इस प्रकार है- पल्लव और गुंजन काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौंदर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की परिवर्तन कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। पंत जी के ऊपर अकसर आलोचकों के द्वारा यह आक्षेप लगाया जाता रहा है कि उनकी कविताओं में सुंदरम और शिवम से भी बड़ा लक्ष्य सत्यम का बोध नहीं होता है, और साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। इसके उत्तर में कहते हैं कि- “यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुख की सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे उपर उठने की चेष्टा की है। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग, फूल में जीवनोपयोगी रस, और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुंदरम् की परिणति शिवम में सत्य के ही द्वारा होती है।” (आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 06)

लेखक की लेखन प्रक्रिया को संचालित तथा नियंत्रित करने में मुख्य हाथ लेखक की रुचि, स्वभाव तथा प्रतिभा-जन्य अंतः संस्कारों का रहता है जिसे हम उसकी विशिष्ट दृष्टि कह सकते हैं, जिससे अपनी सृजन प्रक्रिया के लिए विशिष्ट सामग्री चुन कर अपनी कृति के रूप में संयोजित करता है। .... जब मैं अपनी सृजन प्रक्रिया का विश्लेषण

करता हूँ तो मुझे लगता है कि मेरी रचनाओं को मेरी परिस्थितियों की चेतना ने बहुत हद तक प्रभावित किया है। (मेरी लेखन प्रक्रिया, पृ०सं० 122-123) कहने का तात्पर्य यह है कि आलोच्यकाल तक आते-आते पंत की सौंदर्यवादी भावभूमि में भी एक विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। इस संबंध में उनका कहना है कि कालाकाँकर में ग्रामवासियों के अभावग्रस्त जीवन का अज्ञात प्रभाव मेरे सौंदर्य तथा आदर्श प्रिय मन में प्रच्छन्न रूप में अवश्य ही पड़ने लगा था। मार्क्स के सिद्धांतों के परिचय और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचार को जो धक्का लगा तथा रूसी क्रांति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही, वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन भावात्मक दर्शन को जन्म दिया, उस सब की सम्मिलित प्रक्रियास्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई। (साठ वर्ष एक रेखांकन, सुपंत, पृ०सं० 20) उस समय अपने काव्य-विषयक दृष्टिकोण के इस परिवर्तन की प्रक्रिया का स्पष्ट निदर्शन एवं कविता के नए लक्ष्यों और दायित्वों का उल्लेख उन्होंने ‘रूपाभ’ की भूमिका में किया है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण है एवं एक प्रकार से प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र सिद्ध हुई। इसमें उन्होंने कहा है कि— “इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा अवकाश में पहने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।” (रूपाभ, पंत का संपादकीय, वर्ष-1, अंक-1, जुलाई 1938) यही चिंताधारा मानवतावादी भावभूमि के अनुसंधान में संलग्न हुई है। संवेदना, कथ्य और शिल्प सभी स्तर पर धीरे-धीरे प्रवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर हुए हैं। ‘गा कोकिल, बरसा पावक

कण’, ‘नष्ट-भ्रष्ट हो, जीर्ण पुरातन-झड़ें, जाति-कुल, वर्ण पर्ण घन-व्यक्ति, राष्ट्र-गत, राग-द्वेष-रण’ सदृश्य पंक्तियाँ इसके परिचायक हैं। ‘युगांत’ संधि स्थल की रचना है। क्योंकि, भावना के स्तर पर तो वे एक ओर समाज के निचले तबके के लोगों से जुड़ते हैं पर दूसरी ओर उनका छायावादी शिल्प-मोह पूर्णतः पीछा नहीं छोड़ता है। हलांकि, उन्होंने कहा है कि— ‘युगांत में निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अभी समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है।’ (शिल्प और दर्शन, संपंत, पृ०सं० 45) इस संबंध में दिनकर का भी मानना है कि— “युगांत ने इतिहास के एक युग का अंत भले ही साकेतित न किया हो, किंतु उससे कवि के अपने जीवन का एक युगांत अवश्य सूचित हुआ, क्योंकि यही वह काव्य है जिसमें कवि की दृष्टि निश्छल रूप से, पहले पहल सपनों से निकल कर सत्य की भूमि पर आ गई।” (पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, रामधारी सिंह दिनकर, पृ०सं० 101)

प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने युग की समस्याओं को महत्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहा है। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सजाने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। “ऐसे संक्रांति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। इस एक ओर जब साहित्य में रूप विधान बदलने लगता है— जिसके अंतर्गत विधा, शैली, शब्द-चयन, सौंदर्यबोध, अभिव्यंजना के प्रकार आदि हैं। तब उसके साथ-साथ भाव-बोध, रस-बोध, अर्थ संकेत एवं मान्यताओं में भी अनिवार्यतः बदलाव आने लगता है और दूसरी ओर अंतर्मन अथवा चेतना का नवीन स्फुरण अथवा विकास कला एवं अभिव्यक्ति के रूप को भी अपने-आप बदल देता है।” (कला और

संस्कृति, सु० पंत, पृ०सं० 94) काव्य के शिल्प और संवेदना में जो बदलाव आता है उसके पीछे युगीन परिस्थितियों का तो हाथ होता ही है इसके अतिरिक्त लेखक की रुचि और संस्कार की मुख्य भूमिका होती है। इस संदर्भ में पंत जी स्वयं स्वीकार करते हैं— “लेखन प्रक्रिया को संचालित तथा नियंत्रित करने में मुख्य हाथ लेखक की रुचि, स्वभाव तथा प्रतिभा-जन्य अंतः संस्कारों का रहता है जिसे हम उसकी विशिष्ट दृष्टि कह सकते हैं, जिससे वह अपनी सृजन प्रक्रिया के लिए विशिष्ट सामग्री चुनकर अपनी कृति के रूप में संयोजित करता है। जब मैं अपनी सृजन प्रक्रिया का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे लगता है कि मेरी रचनाओं को मेरी परिस्थितियों की चेतना ने बहुत हद तक प्रभावित किया है।” (मेरी लेख प्रक्रिया, पृ०सं० 122-123)

युगांत तक आते-आते पंत जी अपनी भाव-चेतना में हुए व्यापक परिवर्तन का संकेत इन शब्दों में देते हैं— “युगानेत तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था जिसे ‘द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र’ अथवा ‘गा कोकिल बरसा पावक कण’.... आदि रचनाओं में मैंने वाणी दी है। इस नवीन भाव-बोध के सम्मुख मेरा पल्लवयुग का कलात्मक रूप-मोह पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आंदोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश से ऐसा आंदोलित रहा कि ‘पल्लव’, ‘गुंजन’ की सूक्ष्म-कला रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को परिवर्तित एवं परणत रूप में, संभवतः ‘अतिमा’ और ‘वाणी’ के छंदों में पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ। (शिल्प और दर्शन, सु० पंत, पृ०सं० 111-112)

इस प्रकार वीणा से युगांत तक कवि का विकास प्रकृति से मानव और कल्पना से चिंतन की ओर नारी-कला से पौरुष-कला की ओर है। परंतु, उसमें सौंदर्य-भावना की प्रधानता है और अंत में उनका दृष्टिकोण भूत और आत्मा के समन्वय की ओर उन्मुख होता है। इस काल में भी पंत की उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें जनवादी भाषा शैली, परंपरागत और नवीन शैलियों का

प्रयोग, विराट विंब, व्यंग्य का व्यापक क्षेत्र तथा यथार्थपरक अप्रस्तुत-विधान प्रमुख हैं।

अपनी रचनाओं की प्रेरणा स्रोत और उद्देश्य का संकेत देने के उपरांत पंत जी ने अपने समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं के केंद्रीय विषय पर भी प्रकाश डाला है, जिनमें उनकी आलोचना दृष्टि के बीज दृष्टिगोचर होते हैं। वे गुप्त जी को द्विवेदीयुगीन कवियों में सबसे अधिक प्राणवान और युगचेतना का प्रतिनिधि कवि के रूप में चिह्नित करते हुए लिखते हैं— “गुप्त जी की आधुनिकतम रचनाओं में युग की चेतनात्मक क्रांति तथा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठे हैं। उनकी ‘झंकार’ छायावादी युग की वस्तु है और ‘पृथ्वी पुत्र’ प्रगतिवादी युग की। गुप्त जी में पुरातन के प्रति सम्मान और नूतन के प्रति उत्साह तथा आग्रह की भावना मिलती है। उनका यह सामंजस्य छायावादी युग के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि का काम करता है।” (गद्य पथ, पृ०सं० 150 आधुनिक काव्य के प्रेरणा स्रोत निबंध से)

नवीन काव्यधारा को विकसित करने में रबीन्द्रनाथ किस प्रकार से अग्रदूत का काम किया तथा उनका प्रभाव हिंदी के कवियों पर किस प्रकार से पड़ा उसे रेखांकित करते हुए लिखते हैं— “उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावों का वैभव, नवीन कल्पना का सौंदर्य, नवीन छंदों की स्वर-झंकृति प्रदान कर उसे विश्व-प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान प्राण हिंदी काव्य साहित्य को मिली वही वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।” (वही, पृ०सं० 151)

द्विवेदी युग की पौराणिक भावना, कला परंपरा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग में एक नवीन आध्यात्मिक चेतना, नवीन छंद और शैलियों के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्वप्रेम की भावना के रूप में परिणत हो गए। प्रसाद जी का ‘झरना’ जैसे हिंदी में एक नवीन अभिव्यक्ति का झरना था। उनके ‘आँसू’ के कणों में जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर उमड़

उठी। प्रसाद जी की 'कामायनी' में छायावाद का अंतस्पर्शी गांभीर्य, सौंदर्य तथा विचार सामंजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक प्रासाद के रूप में साकार हो उठा। (वही, पृ०सं० 152) कामायनी महाकाव्य की इतनी विशेषताओं को गिनाने के बावजूद भी पंत जी का प्रसाद जी से शिकायत है कि उन्होंने कामायनी का समापन जिस प्रकार से किया है वह उचित नहीं है। पंत जी ने अपने निबंध 'यदि मैं कामायनी लिखता' में प्रसाद जी के जीवन-दर्शन की आलोचना करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि कामायनी का समापन जिस प्रकार से प्रसाद जी ने दिखाया है, उसमें व्यावहारिकता का अभाव है। पंत जी लिखते हैं— "श्रद्धा की सहायता से समरस की स्थिति प्राप्त करने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ न कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषण निदान है।" (गद्य-पथ, पृ०सं० 162) गौरतलब है कि पंत जी श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित मनु में आधुनिक मानव की प्रति छवि देखने के आकांक्षी हैं, जो स्वयं की मुक्ति का उपक्रम न करके लोक-जीवन से जुड़ कर समूह के लिए अपने-आप को समर्पित करने का प्रयत्न करता हो।

अपने युग की प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा को पंत जी छायावादा के 'बसंत वन की पिकी', 'प्रेम-साधिका मीरा', 'वेदना के साम्राज्य की एकछत्र सम्राज्ञी' आदि की संज्ञा से अभिहित करते हुए उनके गीतों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'महादेवी का काव्य' शीर्षक निबंध में पंत जी महादेवी के काव्यों में अभिव्यक्त विरह वेदना में एक ओर परंपरा की बेड़ियों में जकड़ी नारी की मूक वेदना की छटपटाहट सुनी है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत वेदना के तीखे दंश को झेलते हुए उसे व्यापक लोक-संवेदना के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की भावना को लक्षित किया है जहाँ पहुँचकर लोक-मुक्ति की आशा की जा सकती है। "निश्चय ही अपनी समस्त करुणा, वेदना, संवेदना, आत्म-विसर्जन अथवा मर-मिटने की भावना को लेकर भी महादेवी की काव्य-दृष्टि इसी महान

विश्वचेतना से स्पंदित लोक-मंगलोमुखी तथा समाजोन्मुखी है। ... वह विगत सामाजिक राग-मूल्यों के बंधनों, जर्जर-रुढ़ियों की शृंखलाओं से मुक्ति भी चाहती है...।" (महादेवी, संपादक इन्द्रनाथ मदान, पृ०सं० 16)

पंत जी स्वयं छायावाद का प्रतिनिधि कवि होने के बावजूद भी यह मानने में संकोच नहीं करते हैं कि वर्मा जी के काव्यों में भाव-संवेदना के जिस चिरंतन सत्य को वाणी मिली है वह अन्य छायावादियों में नहीं। उन्हीं के शब्दों में— "जो घनीभूत पीड़ा या वेदना प्रसाद के मस्तक में स्मृति-सी छायी थी वह महादेवी के भावना-जगत में अधिक गहरी, तीव्र तथा मर्मस्पर्शी होकर व्याप्त मिलती है। उनके काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व वेदना, वेदना का आनंद, वेदना का सौंदर्य, वेदना के लिए ही आत्मसमर्पण है।" (वही, पृ०सं० 10) पंत जी ने महादेवी के काव्यों में अभिव्यक्त शिल्प एवं संवेदना को हिंदी कविता का अनमोल निधि माना है, जिसमें व्यक्ति की पीड़ा के माध्यम से समूह की पीड़ा को वाणी प्रदान किया गया है।

इसी प्रकार पंत जी ने अपने समकालीन कवि निराला के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी विवेचन-विश्लेषण किया है, जिसका सारांश यह है कि निराला का कृतित्व उनके व्यक्तित्व का दर्पण है। अपने स्वभाव के अनुकूल निराला का विकास प्रसाद की तरह मंद गजगामी गति से न होकर प्रचंड वेग संपन्न सिंह की तरह हुआ, जो अपनी अभिव्यंजना शिल्प के कारण आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने में सक्षम है। उनका उद्धोदक, विद्रोही, क्रांतिकारी एवं कटु व्यंग्यकार रूप तत्कालीन व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिस्थिति की देन है। वैसे तो प्रत्येक रचनाकार और विशेषतः कवि के कृतित्व का उसके व्यक्तित्व से घनिष्ठ संबंध रहता है, पर निराला जी के संबंध में यह और भी अधिक सत्य प्रमाणित होता है। निराला का सौंदर्य-बोध भाविक-चेतना से अधिक आत्मिक-चेतना का ओज तथा प्रकाश .... .. हुआ है। जिनमें अधिकतर युग परिवेश तथा जग-जीवन के प्रति उनके हृदय की करुणा प्रकट हुई है, और उनके व्यंग्यात्मक काव्य में यही भावना अपने व्यक्तिगत संघर्ष के कारण कटुता तथा तिक्तता



में परिणत हो गई है।” (छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ०सं० 87)

इसी संदर्भ में वे आगे लिखते हैं कि “उनकी कुकुरमुत्ता की अधिकतर रचनाएँ उनके मन की कुंठा तथा तिक्तता की ही परिचायक हैं। उसमें धनी-निर्धन, व्यक्ति-समाज, अच्छे-बुरे, सभी पर उन्होंने प्रहार किया है। ...प्रगतिवादियों के मान्य अर्थ में न वह प्रगतिशील थे, समाजवादी या मार्क्सवादी ही, वह मुख्यतः अद्वैतवादी और शक्तिवादी थे, और उसके बाद अपनी महत्वाकांक्षा तथा बलिष्ठ व्यक्तित्व के कारण अहंवादी।” (छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ०सं० 89)

गौरतलब है कि पंत जी ने निराला में एक ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन किया है जो संघर्ष से टूटकर तथा अपनी असंतुलित मनःस्थिति के बावजूद भी जीवन पर्यंत हार नहीं माना है। किंतु, पंत जी पाठकों से आग्रह करते हैं कि निराला को महामानव या महाप्राण मानना उनके व्यक्तित्व की आधी समझ है, पूरी समझ है कि उनके सामान्य मनुष्य रूप को समझना। जिस दुख-दैन्य को एक सामान्य मनुष्य के रूप में उन्होंने खुद भोगा है उस बेचैनी, अकुलाहटा और विक्षिप्तता को समझना जो उन्हें उग्र और असंतुलित बना देता था। कुल मिलाकर पंत जी के अनुसार “निराला का आविर्भाव एक नई काव्य चेतना के आकाश में एक तेजोमय धुमकेतु के समान हुआ, जिसका एक सिर अद्वैत दृष्टि की मणि के आलोक से देदीप्यमान रहा और जिसके पीछे अपनी ही व्याप्ति में खोई ज्योति वाष्पों की एक लंबी पूँछ भी लिपटी रही, जिसमें उनके उपचेतन व्यक्तित्व की वे सभी महत्वाकांक्षाएँ, प्रकृतियाँ, विषमताएँ, अहंमन्यताएँ, स्पर्धा, प्रचंडता तथा निर्मम जीवन परिस्थितियों के कष्टपूर्ण परछाइयाँ एक अस्पष्ट अचिन्त्य, समझ में न आने वाली रहस्यमय इंद्रजाल में बँटी प्रतिच्छावित रही।” (छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ०सं० 60) सारांश यह कि निराला अपने असंयमित व्यक्तित्व के कारण भले ही नए मूल्यों की प्राण प्रतिष्ठा न किए हों फिर भी वे छायावाद के पौरुष-प्रकाश के स्तंभ हैं, हिंदी के प्रकाश पूंज हैं।

कहने की जरूरत नहीं कि पंत जी छायावाद के प्रबल समर्थक के रूप में हिंदी काव्य-जगत में आए थे, किंतु उनका विचार “युगांत के प्रकाशन के साथ बदल जाता है और वे छायावाद के काव्य क्षितिज से लोप होने के कारणों पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि “उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत रह गया था।” (आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 10) पंत जी इस धरातल पर पहुँचकर ‘कला, कला के लिए नहीं’ अपितु ‘कला जीवन के लिए’ है सिद्धांत के समर्थक के रूप में दिखाई देते हैं। इसीलिए, उन्होंने अपने समकालीन हिंदी काव्यधाराओं के क्रमिक विकास पर भी विचार-विमर्श करते हुए इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट चेतना प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही है, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नहीं बन पायी। एक भीतरी कुहाँसे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी धुँएँ से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी एवं उपमाओं की अभिनव सुंदरता का सजीव प्रयोग कर सके।” (शिल्प और दर्शन, पृ०सं० 99) एक तरह से देखा जाए तो पंत जी किसी वाद विशेष में आस्था व्यक्त करते हुए दिखाई नहीं देते। यह बात और है कि उनकी कविताओं में तत्कालीन विभिन्न साहित्यिक वादों की मूलभूत विशेषताएँ समाहित हो गई हैं। यही कारण है कि वे प्रायः सभी वादों की आलोचना भी करते हैं। उनकी मान्यता है कि “जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तर्क वितर्कों में फँसकर एक

किमाकार यांत्रिक सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर-संगीतहीन भावना लहरियों से मुखरित, अवचेतन की रूढ़ ग्रंथियों को मुक्त करती हुई एवं दमित-कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई, लोक-चेतना के स्रोत में द्वीप की तरह प्रगट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर अडिग जमी रही।” (शिल्प और दर्शन, पृ०सं० 99)

वे आगे लिखते हैं कि “छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेक्नीक की सूक्ष्मता बन गई, छायावादी शब्द वैचित्र्य इसमें उक्ति-वैचित्र्य और उसके शाश्वत दृष्टिकोण का स्थायित्व क्षणिक का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण इसकी सौंदर्य भावना अपने निम्न स्तर पर केचुओं-घोंघों के सरीसृप जगत से अनुप्राणित रही, जो वास्तव में पश्चिम की आधुनिकतम हासोमुखी संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव है। उसमें अब वह मानववादी व्यापकता, उदारता, वह अंतःस्पर्शी, अंतर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकोभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के संदेश का प्रकाश नहीं देखने को मिलता। नई कविता इन दोषों से कुछ हद तक अपने को मुक्त कर सकी है, पर वह अधिकतर कला के लिए कला वाले सौंदर्यवादी सिद्धांत की प्रतिध्वनि-मात्र रह गई है।” (शिल्प और दर्शन, पृ०सं० 100) पंत जी मानव को हरेक बंधनों से मुक्त करके ऐसे धरातल पर प्रतिष्ठित करने के आग्रही थे जहाँ जाति, धर्म, संप्रदाय और रूढ़ मान्यताओं का जकड़न न हो। उन्हीं के शब्दों में “हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की क्षूद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं से ही युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यंत्र युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं सत्य-शिव-सुंदरम् की धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित कर सकेगा।” (आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 21)

जब हिंदी कविता में नई कविता का दौर आरंभ

हुआ उस समय पंत जी अरविंद दर्शन और नव-मानवतावादी विचार से प्रभावित होकर उत्तरा तथा चिदंबरा की रचना कर चुके थे। उस समय उन्हें आलोचकों की कटु आलोचनाएँ सुननी पड़ी कि उनकी रचनाओं में बौद्धिकता और विचार की प्रधानता है, भावना का अभाव। इसका जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है— “मेरी इस काल की रचनाओं को राजनीतिक मतवाद से कटु संघर्ष करना पड़ा और उन्हें आलोचकों का अतिरंजित आक्रोश तथा विद्वेषपूर्ण विरोध सहना पड़ा। उत्तरा तथा चिदंबरा की विस्तृत भूमिकाओं में इस नवीन मॉड पर विस्तृत विवेचन करने का प्रयास किया है। पल्लव, आधुनिक कवि, उत्तरा तथा चिदंबरा की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग कर्दप के पर्वतों को लाँघकर, काव्य-भावना के रथ को आगे बढ़ाने के लिए, कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है।” (आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 23) यहाँ एक बात का उल्लेख करना जरूरी है कि पंत जी इस युग में आकर बहिर्मुखी दृष्टिकोण का सहसा परित्याग कर अंतर्मुखी हो जाते हैं। समाज की आर्थिक समता को ही सर्वाधिक महत्व देने के बजाय मानसिक अथवा नैतिक समता पर जोर देते हैं। प्रत्येक मानव के अंतःकरण में तप, त्याग, संयम, श्रद्धा आदि मानवीय भावों को विकसित करने पर जोर देते हैं। भौतिक जरूरतों की पूर्ति के उपरांत भी मनुष्य सुख-शांति तब तक प्राप्त नहीं कर सकता है जब तक उसकी चेतना उर्ध्वमुखी नहीं बन जाती है। वे लिखते हैं “यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिंता से मुक्त कर सका तो उसके लिए सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न शेष रह जाएगा। मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा, काम आदि निरपेक्षतः कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य-शिव-सुंदरम् की भावनाओं में भी पड़ता है। मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जाएगा, उसी के अनुरूप,

जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक-दूसरे में लीन हो जाएँगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जाएगा।” आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ०सं० 20)

यही कारण है कि पंत जी देवों के आरधकों से अब मानव को समझने को, उसकी आराधना करने की सलाह देते हैं। पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य और मालिन्य का परित्याग कर प्रेम-सौहार्द, सहानुभूति, सहयोग आदि के द्वारा मनुष्यत्व में देवत्व की परिकल्पना करते हैं। “स्वर्णकिरण में मैंने अंतर्जीवन अंतश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिलकुल ही भूल गए हैं।” (गद्य पथ, पृ०सं० 108)

पंत जी भौतिक समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक समृद्धि के पृष्ठपोषक थे। इन दोनों के समन्वय से ही मानव जीवन का चतुर्दिक विकास संभव था। दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए समस्याओं का निदान खोजने का प्रयत्न उनकी बाद की रचनाओं में देखने को मिलती है।

निष्कर्षतः यह कि पंत जी शुद्ध रूप से कवि होने के बावजूद भी एक आलोचक के दायित्व का निर्वाह किया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वे अपने तथा अपने

समकालीन काव्य-चेतना को बिना लाग-लपेट के विश्लेषित करने का भरसक प्रयत्न किया है। यह बात और है कि आलोचना की भाषा जिस सरलता और स्पष्टता की माँग करती है वह पंत जी में नहीं है। पाठक को उनकी अलंकृत और काव्यात्मक भाषा से निरंतर जूझना पड़ता है। फिर भी उनकी आलोचना न केवल भाषा-शैली की विलक्षणता की दृष्टि से, बल्कि कवि-हृदय की गहन-सूक्ष्म वैचारिक स्पंदनमयता के कारण भी विशेष महत्व रखती है। इसका प्रमुख कारण यह माना जा सकता है कि उनकी आलोचना दृष्टि परंपरागत पाठकों को नवोदित कवियों के काव्यात्मक व्यक्तित्व और कृतित्व को नजदीक से समझने की जमीन तैयार करती है, साथ ही हिंदी कविता के उस पूरे युग को समझने की दृष्टि प्रदान करती है, जिसके वे प्रवर्तक थे तथा उनके जीवनकाल में जो काव्य-धाराएँ विकसित हो रही थीं। मेरा मानना है कि दूसरों के द्वारा निर्मित ग्रंथों पर निर्णय देने के लिए साहित्य की कसौटियों का निर्माण करने के अक्रिक्त कृतिकार के स्पष्ट या अस्पष्ट ध्येय को नीर-क्षीर, विवेक के द्वारा उद्घाटित करना भी आलोचना ही है। इस दृष्टि से पंत जी भले ही आचार्य शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० शर्मा आदि की तरह आलोचक न रहे हों, किंतु अपनी तथा अपने समकालीन कवियों की रचनाओं की वैचारिक पृष्ठभूमि और मर्म को जिस प्रकार से उन्होंने देखा-परखा है, वह व्यावहारिक आलोचना का सराहनीय पक्ष है।

**संपर्क :** डॉ० नागेश्वर यादव विभागाध्यक्ष (हिंदी)  
रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, होजाई, असम — 782435  
मो० : 9954695256

## हिंदी के मध्यकालीन कवियों की भाषा-दृष्टि

- डॉ. ऋषि भूषण चौबे

कवि अपने युग की भाषा को ही अपनी 'काव्य-भाषा' चुनता है। लेकिन, किसी भी युग में कोई एक भाषा प्रचलित नहीं होती। एक ही समय में कई भाषाएँ साथ-साथ चलती हैं। भाषाओं का भी सामाजिक स्तर होता है। एक समय विशेष में, कुछ भाषाएँ अधिक प्रभावशाली होती हैं। इसी तरह कुछ भाषाएँ कालांतर में कमजोर से ताकतवर होती चली जाती हैं। किसी भाषा का ताकतवर या कमजोर होना बहुत सारी बातों पर निर्भर करता है। इनमें राजसत्ता, धर्म और आर्थिक कारण प्रमुख होते हैं। हिंदी का आदिकालीन एवं मध्यकालीन साहित्य भाषा विषयक दृष्टिकोण से कम ही देखा-परखा गया है। ज्यादातर अध्ययन में कवियों की काव्य सौंदर्य-दृष्टि, काव्य-वस्तु और सामाजिक-चेतना पर विचार ही दिखाई देता है। हालांकि, इन सब का संबंध भी भाषा से ही है, क्योंकि बिना भाषिक आधार के काव्य-सौंदर्य, काव्य-वस्तु एवं सामाजिक-चेतना को भी न तो गढ़ा जा सकता है और ना ही विश्लेषित। प्रस्तुत शोध-आलेख में हिंदी की मध्यकालीन कविता एवं कवियों की भाषा दृष्टि पर विचार किया गया है।

हर युग अपने युग की कविता में प्रतिध्वनित होता है। कविता अपने युग-धर्म से पूर्णतया कटी हुई हो ही नहीं सकती। कवि अपनी कविता में शब्द, अपने आसपास के भाषिक परिवेश व वातावरण से ही चुनता है। यह उसकी मजबूरी नहीं, बल्कि कविता एवं कवि कर्म की स्वाभाविक निर्माण प्रक्रिया भी है। ठीक ही कहा गया है कि शब्द दिमाग के आईना होते हैं। शब्दों में युग को, कवि के मन को और काल विशेष के प्रबल प्रवाह को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है। कहते हैं कि भाषा समाज का निर्माण करती है और समाज भाषा का। इस परस्पर के निर्माण में कवि/रचनाकार की भूमिका अहम होती है। कवि ही शब्द पर सोचता है। सोचने की क्षमता रखता है। शब्द पर सोचना आसान कार्य नहीं है। यह एक सघन और जटिल मानसिक कर्म है। इसके लिए दृष्टि, धैर्य और रुचि महत्वपूर्ण होती है। कहा गया है कि चिंतन करना एवं रचना करना सर्वाधिक कष्टप्रद कार्य है। सामान्य मस्तिष्क इससे बचता है। मानसिक श्रम दैहिक श्रम से कई गुना अधिक ऊर्जा लेती है। यही वजह है कि 'काव्य संसार' संसार की छोटी-सी जगह ही घेरती है। युगों के इतिहास में कालजयी कवियों की सूची काफी छोटी है। कालजयी हिंदी कवियों की कविता में हुए भाषिक प्रयोग पर नए सिरे से विचार करने की जरूरत है। इस तरह के प्रयासों से ही मध्ययुगीन कविता में से नए विचार और कला-दृष्टि को खोजा जा सकता है।

आदिकालीन एवं मध्यकालीन हिंदी (हिंदी भाषा-क्षेत्र की भाषा व बोलियों का समूह) कविता में अरबी, फारसी के प्रयोग पर काव्य एवं संस्कृति समीक्षकों ने समय-समय पर विचार किया है। कलात्मक सौंदर्य, भाव सौंदर्य एवं ऐतिहासिक स्थिति ये तीनों महत्वपूर्ण कारण बताए गए हैं, इस भाषिक व्यवहार के। संस्कृति, विचारक एवं कवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'संस्कृत के चार अध्याय' में इस प्रसंग पर गहराई से विचार किया है। इस भाषिक प्रयोग के पीछे ऐतिहासिक स्थिति को जिम्मेदार मानते हुए वे लिखते हैं- "पृथ्वीराज रासो नामक महाकाव्य के रचयिता चन्दबरदाई

लाहौर के थे, जहाँ मुस्लिम राज्य पृथ्वीराज के कोई दौ सौ वर्ष पहले से ही मौजूद था। चन्दबरदाई ने अपने महाकाव्य में अरबी और फारसी शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि देखकर आश्चर्य होता है। आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं है। यह उस ऐतिहासिक स्थिति का परिणाम था, जिसके कारण पंजाबी, सिंधी और कश्मीरी भाषाओं में अरबी तथा फारसी शब्दों का अत्यधिक प्राचुर्य हो गया।<sup>1</sup> हिंदी के आलोचकों द्वारा तुलसी, कबीर, सूरदास, रसखान, बिहारी, घनानंद तथा अन्य कवियों के भाषिक प्रयोग पर अलग-अलग विचार हुआ है। दिनकर आगे लिखते हैं— “अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग कबीर और उनके अनुयायियों ने काफी किया, यद्यपि जायसी में हम ऐसे शब्दों की संख्या अपेक्षा कुछ कम पाते हैं। रसखान की रचनाओं और रहीम की हिंदी कविताओं में यह संख्या और भी न्यून है।”<sup>2</sup>

दिनकर, तुलसीदास की भाषा दृष्टि को सांप्रदायिक नहीं मानते हैं। वे कहते हैं— “लेकिन, हिंदी-कवियों की दृष्टि सांप्रदायिक थी या नहीं, इसका अंतिम प्रमाण गोसाईं तुलसीदास की रामायण में खोजा जा सकता है। रामायण हिंदू-संस्कृति का महाग्रंथ है। इस महाकाव्य में लगभग छह हजार वर्षों के प्रगाढ़ हिंदू-चिंतन का सार समाया हुआ है और इस ग्रंथ का सम्मान भी वैसा ही है जैसा सम्मान बाइबिल अथवा कुरान का देखा जाता है। किंतु, ऐसे धार्मिक काव्य में भी हम अरबी और फारसी शब्दों के निःसंकोच प्रयोग अनेक स्थलों पर पाते हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि गोसाईं जी में भाषा को लेकर सांप्रदायिकता की गंध तक नहीं थी। यह ठीक है कि अरबी-फारसी शब्द गोसाईं जी ने बहुत कम लिए हैं, किंतु उतने शब्दों से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि अरबी-फारसी शब्दों से उन्हें घृणा नहीं थी।”<sup>3</sup> खिचड़ी भाषा के संदर्भ में दिनकर का यह मत भी उल्लेखनीय है कि खिचड़ी भाषा भी युगीन परिस्थितियों की देन होती है— “खिचड़ी भाषा नकली भी हो सकती है और स्वाभाविक भी। नकली वह तब होती है, जब हम खिचड़ी भाषा लिखने का जान-बूझकर प्रयास करते हैं। स्वाभाविक वह तब बनती है, जब साहित्य में अनेक भाषाओं के

शब्द सहज गति से आकर अपनी जगहों पर बैठ जाते हैं। ऐसी खिचड़ी अथवा मिश्रित भाषा की बड़ाई भिखारीदास भी करते थे और उनके समय के अन्य लोग भी। हिंदी में किसी कवि का एक और दोहा प्रचलित है जिससे इस बात की पुष्टि होती है।”<sup>4</sup> अंतरवेदी नागरी, गौड़ी पारस देस/अरु अरबी जामे मिले, मिश्रित भाषा भेस।

इस संदर्भ में दिनकर मध्य युगीन हिंदी कवियों की भाषा विषय दोहों के नमूने के तौर पर रखते हैं। ये दोहे कवियों की अपनी भाषा-दृष्टि को समझने में सहायक होते हैं। इन दोनों के अध्ययन से यह भी साफ होता है कि ये कवि अपनी भाषा को लेकर काफी सचेत थे। आत्मविश्वास से भरे थे। उनके द्वारा अपनायी गई भाषा कला और भावक (श्रोता, पाठक) के अनुकूल थी। साथ ही इन दोहों में भाषिक युगबोध भी झलकता है। देखें—

“संस्करित है कूप-जल, बाखा बहता नीर। - कबीर  
पराकिरत मथि ऊपजे, संस्करित सब वद,  
अब समझावै कौन करि पाया भाषा-भद। - रज्जब  
आदि अन्त जस गाथा अही,  
कह चौपाई भाखा कही। - जायसी  
भाषा-भणित मोरि मति थोरी,  
हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी। तुलसीदास  
भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास,  
भाषा कवि भौ मन्दमति तेहि कुल केशवदास।

— केशवदास”<sup>5</sup>

हिंदी क्षेत्र की काव्य भाषा बदलती रही है। यह बदलाव हिंदी के भीतर आने वाली भाषाओं/बोलियों के मध्य ही होता रहा है। इस पर साहित्य, इतिहास लेखक एवं समीक्षक रामस्वरूप चतुर्वेदी की सटीक टिप्पणी देखें— “किसी क्षेत्र की काव्यभाषा वहाँ के समाज को प्रतिफलित करती है। समूचे मध्य देश की काव्यभाषा का आधार हर युग में एक रहा है। कभी आरंभ में वह खड़ी बोली था, तो कभी खड़ी बोली और ब्रजभाषा का मिला-जुला रूप, फिर मध्य काल में ब्रजभाषा और अंशतः अवधी। और अब आधुनिक काल में यह आधार फिर से खड़ी बोली हुआ है। हिंदी क्षेत्र की भाषिक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह समान काव्य-भाषा का प्रयोग है।”<sup>6</sup>



खासकर कबीर की भाषा को लेकर आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी एक रोचक बात कहते हैं। उनके अनुसार कबीर ने संस्कृत और अरबी को लेकर विद्रोह का तेवर अपनाया है। देखें “...भाषा, संवेदना, विचार-प्रणाली सभी दृष्टियों से कबीर शास्त्रीयता के समक्ष खाँटी देशीपन को महत्व देते हैं।” ‘संस्कृत के कूप जल’ को छोड़ कर वे भाषा के बहते नीर तक स्वयं पहुँचते हैं।”<sup>7</sup> ... “कबीर की भाषा में ठेठ शब्दों का प्रयोग उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना संस्कृत (और किसी सीमा तक फारसी) के तत्सम शब्दों का विकृत प्रयोग है। साकत (शाक्त), तत्त (तत्त्व), किरिम (कृमि), सुन्नि (शून्य), मिरिग (मृग), क्रिस्न (कृष्ण), सुन्नित (स्मृति), निसप्रेही (निस्पृह) जैसे विकृत किए गए शब्द कबीर की शिक्षा के अभाव को उतना व्यक्त नहीं करते, जितना संस्कृत भाषा के प्रति उनके विद्रोह और अवमानना के भाव को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार कबीर जब कुरान के लिए ‘कतेब’ शब्द का व्यवहार करते हैं तो इससे उनके मन का उपेक्षा-भाव ही व्यंजित होता है। ... संस्कृत के विरोध में जानबूझ कर प्रयुक्त वह अपभ्रष्ट शैली संतों के बीच में एक सीमा तक अंतरप्रान्तीय स्तर पर प्रतिष्ठित देखी जा सकती है, उनकी जनभाषा के रूप को अधिक खरापन और प्रामाणिकता देने के लिए। ... इस दृष्टि से कबीर की शब्दावली ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि किसी एक भाषा-रूप से संबद्ध नहीं जान पड़ती। भाषा के जनसंस्करण रूप का निर्वाह कवि ने उच्चारण के प्रसंग में भी बड़ी ईमानदारी के साथ किया है। ... उच्चारण में बढ़ती हुई अनुनासिकता का तत्त्व उन्होंने अपनी भाषा में बराबर प्रदर्शित किया है— रांम, मुकांमास ध्यांन, रहीमां, रम-जांना, बांना जैसे शब्दों में अनुस्वार जनसाधारण के बेपरवाही से किए गए अनु-नासिक उच्चारण के अनुरूप ही है, यद्यपि शिष्ट लेखन में यह अनुनासिकता का तत्त्व आज भी नहीं दिखाया जाता।”<sup>8</sup>

काव्य-भाषा हिंदी पर फारसी के प्रभाव को अलग-अलग विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचित किया है। लेकिन सभी में एक बात की समानता है कि यह कोई मजबूरी नहीं थी। यह अपने समय और कविता की

स्वाभाविक परिणीति थी— “पर रामचंद्र शुक्ल यदि हिंदी के फारसीकरण का विरोध करते हैं तो संस्कृत के अनुचित दबाव का भी। हिंदी के सहज-स्वाभाविक परिणीति थी— “हाँ जिन विचारों के लिए हिंदी व संस्कृत शब्द न मिलें उनको प्रकट करने के लिए हम विजातीय शब्द लाकर अपनी भाषा की वृद्धि मान सकते हैं।”<sup>9</sup> ... “मध्यकालीन काव्यभाषा की सामान्य प्रकृति के अनुरूप **विनय पत्रिका में अरबी-फारसी शब्दावली सहज रूप में व्यवहृत हुई है** (गरीबी, मिसकीनता, निवाज), पर इस शब्दावली का ध्वन्यात्मक रूप बराबर हिंदी की प्रकृति के अनुसार है, और यथासंभव देशी संदर्भों में गुल-मिल जाने वाले फ़ारसी शब्दों को प्रयुक्त किया गया है।”<sup>10</sup> ... “अरबी और फारसी के विशेषणों और संज्ञा-वाचक शब्दों को हिंदी ने बड़ी ही उदारता से स्वीकार किया। परहेज हिंदी ने केवल यह बरता है कि अपने व्याकरण पर अरबी और फारसी का उसने कोई भी प्रभाव पड़ने नहीं दिया। अरबी और फारसी शब्दों के भी बहुवचन हिंदी व्याकरण के ही अनुसार बनाए जाते हैं। सतर्कता की एक प्रथा यह भी है कि अरबी-फारसी शब्दों के साथ संस्कृत की विभक्तियाँ हिंदी वाले नहीं लगाते।”<sup>11</sup>

भाषा अध्येता एवं समीक्षक राजजमणि शर्मा ने अपनी एक महत्वपूर्ण पुस्तक ‘काव्य भाषा रचनात्मक सरोकार’ में मध्ययुगीन कवियों की भाषिक विशेषताओं पर गंभीरता से विचार किया है। देखें— **तुलसीदास** ... “इस क्षेत्र में तुलसी की समन्वय-दृष्टि एवं क्षमता ने भी बहुत बड़ा योगदान किया। समाज के लिए, विशेषकर काव्यभाषा की रचनधर्मिता के लिए उपयोगी शैली एवं स्वरूप का गठन तुलसीदास में ‘इनसाइक्लोपीडिया’ का साक्षात्कार करता है। मानस से लोकनायकत्व का स्वरूप प्रस्तुत करना ही इसका लक्ष्य नहीं था, काव्यभाषा का लोकनायक रूप भी प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य था। प्रबंध सौष्ठव, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, अलंकार-विधान, छंद प्रयोग द्वारा वे भाषा का परिमार्जन भी करते हैं, उसमें नई अर्थवत्ता भी भरते हैं और रचनाकारों के प्रयोग के लिए एक परिनिष्ठित काव्यभाषा का स्वरूप भी दे जाते हैं। उक्ति वैचित्र्य, अन्योक्ति में भाव-वैविध्य का बोध कराकर

हिंदी भाषा की क्षमता का उदाहरण भी पेश कर जाते हैं।”<sup>12</sup> ... “गोस्वामी तुलसीदास अपने दृष्टि विस्तार के कारण उत्तर भारत ही नहीं समस्त भारत, अपितु विश्व के प्रतिनिधि कवि बन जाते हैं। इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही लोक धर्म का उज्ज्वल-रूप इनकी काव्यभाषा की पहचान है। गोस्वामी जी की भाषा प्रसंगानुकूल और आवश्यक विधानों से पूर्ण है। इन सबका कारण गोस्वामी जी का लोकमत और जनसाधारण के प्रति आकर्षण है। वे जनसामान्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों, छोटे से छोटे क्रियाकलापों को अनदेखा नहीं करते। उसकी संस्कृति, उसकी भाषा, उसके भाव को वे प्राथमिकता देते हैं। इसीलिए उनकी भाषा अनुभूति की सघनता से संपृक्त होकर भी सहज और प्रवाहमान है। छंद, अलंकार, बिंब के संयोजन के लिए वे प्रयासरत नहीं, यह तो स्वभाविक रूप में आते हैं।”<sup>13</sup> **बिहारी** ... “बिहारी में मुक्तक-कला विशेषकर शब्द की खोज और नए अर्थ से संपृक्त करने की क्षमता है। लोक से जुड़कर वह लोकहित के लिए उपयोगी भी है। बिहारी में शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख थी। शब्दों को माँजने, चमकाने, मोड़ने और सँवारने की कला में बिहारी सिद्धहस्त थे। उनकी रचना में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता और भाव-सबलता में इठलाती हुई चलती है। वह लय और गति, संगीत और नर्तन की विशेषताओं से युक्त है। भाषा प्रांजल, प्रौढ़, मधुर और सरस है। भावों के चित्रांकन में वे श्रेष्ठ हैं।”<sup>14</sup> ... **ठाकुर** “ठाकुर लोकोक्तियों द्वारा घनानंद लक्षणा द्वारा आलम अलंकारों के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति का संपादन करते हैं पर बोधा अकृत्रिम भाषा के पक्षधर हैं, वे स्वाभाविक भाषा-प्रयोग से अपना कथ्य संप्रेषित करते हैं। घनानंद और पद्माकर की काव्यभाषा पर सूर और तुलसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। चमत्कार-प्रियता के कारण केशव की भाषा में सहजता का अभाव है, तथापि केशव के बाद चिन्तामणि का प्रयास भाषा का नियमानुकूल प्रयोग है।”<sup>15</sup>

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि मध्ययुग (भक्तिकाल और रीतिकाल) के कवियों ने अपनी काव्य

भाषा को निरंतर की साधना से अर्जित किया है। यही वजह है कि इसमें स्वाभाविकता और संप्रेषणनीयता का गुणधर्म सहज ही समाविष्ट हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जैसे कवि यदि विशाल हिंदी समाज के कंठहार बन सके हैं तो इसका श्रेय उनकी जन-अनुभव को पकड़ने वाली, सांस्कृतिक समन्वय से युक्त काव्य भाषा को जाता है। जैसे तुलसीदास ने अवधी को ऊँचा आसान और विशाल विस्तार दिया है वैसे ही सूरदास ने ब्रजभाषा को एक नई काव्यात्मक ऊँचाई प्रदान की है। सूर की भाषा पर राजमणि शर्मा द्वारा की गई यह टिप्पणी एक तरह से समूचे मध्ययुगीन कविता की विशेषताओं को प्रकट करती है। देखें— “और ब्रजभाषा के अग्रदूत सूरदास ने ब्रजभाषा को वस्तुतः जो गौरव, गरिमा प्रदान की, उसके परिणामस्वरूप वह काव्यभाषा के सिंहासन पर आसीन हो गई। सूर की भाषा में चित्रात्मकता, अलंकारिता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिंबात्मकता अपने चरम पर विद्यमान है।”<sup>16</sup>

भाषाविद ग्रियर्सन ने भी मध्यकालीन कवियों की साहित्यिक एवं भाषिक क्षमताओं पर अपनी राय दी है। गोस्वामी तुलसीदास की कविता के संदर्भ में उनकी टिप्पणी को भाषा अध्येता अरुण कुमार कुछ यूँ रखते हैं— “ग्रियर्सन तुलसी के भाषाधिकार को चमत्कारी मानते हैं। उनके काव्य-सौंदर्य का चमत्कार, नाद पक्ष इत्यादि। ग्रियर्सन के समय में बिहारी और देव की धूम थी। ये कवि भाषा के पंडित कहे जाते थे। तुलसीदास की भाषा इन दो कवियों से भिन्न है। यद्यपि ग्रियर्सन इसकी तुलना नहीं करते हैं, फिर भी, कवित्त रामायण या कवितावली पर विचार करते समय वे इसके नाद-सौंदर्य को तुलसीदास के काव्य का ऐश्वर्य मानते हैं। तुलसी भक्ति काल के विरले कवि हैं जिनके यहाँ नाद-योजना के द्वारा भाव की व्यंजना करने की अकूत ताकत है। इसे प्रबंध काव्य की विशेषता माना जा सकता है, लेकिन खंड काव्य में भी यह सौंदर्य अनूठा है। ‘पार्वती मंगल’ में दो छंदों का प्रयोग हुआ है। सोहर और हरिगीतिका सोहर ग्रामी छंद हैं। विवाह के अधिकतर गीत इसी छंद के हैं। पार्वती मंगल के प्रारंभ का ना-सौंदर्य देखें, ‘पाप नशावन, पावन,

मुनि-मन बावन।' प्रसंग पार्वती और शिव के सुंदर विवाह (गौरी-गिरिश-विवाह सुहावन) का है। तुलसी के अनुसार यह गान पाप नाशी, पवित्र और मुनि जनों को अच्छा लगेगा।<sup>17</sup> इस लंबे उदाहरण में तुलसी साहित्य की समूची विशिष्टता पर प्रकाश पड़ा है।

भाषा और धर्म के बीच क्या और कैसा नाता होता है? समाज, साहित्य और राजनीति के परिप्रेक्ष्य में अलग-अलग समय पर विभिन्न भाषाविदों एवं साहित्य समीक्षकों द्वारा विचार किया गया है। इस संबंध में कुछ उद्धरण दृष्टव्य हैं— “फारसी के प्रभाव से उत्तर भारत में बोली जाने वाली खड़ी बोली कस्क स्वरूप विकसित हुआ जिसे बाद में उर्दू के रूप में जाना गया और जो काफी हद तक एक संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो रही थी।”<sup>18</sup> “फारसी और अरबी के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करने और लिपी भी फारसी का संशोधित रूप अपनाने के बावजूद उर्दू एक भारतीय भाषा की ओर है।”<sup>19</sup> “इस संघर्ष के मूल में सांप्रदायिक सोच काम कर रहा था। उर्दू को मुसलमानों की और हिंदी को हिंदुओं की भाषा के रूप में पेश किया जाने लगा। उर्दू के फारसीकरण की तरह ही हिंदी का संस्कृतिकरण किया जाने लगा।”<sup>20</sup> कवि एवं संस्कृति समीक्षक रामधारी सिंह दिनकर भी इस संबंध में भाषा वैज्ञानिक एवं कला मर्मज्ञ के रूप में सोचते हुए लिखते हैं— “अरबी और फारसी के विशेषणों और संज्ञा-वाचक शब्दों को हिंदी ने बड़ी ही उदारता से स्वीकार किया। परहेज हिंदी ने केवल यह बरता है

कि अपने व्याकरण पर अरबी और फारसी का उसने कोई प्रभाव पड़ने नहीं दिया...।”<sup>21</sup> “अगर ये शब्द हिंदी से निकाल दिए जाएँ तो इनकी जगह लेने वाले हिंदी में और शब्द नहीं मिलेंगे। कुछ शब्द ऐसे जरूर हैं जिनके संस्कृत पर्याय भी हैं, किंतु जनता इस संस्कृत पर्यायों के बदले विदेशी शब्दों को ही पसंद करती है। कबूतर और कपोत, चेहरा और आकृति, मजदूर और श्रमिक, स्याही और मसि, दवात और मसिपात्र, कलम और लेखनी, गुलाब और पाटल तथा ताजा और नवीन में से जनभाषा में प्रचलन उन्हीं का है, जो विदेशी हैं।”<sup>22</sup>

उपर्युक्त सभी सभा विचारकों एवं काव्य भाषा के अध्येताओं की टिप्पणियों के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी के मध्यकालीन कवियों ने भाषा के व्यवहार के संदर्भ में परिपक्वता का परिचय दिया है। काव्य कला, जनरुचि और प्रभावशाली संप्रेषण को तरजीह दिया है। अपनी काव्य भाषा के चुनाव एवं व्यवहार के मामले में, वे कहीं से भी संकुचित या सांप्रदायिक सोच के नहीं कहे जा सकते। काव्य-सौंदर्य और ‘रस’ की महिमा से ये कवि स्वयं अभिभूत थे। इनके काव्य का लक्ष्य प्रमुख रूप से लोकरंजन और ‘मुक्ति’ ही था। ईश्वर की आराधना हो या स्त्री सौंदर्य का काव्यात्मक वर्णन— भाषागत सजगता हर जगह दृष्टव्य है। कह सकते हैं कि इन कवियों ने मुक्त मन से मुक्त भाषा दृष्टि का परिचय देते हुए काव्य रचना की है। यही वजह है कि ये कवि अपने समूचेपन के साथ हिंदी भाषी क्षेत्र की काव्य रसिक जनता के हृदय पर आज तक राज कर रहे हैं।

### सन्दर्भ सूची

1. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, (तृतीय अध्याय, हिंदू संस्कृति और इस्लाम, साहित्य और भाषा पर प्रभाव)
2. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, मध्यकालीन हिंदी काव्य भाषा, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली
3. शर्मा, राजमणि, काव्य भाषा रचनात्मक सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. कुमार, अरुण, ग्रियर्सन, भाषा और साहित्य चिंतन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. पारिख, जवरी मल्ल, 97 सदी के अंत में हिंदी, संपादक अमरनाथ

**संपर्क :** सहायक प्राध्यापक, प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता

मो० : 8334956052, E-mail : rishi.hindi@presiuniv.ac.in

## मसालदानी

- रंजना जायसवाल

घुटनों के दर्द आजकल ज्यादा तकलीफ देने लगा था। आरती जी घर के गलियारे में धीरे-धीरे टहल रही थी। आँखों में मोतियाबिंद उतर आया था। मोतियाबिंद के जालों ने सिर्फ आँखों की रोशनी पर नहीं उनके कदमों पर भी रोक लगा दी थी। वक्त के साथ बूढ़े हो चुके शरीर को लगभग घसीटते हुए वे इस वक्त गलियारे में टहल रही थी।

“मशीन को भी तो चलाना पड़ता है नहीं तो बैठे-बैठे उसमें भी जंग लग जाता है।”

प्रशांत जी ने उन्हें टहलता हुआ देखकर कहा, आरती जी के झुर्रियों से भरे चेहरे पर एक हल्की मुस्कान बिखर गई। उनकी आँखों में एक अनदेखे दर्द की टीस उभर आई, एक ऐसा दर्द जो लफ्जों से कम आँखों से ज्यादा बयां होता था। प्रशांत जी उनके इस दर्द की वजह जानते थे पर कुछ दर्द के इलाज नहीं होते। आरती जी टहलते-टहलते घर के मुख्य द्वार से सटे खंभे के पास आकर खड़ी हो गई। घर के मुख्य द्वार पर प्रशांत जी की वर्षों पुरानी नेम प्लेट लगी थी और दूसरे खंभे पर कबीर और ऋतु के नाम की, जिस घर को आरती जी ने अपने खून-पसीने से सींचा था उस घर के नेम प्लेट पर उनका नाम भी नहीं था। उन्होंने अपनी धुंधली हो चुकी नजरों पर जोर डाला और उस खंभे पर कुछ दूढ़ने लगी। मकान के गृह प्रवेश के समय उनके शुभ हाथों द्वारा बनाया गया “ॐ” वक्त की मार से धूमिल हो चुका था और “ॐ” के ऊपरी हिस्से पर बने तिलक की छाप भर ही दिख रही थी। उन्होंने एक गहरी सांस ली और मेहनत से बनाए घर की ओर बड़े प्यार से देखा। अतीत ने हौले से उनके मन-मस्तिष्क पर खटखटाया और हाथ पकड़कर अपने साथ ले गया।

“मम्मी पीछे वाला पार्क बहुत अच्छा मेंटेन हो गया है।”

“अरे कब?”

“कॉलोनी में पी डब्लू डी विभाग के एक इंजीनियर साहब ने भी अपना घर बनवा लिया है उन्हीं के प्रयासों से पार्क की देख-रेख अब अच्छे से होने लगी है। आप भी हो आइए। इसी बहाने कॉलोनी के लोगों से मिलना-जुलना हो जाएगा। वरना दो दिन की छुट्टी में आप कहाँ किसी से मिल पाती हैं।”

कबीर ने सही ही कहा था, आरती जी हर बार सोचती थी कि वह कॉलोनी के लोगों से मिल कर जाएँगी। सब की शिकायतें भी दूर हो जाएगी पर दो दिन के समय में क्या-क्या करती! समय पंख लगाए ऐसे उड़ जाता कि वह देखती ही रह जाती। बच्चों के साथ समय बिताने की आस लिए वह घर आती थी। सोचती थी बच्चों को क्या ना बना कर खिला दूँ पर बच्चों को छोड़कर घर से निकलने का मन ही नहीं करता था और फिर वापिस जाने का समय हो जाता।

वह ऋतु के पीछे-पीछे पार्क पहुँच गई। पार्क में और भी महिलाएं थी। पार्क के बीचों-बीच पानी की टंकी की बनी हुई थी। पानी की टंकी! पानी की टंकी साधारण टंकी नहीं थी इस कॉलोनी की पहचान थी। इस कॉलोनी की पहचान थी। इस कॉलोनी के हर घर में आने वाली डाक और पार्सल पर घर के मालिक के नाम के साथ इस टंकी का जिक्र भी होता था। आस-पास के इलाके में इतनी बड़ी कोई टंकी नहीं थी। घुमावदार सीढ़ियाँ चंदन के पेड़ पर लिपटे साँप की तरह कंक्रीट और सीमेंट

## कहानी

की बनी उन लंबी-लंबी टांगों पर लिपटी हुई थीं। उस टंकी की तरफ जब भी नजर जाती आरती जी को अम्मा की बात याद आ जाती। बड़े-बड़े शहरों में इतनी ऊँची-ऊँची इमारतें होती हैं देखो तो टोपी गिर जाए।

गर्मी के दिनों में कमरे की घुटन और तपिश से बचने के लिए आरती जी जब भी छत की तरफ रुख करती उस टंकी पर नजर जरूर जाती। रात के स्याह अंधेरे में टंकी के चारों तरफ लगी रेलिंग पर कबूतर दम साधे बैठे सुबह होने का इंतज़ार करते रहते। एक पल को लगता रात का अंधेरा उनकी उड़ान पर बंदिशें लगा देता है और वह थकहार कर कुछ पल सांस लेने के लिए टंकी की शरण में बैठ जाते हैं। चाँद की पीली रौशनी में वह टंकी और भी भयावह लगती। जमीन पर पड़ती परछाई को देख कर एक पल को लगता टंकी की ओर टांगें उग आई हों। एक अजीब सा आकर्षण था, न चाहते हुए भी उस टंकी पर नज़र जरूर जाती। टंकी की ऑक्टोपस सी लंबी टांगें अपने गिरफ्त में कसती जाती जिससे छूट पाना मुश्किल लगता था। अचानक...

“अरे आरती भाभी! कब आना हुआ?”

सामने से मिसेज शुक्ला आती हुई नज़र आई।

“बस परसों ही आई हूँ, कल सुबह जाना भी है।”

आरती जी की आवाज़ में एक निराशा थी। ये दो दिन पंख लगाए कितने जल्दी उड़ गए। महीने में एक बार बच्चों से मिलने के लिए कितना इंतज़ार रहता था।

“अरे इतनी जल्दी...!”

“इनकी नौकरी ही ऐसी है। आखिर कब तक रुका जा सकता है।”

“बात तो सही कह रहीं हैं।”

“अब तो इनके रियटारमेंट के बाद ही आप लोगों के साथ फुर्सत से बैठ सकूँगी।”

“सच कहा भाभी आपने...”

ऋतु ने अपनी सास को देखा तो उनके पास चली आई। उसके साथ उसकी उम्र की ही लड़कियाँ थीं। शायद कॉलोनी में रहने वालों की किसी की बहुएं...

बेटियाँ तो सबकी ब्याह कर अपने-अपने ससुराल जा चुकी थीं। उनका आगमन भी मौसम की तरह ही होता। चुटकी भर सिंदूर भरते ही लड़कियों की किस्मत बदल जाती है। अपना घर मम्मी-पापा का घर या मायका हो जाता और नए रिश्ते जुड़ते ही नया घर ससुराल... इन घरों के बीच उनकी स्थिति त्रिशंकु की तरह होती जिसमें उम्र भर वह अपने हिस्से का घर ढूँढती रहती है।

आरती जी कॉलोनी के लोगों से बात कर रही थी। तभी...

“हाँ मम्मी बाहर रहती हैं, पापा जी की नौकरी ही ऐसी है उन्हें अकेला नहीं छोड़ा जा सकता परसों ही आई है।”

ऋतु ने सहज भाव से कहा

“तुम्हारी सास तुम्हारे साथ ही रहती है न...?”

आरती जी के कानों में यह बात गरम तेल की तरह गई। मानों किसी ने कानों में गर्म तेल डाल दिया हो। आरती जी ऋतु की तरफ खिसक आई।

“बेटा! ऋतु की सास उसके साथ नहीं ऋतु अपनी सास के साथ रहती है।”

आरती जी का सख्त लहजा देखकर एक पल के लिए वह लड़की सहम गई। यह बात काफी दिनों तक आरती जी के जेहन में गूँजती रही। कबीर की शादी को जुम्मा-जुम्मा छः महीने ही हुए थे। आरती जी को पति की नौकरी की वजह से उनके साथ ही रहना पड़ता था। खून-पसीने से बनाए घर में सिर्फ बहू और बेटा ही रह गए थे। बेटा ब्याह कर अपने ससुराल जा चुकी थी। अब तो रिटायरमेंट के बाद ही इस घर में रहना संभव था। आरती ने ऋतु को धीरे-धीरे करके गृहस्थी की चीजें समझा दी थी पर माँ माँ ही होती है और सास सास ही... माँ और सास के बीच हमेशा से एक अंतर रहा ही है।

आरती जी हमेशा सोचती थी जब ससुराल जाएंगी तो सब सीख जाएंगी की धारणा न जाने किसने बनाई थी। माँ अपनी बेटियों को पहले से सिखाकर गृहस्थी



## कहानी

के लिए क्यों नहीं तैयार करती। सपने और इच्छाएँ भी ससुराल में ही सबको क्यों पूरे करने होते हैं। जब जन्मदाता अपनी बेटियों के सपने और इच्छाओं को समझ नहीं पाते तो उसका बोझ ससुराल वालों पर क्यों लाद देते हैं। सास सीखा भी दे पर सास की बातें बहुओं को किस युग में अच्छी लगी हैं!

आजकल की लड़कियाँ वैसे भी घर-गृहस्थी के नाम से दूर ही भागती हैं। यूँ अचानक से आ जाने वाली जिम्मेदारियों से बहुएं घबरा भी जाती हैं। आरती जी मसाले, पापड़-चिप्स और अचार की तैयारी वहीं से करके यह सोचकर ले आती थी जिससे ऋतु को कोई दिक्कत न हो आखिर अकेली लड़की क्या-क्या करेगी?

आशा जी की गृहस्थी में महंगे ताम-झाम तो नहीं थे पर एक गृहस्थन की सुघड़ता उसका सुकून दूर से ही नजर आता था। हर महीने अलमारियों के अखबार बदले जाते। डिब्बों को धो-पोछ उन्हें नई दुल्हन की तरह चमकाया जाता। धनिया, हल्दी, मिर्च, गर्म मसाला, भुना जीरा और न जाने कितने तरह के खड़े और पिसे मसाले मसालदानी में रखे रहते। अलग-अलग खाने में रखे होकर भी वे मसाले एक जुड़ाव महसूस कराते थे।

घर में एक छोटी सी बगिया भी थी। इस छोटी सी बगिया में फूल खिलखिलाते रहते। एक कतार में गेरुए रंग में रंगे गमले नए रंग रूटों की तरह सांस रोके खड़े रहते। जिनमें खिले हुए गुलाब और गेंदे के फूल स्वागत के लिए हमेशा तत्पर रहते। एक गृहस्थन के सुघड़ हाथों का परिचय घर के द्वार से ही मिल जाता था। एक-एक कमरा शीशे की तरह चमकता रहता था। घर में महंगे फर्नीचर और पेंट नहीं थे पर सफाई और करीने से सजा हुआ घर भी सुंदर लगता था। बिस्तर पर बिछी चादर पर एक सिलवट भी ढूँढी नहीं जा सकती थी। जानती थी पति ने कितनी मेहनत करके इस घर को बनाया था। इस घर को बनाने में जितना आरती जी के पति का योगदान था उनके योगदान से भी मुँह मोड़ा नहीं जा सकता शायद इसीलिए इस घर में उनकी आत्मा बसती थी। इस घर

को उन्होंने सीमेंट और गारे से नहीं प्रेम, विश्वास और त्याग से बनाया था। इसकी एक-एक ईंट में उनकी आत्मा बसती थी पर वक्त बदला और वक्त के साथ घर की आबो हवा भी बदली।

आरती जी हमेशा से चाहती थी उनके घर में एक ऐसी बहू आए तो उनकी गृहस्थी को अच्छे से संभाल ले। ऋतु नए जमाने की लड़की थी। हर चीज को अपने तरीके से करना चाहती थी पर आरती जी अपना अधिकार ऐसे कैसे छोड़ देती, पर घर की सुख-शांति के लिए उन्होंने मुँह पर ताला लगा लिया था। हर महीने दो महीने पर जब भी वह घर आती घर में एक परिवर्तन दिखाई देता। अब वह घर घर नहीं एक होटल के रूप में परिवर्तित होता जा रहा था। जिसमें महंगे फर्नीचर, ब्रांडेड पर्दे टंगे हुए थे, यह सब देख कर उन्हें खुशी तो होती थी पर उन चीजों में अपनापन नजर नहीं आता था।

आरती जी की गृहस्थी में जुड़ी हुई हर चीज़ अपनी एक अलग कहानी कहती थी। आरती जी को एक-एक सामान के पीछे जुड़े हुए इतिहास की कहानी जुबानी याद थी। जिन अलमारियों में अखबार बिछे होते थे। आज वहाँ प्रिंटेड कागज बिछे हुए थे। दीवारों पर शांत पीले और हरे रंग के पेंट की जगह अब वॉलपेपर और टेक्सचर पेंट ने ले ली थी। यह परिवर्तन अच्छा था पर इस परिवर्तन में पैसा ज्यादा अपनापन कम था। वह उन दीवारों में उस अपनेपन को ढूँढ़ती रहती।

उन्हें आज भी वादन याद है, आरती जी रसोईघर में व्यस्त थी। प्रशांत जी के ऑफिस जाने का समय हो रहा था। तभी मोबाइल पर एक नम्बर फ्लैश हुआ।

“हैलो! नमस्ते मम्मी कैसी हैं आप...?”

“कबीर! इतनी सुबह-सुबह फोन किया, सब ठीक है ना...?”

कबीर का फोन देखकर एक पल को आरती जी के माथे पर चिंता की लकीरें उभर आईं।

“ऋतु तो ठीक है ना...?”

“हाँ मम्मी सब ठीक है। पापा कैसे हैं?”

## कहानी

“पापा ठीक है, नहाने गए हैं। तुम बताओ सुबह-सुबह फोन कैसे किया?”

आरती जी समझने की कोशिश कर रही थी पर कबीर का बेवक्त फोन आने से असमंजस में थीं।

“आप इस बार आएंगी तो आपके लिए बहुत बड़ा सरप्राइज है।”

“कैसा सरप्राइज...?”

आरती जी सोच रही थी। कबीर के दो बच्चे थे। दादी बनने की खुशखबरी तो नहीं हो सकती। फिर... इस उम्र में सरप्राइज के नाम पर उनका जी घबराने लगता था।

“अब बता भी दो, कैसा सरप्राइज है।”

“सरप्राइज आकर ही देखिएगा, अभी से बता दिया तो फिर सरप्राइज क्या रह जाएगा।”

आरती जी के चेहरे पर एक सहज मुस्कान आ गई। इतना बड़ा हो गया पर बचपना नहीं गया।

“ठीक है जैसी तुम्हारी इच्छा...”

आरती जी ने कहा

“अच्छा मम्मी फोन रखता हूँ। ऑफिस के लिए देर हो रही है। पापा को मेरा नमस्ते कहिएगा।”

आरती जी ने फोन रख दिया पर उनके दिमाग में ‘सरप्राइज’ शब्द घूमता रहा। वह समझ नहीं पा रही थी कि आखिर कबीर उनसे क्या कहना चाहता था। वक्त काटे नहीं कट रहा। कितनी बार सोचा एक बार ऋतु से पूछ लूँ पर ऋतु के साथ उनके रिश्ते ठीक-ठाक ही थे या यूँ कहिए जैसे सास और बहू के होते हैं बस वैसे ही थे।

आखिर वह दिन आ ही गया। एक महीने बाद जब आरती जी अपने घर पहुँची तो कबीर सबसे पहले उन्हें रसोई घर की तरफ लेकर गया। आरती जी का जी धक्क से रह गया। रसोई घर पूरी तरह से बदला हुआ था अब यह रसोई घर आरती जी की रसोई घर नहीं था उस परह मॉड्यूलर किचन की मोहर लग चुकी थी।

“मम्मी देखो ना कितनी जगह है। अब आप कितना

भी सामान रख लो कोई दिक्कत नहीं होगी। यह चिमनी भी लग गई है। धुंआ-मसाले की महक से भी कोई दिक्कत नहीं होगी।”

वह सोच रही थी जिन मसालों की खुशबू से उनकी भूख बढ़ जाती थी आज वह उसी खुशबू से बचने के उपाय सोच रहा था, नाक-मुँह सिकोड़ रहा था। कबीर बड़े उत्साह से चीजों को दिखा रहा था, उसने अलमारियाँ खोल-खोल कर दिखाई। हाथ के हल्के से दबाव से दराज बाहर आ गई। एक-एक पुलवेट करीने से सजी हुई थी। लाइटर और माचिस की तीलियों से जलने वाला गैस चूल्हा ऑटोमैटिक हो चुका था, जिसे जलाने के लिए लाइटर या माचिस नहीं बिजली की जरूरत थी। उंगलियों के इशारे पर बर्नर भक्क से जल उठा और नीलसी लौ से आगंतुकों का स्वागत करने लगा। उसने जैसे ही दूसरी दराज खोली पारदर्शी नए-नए डिब्बों में मसाले चमक रहे थे। आरती जी की आँखें अपनी उस मसालेदानी को ढूँढ़ रही थी जिसमें रखे मसाले की खुशबू उन्हें अपनी अम्मी की याद दिलाते थे। वह कोई साधारण मसालेदानी नहीं थी। उनकी शादी में अम्मा मुरादाबाद से कितने शौक से लाई थीं।

“बिटिया! इस मसालेदानी में रखे मसाले जिस तरह स्वाद को जोड़कर रखते हैं ससुराल में तुम अपने रिश्तों को भी जोड़कर रखना।”

अम्मा की बात आरती जी ने तोते की तरह रट लिया था। जीवन में न जाने कितने उतार-चढ़ाव आए पर जिस तरह इस मसालेदानी में रखे मसालों ने खाने के स्वाद को नहीं छोड़ा, ठीक वैसे ही उन्होंने जीवन के कठिन समय में रिश्तों को नहीं छोड़ा। अलग-अलग डिब्बों में रखे धनिया, हल्दी, मिर्च अपनी एक अलग कहानी कह रहे थे। जिस मसालेदानी में रखे हुए मसालों में भी वह एक रिश्ता ढूँढ़ लेती थीं, आज वह अलग हो चुके थे। आरती जी सोच रही थी, “क्या महंगे रसोई घर में बने खाने में उतना ही स्वाद आएगा?”

शायद हाँ शायद न... धीरे-धीरे चीजें बदलती जा

## कहानी

रही थी। आरती जी सब कुछ समझ रही थी और देख भी रही थी। यह परिवर्तन अच्छा भी था पर इस परिवर्तन के साथ वह अपने घर जैसी चीज से दूर होती जा रही थी। उनका अपना घर अब उनका घर नहीं रह गया था। एक अजीब सी कसक दिल में हिलोर मारती रहती। आखिर प्रशांत जी का रिटायरमेंट ही हो गया। वर्षों से बच्चों के साथ रहने की उनकी साध पूरी हो चुकी थी। आरती जी अपना सारा सामान लेकर अपने घर वापस आ गई थी।

अपना घर! अपना घर जिसमें प्रशांत जी के नेम प्लेट के अलावा कुछ अपना नहीं रह गया था। ऋतु अब नयी नवेली बहू नहीं थी अब वह पंद्रह साल पुरानी पत्नी थी और कबीर के हिसाब से उसे गृहस्थी अच्छे से संभालनी आती थी। चार दिन के लिए आने वाली सास के आगे-पीछे डोलने वाली ऋतु के लिए अब तीन सौ पैंसठ दिन और चौबीस घंटे सास के साथ सामंजस्य बिठाना आसान नहीं था। पंद्रह साल से अकेले स्वतंत्र और स्वच्छंद रहने वाली ऋतु का सास-ससुर की वापसी उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश सी लग रही थी। जिन दीवारों पर घर के बड़े-बुजुर्गों की तस्वीरें लगी थीं, वहाँ डेकोरेटिव पीसेस ने जगह ले ली और पुरानी तस्वीरें स्टोररूम में धूल खा रहीं थीं।

आरती ने दबे स्वर में अपने बेटे से कहने की कोशिश भी की थी पर उनकी आवाज कहीं दब गई थी।

“मम्मी आप भी न किस जमाने में जीती हैं। पापा की उस छोटी सी तनख्वाह में हमारी जरूरतें तो पूरी नहीं हो पाती थी, घर कहाँ से सजाते। आज मैं ठीक-ठाक कमाने लगा हूँ तो फिर खर्च क्यों न करूँ!”

ऋतु के चेहरे पर एक व्यंग्यात्मक मुस्कान थी। आरती जी कसमसा के रह गईं। जरूरतें! आरती जी सोच रही थीं कबीर की कौन सी जरूरत पूरी नहीं हो पाई? उसके बेहतर भविष्य के लिए प्रशांत जी अपने बुढ़ापे के लिए रखी एफ डी तक तुड़वा दी थी यह बात उससे छिपी भी नहीं थी। आज वही बेटा अपनी जरूरतें पूरी न होने का

रोना रो रहा था। पिता की जिस छोटी कमाई से उसे घिन्न आती थी। वह यह भूल गया था उसी छोटी कमाई से उन्होंने उसे इस काबिल बनाया था कि आज वह उन्हें ही ताने मार रहा था।

आरती जी सोच रही थी जब कमाई कम थी तब घर में खुशियाँ थी आज कमाई बढ़ गई तो खुशियाँ नदारत थी। किसी को किसी के पास पल भर बैठने की फुर्सत नहीं थी। उन्हें आज भी वह दिन याद है।

“ऋतु कहाँ है?”

आरती जी ने अपने कबीर से पूछा था। कबीर ने दीवार पर लगी खूबसूरत घड़ी पर नजर डालते हुए कहा—

“ऋतु! मम्मी पीछे पार्क गई होगी। इवनिंग वॉक का टाइम है न...”

“इवनिंग वॉक? ये क्या बला है?”

आरती जी ने वक्त से साथ बूढ़ी हो चली आँखों को फैलाकर कहा, उन आँखों में न जाने कितने प्रश्न झिलमिला रहे थे। शाम के वक्त वह घर से बाहर जाने की सोच भी नहीं सकती थी। प्रशांत जी के ऑफिस से लौटने का समय होता था। आरती जी की सांझ प्रशांत जी के ऑफिस से लौटने के साथ शुरू होती थी। प्रशांत जी चाहते थे जब ऑफिस से लौट कर आए तब उनकी बीवी उनकी आँखों के सामने हो। प्रशांत जी ही नहीं कबीर भी तो बचपन में ऐसा ही था। स्कूल से लौटने पर गेट से ही मम्मी-मम्मी कह कर चिल्लाने लगता।

आरती जी को आजकल की लड़कियों का मिजाज ही समझ नहीं आता। कबीर को नाश्ता-पानी देकर ऋतु इवनिंग वॉक के लिए निकल गई थी। प्रशांत अकेला बैठा टीवी के सामने नाश्ता टुंग रहा था। आरती जी को अपने दिन याद आ गए जब प्रशांत जी के ऑफिस से लौटने के बाद वह गरम-गरम नाश्ता उनके सामने परोसती थी।

“चाय, नाश्ते के साथ लेंगे या बाद में...?”

“चाय चढ़ा दो, जब तक नाश्ता खत्म होगा तब तक चाय भी बनकर तैयार हो जाएगी और हाँ अपनी चाय

## कहानी

भी साथ ही लेकर आना।”

चाय की चुस्कियों के बीच दिनभर की कितनी बातें होती थी। प्रशांत जी ऑफिस का हाल-चाल बताते और आरती जी दिन की गतिविधियों से प्रशांत जी को परिचित कराती। आज के बच्चे जिस क्वालिटी टाइम की तलाश में शहर से बाहर जाते हैं वह क्वालिटी टाइम आरती जी की जिंदगी में हर रोज आता था। वह महज चाय नहीं पी थी, पति के साथ चाय की चुस्कियों के साथ लुफ लेते वे दिनभर की कार्यों के बारे में बातचीत उनके रिश्ते को मजबूत भी करती थीं, पर ऋतु इस बात को क्यों नहीं समझ पा रही थी? आश्चर्य तो उन्हें इस बात का था कि कबीर को भी ऋतु के इस व्यवहार से कोई दिक्कत नहीं थी।

उस दिन भी यही हुआ था। ऋतु कबीर को नाश्ता देकर इवनिंग वॉक के लिए पार्क चली गई थी।

“दिन भर घर में ही पड़ी रहती हो पीछे पार्क तक टहल आया करो। डॉक्टर ने वैसे भी टहलने को कहा है। टहलना भी हो जाएगा और लोगों से मिलना भी...”

उस दिन प्रशांत जी ने आरती से कहा था। आरती जी का जाने का मन तो नहीं था पर घर में बैठे-बैठे वह भी उब जाती थी। ऋतु भी अब उनके पास नहीं बैठती थी। आखिर आरती जी पार्क की ओर चल पड़ी। कितने दिन हो गए थे पार्क की तरफ गए हुए। पानी की टंकी भी वक्त के साथ बूढ़ी हो चली थी। जगह-जगह से पेंट और प्लास्टर उखड़ गया था। चोर टंकी के चारों तरफ लगी ग्रिल का काफी हिस्सा काट ले गए थे। उसके उन लंबे पैरों में कोई ने घर बसा लिया था। कई जगहों से पानी टप-टप टपक रहा था। एक पल को लगा मानों वह अपनी बदहाली पर टेसुए बहा रहा हो।

आरती जी के घुटनों को आर्थराइटिस ने जकड़ लिया था। एक-एक कदम भी भारी पड़ते थे। आरती जी छोटे-

छोटे कदमों से पार्क की तरफ चल पड़ी। पार्क में हर उम्र के लोग दिख रहे थे। खासकर बुजुर्गों की संख्या ज्यादा थी। पता नहीं यह भ्रम था या फिर कुछ और आरती जी को लगा घरों में पसरे अकेलेपन से ऊबकर सब कुछ पल के लिए लोगों का साथ पाने चले आए हो। आखिर इंसान थे, इंसान को इंसान का साथ तो चाहिए ही...

“अरे भाभी जी आप, बहुत दिनों बाद आना हुआ। अब तो भाई साहब भी रिटायर हो गए। अब तो आया करिए। इसी बहाने मिलना हो जाएगा।”

आरती जी को देख शुक्लाइन के झुर्रियों से भरे चेहरे पर मुस्कराहट आ गई।

“आना तो चाहती हूँ पर यह घुटना ही साथ नहीं देता।”

“समझती हूँ, उम्र में यह सब तो लगा ही रहता है। घर में कोई कितना बैठे कितना टीवी देखे। जदी घबरा जाता है। हम दोनों मिया-बीबी कितना एक-दूसरे से बातें करेंगे। कम से कम आपके बेटा-बहू तो आप के साथ रहते हैं। हमारे तो हमें छोड़कर परदेश उड़ गए।”

शुक्लाइन जी की आवाज में एक अजीब सा दर्द था। आरती जी धीरे से बुदबुदाई।

“बहू मेरे साथ नहीं मैं बहू के साथ रहती हूँ।”

सच ही तो कहा आरती जी ने खून-पसीने और न जाने कितनी इच्छाओं को मारकर उन्होंने यह घर बनाया था। एक-एक दीवार उनके संघर्ष की कहानी कहते थे। सोचा था प्रशांत जी के रिटायरमेंट के बाद बच्चों के साथ एक साथ रहेंगे पर जिस घर को वह छोड़कर गई थी वह घर वह तो था नहीं... गलत कोई नहीं था। न ही आरती जी और न ही ऋतु पर कुछ तो गलत था शायद वक्त...! इन दिनों माँ की मसालदानी बहुत याद आती थी, आरती जी ने रिश्तों को जोड़े रखने की बहुत कोशिश की थी, पर मसालों की तरह रिश्तों की खुशबू भी अब उड़ चुकी थी।

**संपर्क :** लाल बाग कॉलोनी, छोटी बसही, मिर्जापुर,

उत्तर प्रदेश - 231001, मो॰ : 9415479796

Email : rajnjana1nzp@gmail.com

## मेरा प्रथम पुरुष मित्र

- संदीप तोमर

जब से कला की समझ पैदा हुई अमूमन तब से कूची हाथ में पकड़ कैनवास पर अपनी कल्पनाओं को आकार देना मेरी सबसे बड़ी हॉबी बन गया। मुझे लगता कि चित्रकार का कूची से रंग भरना और पेंटिंग को जीवंत बना देना बिल्कुल वैसा ही है जैसे कोई कहानीकार किसी कथानक को अपनी संवाद कला से मुकम्मल बना देता है। हाँ! कौतुभ भी तो कहानीकार ही था— कहानियाँ लिखना, उन्हें अमरत्व तक ले जाना उसका शगल था, कहानियाँ लिखते-लिखते वह उन्हें जीने लगता था, उसकी कहानियाँ मस्तिष्क को इतना उद्वेलित कर देती हैं कि उन्हें पढ़ खुद-ब-खुद कोई नया पोट्रेंट बनने लगता, मुझे लगता जैसे उसका कहानी लिखना और मेरा कूची चलाना दोनों ही प्रकृति द्वारा तय था, उसकी कलम और मेरे ब्रश का जैसे कोई पुराना नाता था। वह अपनी कहानियों में प्रेम को जीता, मेरे रंग भी प्रेम को ही उकेरते प्रतीत होते, जब कभी कोई प्रदर्शनी होती, पेंटिंग को चाहने वाले, दार्शनिक उनमें प्रेम को ही व्याख्यायित कर रहे होते, तब मुझे सुनकर अच्छा लगता, कौतुभ भी तो कितनी ही बार मेरी पेंटिंग की प्रदर्शनी में आता, मुझे एक संबल मिलता उसके उपस्थित होने मात्र से।

जब कभी कौतुभ को याद करती हूँ, तब उसके चेहरे की रंगीनियत बिखरे घुँघराले बाल, और उसके सुख गहरे गुलाबी मुस्कान से भरपूर होठ मेरे जेहन में एक आकृति से घूमने लगते हैं और अनायास ही मेरे होंठो पर मुस्कान फैल जाती है, कभी-कभी वह मुस्कान कानों तक को छूने लगती है।

आज फिर उसका चेहरा आँखों के सामने हैं, मानो कल ही की बात है, जब वह मेरे शहर झाँसी आया था। झाँसी यूँ तो कोई बड़ा शहर नहीं है, लेकिन साहित्य-प्रेमी इस नगरी में इतने हैं कि महानगर से तुलना करें तो इधर की संख्या कहीं अधिक होगी। झाँसी की चर्चित लेखिका निधि जायसवाल की नई किताब की रिलीज पर कौतुभ मुख्य वक्ता था। कार्यक्रम कक्ष के मंच के ठीक पीछे लगे पोस्टर पर कौतुभ की तस्वीर को देख कोई भी अंदाज नहीं लगा सकता था कि चिर युवा दिखने वाला शख्स कोई गंभीर चिंतक भी हो सकता है, चित्र से ही उसका आभामंडल किसी को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त था, मैंने खुद को किसी भी पूर्वाग्रह से अलग करने की कोशिश की। अभी हॉल खाली था, उद्घोषक ने अतिथियों के स्वागत के लिए माइक से घोषणा करनी शुरू की। मेरे हृदय की गति सामान्य से कुछ अधिक थी, शायद आँखें उस शख्स को देखने को लालायित हुई, मैंने खुद को नियंत्रित करने की कोशिश की, मेरे होंठ उस पल बुदबुदाये थे, “दीपशिखा! तुममे तो ये उतावलापन कभी नहीं रहा फिर आज...?”

कुछ सोच पाती उससे पहले ही उद्घोषक ने कहा— “हमारे समय के बड़े आलोचक, कथाकार कौतुभ हमारे बीच उपस्थित हैं, हम उनका हृदय की अतल गहराइयों से स्वागत करते हैं।”

सबकी निगाहें कौतुभ को देखने को हाल में घूमने लगी, दायी तरफ की तीसरी पंक्ति से एक शख्स उठा, हाथ में छड़ी लिए, शायद सहारे के लिए छड़ी को लिए हो, एक बारगी मन में आया— “कौन है ये शख्स?” अगले ही पल मन में विचार उठा— “कहीं ये कौतुभ तो नहीं?” मेरा मन एक अजीब सी आशंका से घिर गया, कुछ पल पहले मन में बनी कितनी ही आकृतियाँ ध्वस्त होने लगी। वह मंच की ओर बढ़ रहे थे, मन में विचार आया— खड़ी होकर उनके पास जाकर उन्हें सहारा दूँ, अगले ही पल खुद के विचार को खुद ही ध्वस्त भी कर दिया— “नहीं, शिखा, इस मुकाम तक पहुँचने वाला



व्यक्ति कितना स्वाभिमानी रहा होगा, तुम कैसे उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचा सकती हो?”

कौतुभ छड़ी के सहारे धीरे-धीरे मंच की ओर बढ़ रहे थे, इतने आदर-सत्कार से शायद उनका मन भी रोमांचित हो, ऐसा मैंने सोचा, अगले ही पल लगा— ऐसे मौके तो उनकी जिंदगी में अकसर आते होंगे। अब वे मंच पर अपनी निर्धारित सीट पर बैठ गए। उनकी बारी आने तक मैं टकटकी लगाए उन्हें देखती रही थी। इस बीच मैंने भी एक रचना पढ़ी। कौतुभ ने अपने वक्तव्य में मेरे रचना पाठ का जिक्र करते हुए कहा— “मंच पर कैसे पढ़ा जाता है ये दीपशिखा से सीखा जाना चाहिए।” सुनकर मेरी आँखों से आँसू ही टपक गए, आँसू पोछते हुए मेरे चेहरे पर मुस्कान आ गई। इतनी महान शख्सियत से खुद की तारीफ सुन, मैं गदगद हुई थी। लगा कि मजाक कर रहे होंगे, लेकिन कोई ऐसे मंच पर भला क्यों कर मजाक करेगा और वो भी जब तक कोई औपचारिक परिचय भी न हो। हृदय की धड़कने भी कुछ तेज अवश्य ही हुई थी। मैं उनके हर शब्द को ध्यान से सुनती रही थी। कोई मुझसे पूछता तो कह देती— “पूरे कार्यक्रम को एक पलड़े में रखूँ और दूसरे में कौतुभ सर को, दूसरा पलड़ा ही भारी होगा।”

कार्यक्रम खत्म हुआ, कौतुभ मंच से उतरे, एक भीड़ उनके गिर्द जमा हो गई, ऑटोग्राफ लेने में लगभग नए लोग थे तो कुछ पुराने से पुराने लेखक भी उन्हें किताबें भेंट कर रहे थे। मेरे कानों में शब्द पड़े— “सर, आप बड़े आलोचक हैं, कुछ मेरी किताब पर भी लिखिए।” कौतुभ सिर्फ मुस्कुरा रहे थे, उनका सेक्रेटरी किताबें उनके हाथ से पकड़ लेता और डिनर हाल तक जाने के लिए रास्ता बनाने की कोशिश करता।

अगले पल सब डिनर हाल में जमा थे, अब सबका ध्यान खाने पर था। कौतुभ के पास इक्का-दुक्का लोग अभी भी थे। मन में ख्याल आया— अपनी उपस्थिति दर्ज कराई जाए, मेरे कदम उनकी तरफ चल दिए।

“सर, कुछ लाऊँ आपके लिए?” - बिना औपचारिक हुए मैंने कहा।

“ओह, दीपशिखा, तुम!”

उनका नाम से संबोधन मन के कोर छू गया।

“जी, क्या लेना पसंद करेंगे आप?”

“सेक्रेटरी है साथ में, यूँ तो उसे मेरी च्वाँइस का अंदाजा है, लेकिन अगर आप चाहती ही हैं कुछ खिलाना, तो आपकी प्लेट काफी है, इजाजत दो तो इसमें भी खा ही सकते हैं।”

उनकी सादगी में बोला वाक्य सुन मुझे महसूस हुआ कि कुछ वेव हैं जिनमें मैं उड़ी चली जाती हूँ, मैं कुछ सोच पाती या रिप्लाय कर पाती, उन्होंने सलाद के दो पीस प्लेट से उठा लिए। बड़े लोग दिल से भी बड़े होते हैं, विचारों से भी, यह कथन मुझे सच होता प्रतीत हुआ।

कौतुभ को देख मेरी जुबान तालु से चिपक गई, कुछ पल मौन रहा, उन्होंने चुप्पी को तोड़ा— “दीपशिखा! तुम्हारी आवाज में एक खनक है, एक रवानगी है, तुम कुछ अच्छी कहानियाँ रिसाइट करो, किसी बड़े प्लेटफॉर्म के लिए।”

मैं, मौन हो गई थी। उस दिन घर आकर मैंने डायरी में लिखा था— “आज एक कार्यक्रम में एक शख्सियत से मिली, जिसके शब्दों में सम्मोहन था, जिसने मेरे खुद की जिंदगी के लिए बनाए मेरे ही नियमों को ध्वस्त कर दिया, जिसकी बातों से मन में एक अजीब सी बेचैनी है। वह शख्स बड़ा अजीब है, बोलता है तो उसका प्रवाह भावुक से भावुक और दृढ़ से दृढ़ इंसान को अपने ही रौ में बहा ले जाए, जो चिराग की तरह दैदीप्यवान है।” उस दिन घंटों मैं कौतुभ के बारे में ही सोचती रही थी, मैंने डायरी के एक कोने में लिखा— “मेरे प्रथम पुरुष मित्र”।

संयोग से दो दिन बाद आर्ट गैलरी में मेरी पेंटिंग्स की एग्जीविशन थी, मैं गेट पर ही कुछ मित्रों के आने का इंतजार करते हुए टहल रही थी। किसी स्टिक की ठक-ठक से मैं चौंक उठी— “कौतुभ!”

हाँ, ये कौतुभ ही थे। कदम उनकी ओर चल पड़े, उन तक पहुँची भी नहीं थी कि उन्होंने ही आवाज लगाई— “दीपशिखा! तुम यहाँ, आर्ट गैलरी में?” “जी, आज मेरी पेंटिंग्स की एग्जीविशन है। आओ! मैं आपको दिखाती हूँ।” हम दोनों हॉल की ओर बढ़ गए, मैंने कहा—

“आपसे यहाँ दोबारा मुलाकात होगी, सोचा भी न था।” कौतुभ पेंटिंग्स को बड़े ध्यान से देख रहे थे, एक पेंटिंग पर जाकर उनकी निगाह थम गई। कुछ देर ध्यानमग्न से देखते रहे, फिर बोले— “दीप! ये इस पेंटिंग में तुमने जो रंग इस्तेमाल किए हैं, ऐसे ही रंग लियोनार्दो दा विंची भी इस्तेमाल किया करते थे। मोनालिसा या ला गियोकोन्डा बनाते हुए उन्होंने ऐसे ही रंगों को इस्तेमाल किया था।” कहते हुए वे आगे बढ़ गए। एक और पेंटिंग पर आकर फिर रुके। बड़े ध्यान से निरीक्षण करते हुए बोले— “यह जो विचारमग्न स्त्री का चित्रण तुमने किया है, इसकी अत्यंत हल्की मुस्कान इसे जीवंत करती है। इसकी तुलना पोर्ट्रेट ऑफ मैडम रेकमेयर से की जा सकती है। वह भी संसार की संभवतः प्रसिद्ध पेंटिंग्स में से एक है, जिसे दृश्य-कला की पर्याय कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस पेंटिंग में जैक्स ने जूलियट को नोकलोसिस फैशन में बैठे हुए दिखाया था, जिसके छोटे बाल पेंटिंग में चार चाँद लगा रहे थे, इस पेंटिंग में भी वैसा ही आकर्षण है, वैसा ही सम्मोहन है। क्रिमजन लहराते दुपट्टे और साथ में सिएना की जरी की किनारी ने इसे और बेहतरीन बना दिया।”

पेंटिंग बनाते हुए मेरा अपना नजरिया था, लेकिन आज कौतुभ के नजरिए से देखा तो महसूस हुआ कि वाकई कोई पेंटिंग तब तक मौन ही रहती है जब तक कि कोई कौतुभ जैसा पारखी उससे रू-ब-रू हो गुप्तगूँ न करे। मुझे हैरानी भी हुई कि साहित्य का एक आलोचक पेंटिंग्स पर भी कितनी गहरी समझ रखता है। कौतुभ रंगों के समायोजन, सेट्स, कलर एफेक्ट्स, सब तरह की गहरी समझ रखते हैं, ये मुझे धीरे-धीरे पता चल रहा था।

“रंगों में हमें सम्मोहित करने की अब्दुत क्षमता होती है, स्केच का अपना महत्व है, लेकिन रंग हर आकृति को शब्द देते हैं, रंगों के समायोजन से पेंटिंग्स जीवंत हो उठती है, एक उपन्यास, कहानी, कविता, नज्म सब कुछ उसमें समाहित होता जाता है, मानो रंग खुद एक-एक हिस्से की व्याख्या कर उठते हों।”

मैं मंत्रमुग्ध हो कौतुभ को सुन रही थी, मुझे लगा

मानो चित्रकार मैं नहीं, स्वयं वे हैं जो पेंटिंग की व्याख्या कर रहे हैं। मुझे अहसास हुआ, साहित्य, कला, इतिहास, प्रकृति, कोई विषय भी तो उनसे अछूता नहीं था।

पेंटिंग्स देखने के बाद हम आर्ट गैलरी के दाहिने ओर बने कैफीटेरिया में आ गए। ग्रिल्ड सैंडविच और कॉफी के साथ बातचीत एक और दौर शुरू हुआ।

“उस दिन और फिर आज, अच्छा लगा आपसे मिलकर।” – मैंने औपचारिकतावश कहा।

“कार्यक्रमों की अच्छी बात होती है नए मित्रों से मिलना और खराब ये कि कम बात हो पाना।”

“जी, अच्छा ही देखें, संचार क्रांति चरम पर है, पूरी दुनिया एक पटल पर सिमट आई है, बातें तो कभी भी, कहीं भी हो सकती हैं। उस कार्यक्रम में आप बहुत अच्छा बोले, मैं हर शब्द को बड़ी तन्मय हो सुन रही थी, गुण रही थी।”

“मेरे शहर के लोगों ने मुझे सुना, स्टेज के बाद मुझे सराहा। अच्छा अनुभव मिला।”

“मेरे पास शब्द नहीं आपकी प्रशंसा में, आपकी निष्पक्षता की तो कायल हूँ ही, लेकिन इधर सब लोगों को मीठे की लत लग गई, भले ही मधुमेह क्यों न हुई हो, वैसे मुझे नीम पसंद है।”

“वही समस्या है। इससे साहित्य और आलोचना विधा दोनों का नुकसान है। आपने उस दिन सुना— कैसे कीर्तिसुमन ने मेरी बात के उलट बात कहनी चाही कि पुस्तकों पर चर्चा में आलोचनात्मक बात न हो, उनकी बातों से मैं रत्तीभर सहमत नहीं हो सकता। आलोचक किसी लेखक को कैफे में ले जाकर तो नहीं कहेगा कि किताब में इन-इन बातों पर विचार करना। सब कुछ अच्छा कहा जाएगा तो दुर्बल पक्ष से नव-लेखक कैसे आत्मसात होंगे?”

“निंदक नियरे रखने का मादा ही न रह गया, आत्ममुग्धता का युग है।”

“कहानी कविता से अधिक मुश्किल विधा है। मैं अकसर कहता हूँ— हर घटना कहानी नहीं हो सकती। बतौर आलोचक मैं आलोचना के दायित्व का निर्वहन भी करता हूँ। हमें दूसरों के कारण अपना निज नहीं

छोड़ना चाहिए। मैं तो अपने मूल स्वभाव में रहता हूँ।”  
कॉफी की गर्माहट और बातों में साम्य ने मुझे कुछ ज्यादा ही रोमांचित कर दिया था। कौतुभ एक पल मेरे चेहरे पर टकटकी लगाए हुए विषयांतर हुए— “हाँ, एक बात है एक फोटो साथ में होनी चाहिए थी उस दिन यादगार के लिए।”

“कोई नहीं... ये आखिरी बार तो न था, फिर आ जाइएगा कभी, दिल्ली दूर तो नहीं।”

“अभी गया ही कहाँ हूँ, यहीं तो हूँ— आपके शहर में, अपने शहर में।” — मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ, चेहरे पर झेंप को कौतुभ पढ़ पा रहे थे।

“जब-जब आप लोग बुलाएँगे। मैं चला आऊँगा, अपना मुल्क (शहर) पुकारता है तो कदम खुद-ब-खुद चल पड़ते हैं।” कौतुभ ने मेरी गलती को नजरअंदाज करते हुए कहा—

“जी, अवश्य, यूँ भी माटी की पुकार मूक होती है। झाँसी की माटी ने खूब दिया है देश को... स्वतंत्रता सेनानी भी, साहित्यकार भी।” “और बातों का मिठास भी...।”

कौतुभ ने मेरा चेहरा निहारा।

“जी, वो तो आपके शब्दों में भरपूर हैं, मानो मिश्री घोलकर चलते हैं आप।”

“आप मेरी आत्मकथा ‘कुछ दर्द कुछ मिठास’ पढ़ें। आपको एक नया फ्लेवर मिलेगा और आप सहज ही जान पाएँगी— इस मिश्री घुले शब्दों के जादूगर की जिंदगी में कितनी कड़वाहट है?”

कौतुभ कुछ गंभीर हो गए थे। उन्होंने कॉफी का अंतिम घूँट ऐसे भरा मानो जीवन की सब कड़वाहट एक ही घूँट में नीचे ले जाना चाहते हों।

कौतुभ को जाना था, मैं उन्हें आर्ट गैलरी के बाहर तक छोड़ने साथ में जाना चाहती थी, उनका सेक्रेटरी हाथ में दो-तीन पैकड पेंटिंग्स लिए आ गया था। मैंने औपचारिक अभिवादन कर उन्हें विदा किया।

कौतुभ के व्यक्तित्व का आकर्षण ही था कि उन्हें हर सोशल साइट्स पर खोजने लगी, उनके व्यक्तित्व के हर पहलू को जानने की आकांक्षा मन में पल रही थी।

फेसबुक, इंस्टा, सब जगह उन्हें खोजकर पढ़ने की, जानने की, समझने की कोशिश की। इतमीनान हुआ कि जिसे पहले पुरुष होने का दर्जा दिया, वह उसके बेहद उपयुक्त है। अभी इंस्टा पर कौतुभ की तस्वीरें देख ही रही थी, मोबाइल पर उनका नाम डिस्टले हुआ। ये व्हाट्सएप मैसेज था— “कल का वार्तालाप अपने आप में कुछ नए साहित्य की दस्तक था।”

“आपको बधाई! हमारा सौभाग्य है कि इतनी नामीगिरामी हस्ती यूँ हौसला बढ़ाए।”

“एक चित्रकार के पहले पुरुष मित्र होने का लाभ भी सौभाग्य ही है।”

“जान लेकर रहेंगे... आप भी और मेरी सहेलियाँ भी...।”

“नहीं, लंबा चलना है, मीलों लंबा..., जान ले ही तो हत्या का पाप और आरोप दोनों हमारे माथे का कलंक न बन जाएँगे?”

“...”

“हर पल का आनंद लेना ही जिंदगी का फलसफा हो। कौन क्या करेगा उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए। इतनी छोटी सी जिंदगी में लोगों की ही परवाह कर हम अपनी जिंदगी जीना अकसर भूल जाते हैं। कहाँ, क्या और कितना छूटा इसकी भी क्यों परवाह करना?”

“कितना, कहाँ छूटे...?” — मैंने चुटकी ली।

“बात जिंदगी का सफर कम करने की है, अपना मन पॉकेट में रहता है तो कहीं छूट नहीं पाया। वरना तो बहुत कुछ छूट जाता।” — मालूम हुआ कि कौतुभ हास्य, विनोद में भी निपुण हैं। अब कौतुभ से बातों का सिलसिला आम हो गया। झाँसी से लौटने तक कुल जमा तीन मुलाकातें हुई। उनके बारे में जितना जान पाई उसे शब्दों में कहूँ तो कहना होगा— “आदि, अनादि से अनंत अंत तक तारीखों के भंवर में है..., चल रहे हैं लक्षित से अलक्षित... बस सफर में है।”

कौतुभ की छड़ी की ठक-ठक कभी भी कानों में गूँज उठती। ऐसा ही उस शाम हुआ था, ये भी एक इत्तेफाक की रात थी। मैं खाना बनाने में व्यस्त थी, खीर बनाते हुए कौतुभ की याद आई। कौतुभ को खीर पसंद है,

ऐसा उन्होंने कई मर्तबा बताया। पिस्ता डालते हुए याद आया उन्हें पिस्ते के साथ केसर का स्वाद भी चाहिए होता है। मन से एक आवाज आई— “काश! कौतुभ यहाँ होते, उन्हें खीर खिलाती।” ख्यालों में खोई थी कि डोरबेल बजी, दरवाजा खोलने गई तो देखा— कौतुभ ही थे, एकदम वही, मेरे प्रथम पुरुष मित्र, मेरे सखा— कौतुभ। आश्चर्य इतना कि उन्हें अंदर आने तक को न कह पाई, वे ही बोले— “दीप! दरवाजे से हटो तो अंदर आऊँ।”

मैं दरवाजे से साइड हुई तो वह छड़ी की ठक-ठक के साथ अंदर कदम रखते हुए बोले— “वाह! केसर की खुशबू! लगता है आज केसर, पिस्ता की खीर बनी है।” मैं सोचती रही— “प्रकृति आखिर कैसे-कैसे संयोग करती है, इधर मन से उन्हें याद किया और वो इधर हाजिर?”

कौतुभ को मैंने मीठे के साथ पानी दिया और उनके नाश्ते की प्लेट सजाने किचन में चली गई। नाश्ता करते हुए वे शांत थे, मानो किसी सरोवर का जल हो, जिसमें हवा का झोंका ही हलचल कर सकता है। उस पल मेरे पास भी मानो शब्द-शब्द न रहे। उन्हें नाश्ता करते देखती रही एकटक। कई बार बस एक मौन... एक चुप्पी बहुत कुछ कहने को पर्याप्त होती है। मौन अच्छा है... जीवन के उद्देश्य की ओर ले जाने वाला...

कौतुभ ने कहा— “दीप! आज ही ट्रेन से वापिस दिल्ली जाना है, चाहता तो था कुछ दिन यहाँ रुकना, लेकिन कल एक छोटी सी सर्जरी है, पहले डॉक्टर से अप्वाइंटमेंट फिक्स है।”

सर्जरी के नाम से थोड़ी घबराहट हुई, लेकिन कौतुभ ने बताया— “एक माइनर सा ऑपरेशन है, ये चश्मा बहुत तंग करता था, अब इससे हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाएगा। जाते-जाते वे मेरे हाथ में अपनी आत्मकथा ‘कुछ दर्द कुछ मिठास’ की प्रति दे गए। जाते हुए बोले, जब कभी इस दोस्त की याद आए, इसके पन्ने खोलकर पढ़ लिया करना। लगेगा। मुझसे ही बतिया रही हो।

कौतुभ चले गए, जाते हुए भी उनकी छड़ी की आवाज मेरे कानों में देर तक गूँजती रही थी। मन था कि उनसे कहूँ— “कर दिए हैं मोह के सब दरवाजे बंद, दिल, दुखों

के सिवा देते भी क्या हैं।” अगले पल लगा कि अपने दुखों से नहीं, बल्कि दोस्ती को सुखों से सींचना होगा।

जाने क्यों, कौतुभ के जाने के बाद मेरा मन अजीब से अवसाद में घिरने लगा, रात के करीब ग्यारह बजने को थे। मैं सुबह जल्दी उठने के चलते रोज ही जल्दी सो जाती, आज आँखों से नींद कोसो दूर थी, आँखें बरबस ही गीलेपन का अहसास दे रही थी। मुझे लगा, ज्यादा मोबाइल के प्रयोग से भी ऐसा होता है। मोबाइल को साइलेंट मोड पर करके सोने की कोशिश करने लगी। जाने कब आँख लगी। सुबह उठी तो हर रोज की तरह मोबाइल हाथ में उठाई, देखा— कौतुभ की कई मिसड कॉल्स थी। इधर से कॉल की तो मोबाइल स्विच ऑफ था। मुझे लगा शायद बैटरी खत्म हुई हो। हार्टसएण खोला तो कौतुभ का मैसेज था। पढ़ने से अंदाजा हुआ, ये मैसेज कौतुभ ने नहीं भेजा, किसी और ने लिखा था। पढ़कर मेरी आँखों से आँसू बह निकले। अस्त-व्यस्त हालत में मैं बिना बालों को कंधा किए, सड़क पर आई। छोटे शहरों में सुबह के वक्त ऑटो भी कम ही मिलते हैं, जैसे-तैसे एक रिक्शा मिला, मैंने रिक्शे वाले को कहा— “जिला अस्पताल।”

रिक्शा जिला अस्पताल पहुँचा तो मैं रिक्शा से उतर पैसे चुकता कर पूछताछ काउंटर पहुँची। कौतुभ को ऑपरेशन थियेटर ले जाया जा चुका था। यहाँ आकर पता चला कि मोबाइल से स्थानीय नंबर देखकर अस्पताल से ही मुझे कॉल और मैसेज किए गए थे। सड़क एक्सीडेंट में कौतुभ को काफी चोट आई थी।

ऑपरेशन थियेटर के बाहर बैठ इंतजार के अलावा कुछ नहीं किया जा सकता था। चित्त एकदम अशांत... मानसिक रूप से खुद को नियंत्रित करना भी जरूरी था, उनकी टाइमलाइन पर उन्हें पढ़ने लगी। उनके फोटोज देखते हुए एक फोटो पर निगाह टिक गई— ये एक दाढ़ी वाली फोटो थी। कौतुभ के बाल बेतरतीब बढ़ें और बिखरे थे, उस पर सुंदर औरतों के कमेंट्स भी थे। कौतुभ उसमें बहुत ही मासूम और प्यारे लग रहे हैं। इस प्यारी सी फोटो के साथ दिए कैप्शन पर निगाह गई— प्रेम की गलियाँ थीं / बहुत संकरी / रास्ता भी मगर था कठिन

/ यात्री तो न थका / सहयात्री मगर हो लिया वापिस /  
बीच रास्ते..

एक-एक फोटो के साथ कैप्शन था— रिश्ते यहाँ निभाता कौन है? मेरी अंगुलियाँ लगातार स्क्रीन को स्कोल करने लगी। एक फोटो में कौतुभ नेवी ब्लू कलर के कोट में खड़े थे, छड़ी हाथ में लिए। ये पहली फोटो थी, जिसमें उनकी पूरी तस्वीर थी। कैप्शन था— वह किसी विकलांग से प्रेम तो कर सकती है, लेकिन पति रूप में वह प्रेमी उसे स्वीकार नहीं। पागल ही हैं वे जो कहते हैं— शरीर से विकलांग होना कोई अपराध तो नहीं। पढ़कर मेरा सिर घूम गया। कितना दर्द छुपाकर दुनिया के दर्द मिटाता फिरता है मेरा प्यारा दोस्त। आज वह ऑपरेशन थियेटर में टेबल पर जिंदगी और मौत की जंग लड़ रहा है। मुझे उनके साथ हुई बातें याद आ रही थी। मैंने उनसे निजी जिंदगी के बारे में पूछा था, उन्होंने लंबी दास्तान है ये... फिर सभी सुनाऊंगा... फुर्सत के पलों में, कहकर टाल दिया था। उनका कहना था— जीवन वह जो निर्बाध बहता है... कह लें, किशतों में ही सही, लेकिन बहता निर्बाध ही है।

कौतुभ की टाइमलाइन पर एक नोट पर निगाहें टिक गईं। तारीख वही लिखी थी, जिस दिन पहली बार वे झाँसी आए थे। आज एक कार्यक्रम में बोलना था, वहाँ लंच के समय किसी ने मुझे कहा था कि कैसे विश्व गुरु हैं हम, जहाँ विकलांग के लिये कोई सुविधा नहीं। दिल में जगह नहीं। मैंने, तब इस विषय पर बात करना उचित नहीं समझा, लेकिन ये सत्य है कि ये जीवन भी एक भंवर ही है जहाँ सपने धूमिल होने लगते हैं, इस भंवर से बाहर आना ही होगा... हरेक विकलांग को खुद को साबित करना होगा, जैसे मैंने किया है। अब मेरे जीवन में कोई भंवर नहीं। बस अलग-अलग मंजिलें हैं और बढ़ते जाना ही मकसद है। ऐसे जीवन को मैं नीरस समझता हूँ, संघर्ष के अभाव में। मुझे लगा कौतुभ की बातों में एक मैगनेट है। लेकिन अधुवनीय मग्नेटिज्म। मानों वे एक सर्कुलरक मैगनेट हों, महान लेखक जो ठहरे। कोई सामान्य व्यक्ति कहाँ ऐसी गूढ़ बातें लिख सकता है? कौतुभ के साथ बैठकर की गई बातें एक-

एक कर याद आती रही, उन्होंने खूब कहानियाँ, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखाचित्र लिखे। उन्हें लगातार बुलंदियों पर जाते देख मैंने एक बार कहा था— कितने कीर्तिमान स्थापित करेंगे...? अगली पीढ़ी के लिए भी कुछ रहने दीजिए।

“दीप! जानती हो, जो आज लिखा, कल उसे पीढ़ियाँ पढ़ेंगी, पीढ़ियाँ उससे सीखेंगी। वह सब ही तो पीढ़ियों के लिए सहेजा जाएगा।”

“कौतुभ! पहली बार किसी से तर्क में हार स्वीकार करती हूँ।”

“मित्रता हार-जीत से ऊपर की अवधारणा है। फिर वो जीत भी तो जीत नहीं जिसमें किसी मित्र की हार छुपी हो। ऐसी जीत से तो मेरा हारना बेहतर है।” और ये कहकर उन्होंने फिर से मेरा दिल जीत लिया था।

क्या-क्या नहीं याद आया उस पल, एक समय कौतुभ भी झाँसी में रहकर गुजर-बसर कर रहे थे। साहित्य का लगाव उन्हें झाँसी से दिल्ली ले गया। उनका कहना था— दिल्ली में एक फायदा है, यहाँ बड़े रचनाकारों से मिलना आसान है। अब दिल्ली साहित्य का केंद्र है, जो कभी इलाहाबाद था; वह सब अब दिल्ली है। कह सकते हैं— दिल्ली अब इलाहाबाद हुआ जाता है। कौतुभ ने एक बार बोला था— “दिल्ली के लेखक बहुत सहज हैं, अब देखो न ये कौतुभ भी तो आसानी से उपलब्ध है।”

कितना कुछ सीखा था मैंने कौतुभ से, वे न होते, उनकी मुलाकातें न होती तो पेंटिंग्स के साथ-साथ मेरा साहित्य में पदार्पण न होता। मेरी कितनी ही टूटी-फूटी रचनाएँ उन्होंने सुधारी, जिन्हें बाद में सराहना और प्रतिष्ठा दोनों मिली। मैं जब कभी आभार व्यक्त करती तो वे कहते हैं— “शायद वहीं हैं, बस करीमियागिरी की है थोड़ी सी, शब्दानुक्रम ही तक बदला है। मुझे लगता— शब्दानुक्रम ही तो कविता है, तब मेरे पास उनकी तारीफ में कहने को कुछ नहीं बचता, मानो सब शब्द बौने हो जाते। उनके बारे में जब भी सोचती शब्द कुछ इस तरह बनते—

शांत, प्रशांत पोखर में/फेंक पत्थर

चुप हो देखता हलचल/हो तुम्हारे लिए



बालसुलभ क्रीड़ा कोई/शांति भंग हुई है पोखर की दर्ज होगा यह अपराध भी/अपराध की श्रेणी में शांति को पढ़िए और शीतल रहिए...। कौतुभ तब इतना भर कहते- “मेरी सखी की कलम में कहीं गहरे शब्द क्रीडारत हैं।”

मैं खुद के जीवन और कौतुभ के साथ अंतरंगता को देखती तो कई बार सिहर जाती, दिमाग कहता- “एक ही मन है मेरे पास!” कौतुभ से जो रिश्ता बन रहा था, उसे किसी नाम, किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता था। वह बस मेरे लिए कौतुभ है, मेरा पहला पुरुष मित्र और शायद अंतिम भी।

मेरी नजरों के सामने एक-एक दृश्य चलचित्र की तरह आ-जा रहा है।

ऑपरेशन थियेटर के सामने बैठे-बैठे मुझसे अब इंतजार करना मुश्किल होने लगा। दरवाजा खुला तो डॉ॰ बाहर निकले, मैंने पूछा- “क्या हुआ कौतुभ को?”

“देखिए, हमने उनका ऑपरेशन कर दिया है सिर में चोट थी, होश में आने पर ही असल स्थिति पता चलेगी।” कहकर डॉ॰ अपने केबिन की ओर बढ़ गए।

शुक्र था कि कौतुभ जल्दी ही स्वस्थ हो गए थे। उनके स्वस्थ होने तक उन्हें अपने यहाँ से जाने ही कब दिया मैंने, वे कहते- “दीप! बोल बन गया हूँ मैं।”

मैं इतना भर कहती, “भगवान ने मुझे आपके साथ रहने का मौका दिया है, ताकि मैं सीख सकूँ। सीख सकूँ कि संघर्ष में जीने वाले कैसे हर मुश्किल को आसान बना लेते हैं।”

कौतुभ को उस हादसे से निकलने में जितना वक्त लगा उसकी तस्वीर बनाने में मुझे भी उतना ही वक्त लगा। कौतुभ को अस्पताल से अपने घर तक लौटा लाना भी तो कम मुश्किल नहीं था। वह विवाह की अनुमति ही नहीं दे रहे थे, कहते- “दीप! तुम्हें मेरी छड़ी की ठकठक क्यों कर पसंद है, जबकि लोग तो इसे भी जीवन का एक कलंक ही समझते हैं।”

अस्सी वर्ष की इस उम्र तक के सफर में कितने बसंत आए, कितने पतझड़ कुछ अंदाज भी नहीं लगा सकती हूँ।

आज फिर साहित्यिक मंच है, साहित्य के बड़े-बड़े दिग्गजों का जमावड़ा है। बस कुछ नहीं है तो ये कि आज यहाँ कौतुभ नहीं हैं। उनकी जगह पर उनकी तस्वीर है। हवा के झोंकों से उड़ते कौतुभ के बेतरतीब बिखरे घुँघराले बाल उसकी तस्वीर में देखकर लगता है मानों तस्वीर बोल उठेगी, और वह कहेंगे- “हर कहानी एक अनुभव होती है, लेखक पूरे समाज का विश्लेषण करता है, नोट्स लेता है, कुछ मिटाता है, कुछ ऐड करता है, तब जाकर एक रचना जन्म लेती है। पाठक, लेखक के टूटने-जुड़ने, गिरने-उठने के उपक्रम से कभी बावस्ता नहीं हो पाता।”

उद्घोषिका मेरा नाम पुकार रही है, मेरी आँखें नम हैं, उतनी ही नम जितनी ऑपरेशन थियेटर के सामने थी। माइक पर मैंने इतना ही कहा- “कौतुभ के जीवन पर सबसे शानदार कृति ‘मेरे कौतुभ, मेरे प्रथम पुरुष मित्र’। मेरे जीवन की अनूठी कृति है। कौतुभ जितने शानदार लेखक थे, आलोचक थे, उससे कहीं शानदार एक पति, एक पिता थे। काश आज कौतुभ इस नायाब कृति का विमोचन करने के लिए यहाँ खुद उपस्थित होते, लेकिन हाँ, कौतुभ इस सबके बीच न होकर भी यहाँ मौजूद हैं।”

मेरी नजरों के सामने एक-एक दृश्य चलचित्र की तरह आ-जा रहा है। मैंने कहा- “आज मेरा सपना पूरा हुआ, कौतुभ भी तो यही चाहते थे कि उनका प्रेम इतिहास में दर्ज हो, वे हमेशा कहते थे- दीप, इस वैवाहिक जीवन में तुमने मुझे दिया ही है, लिया कुछ भी नहीं। तब मैं कहती- कौतुभ, आप मेरे बच्चों के पिता ही नहीं, मेरे गुरु भी हैं। लिखने का हुनर मैंने आपसे ही सीखा है।” कहते हुए मेरी निगाहें कौतुभ की तस्वीर पर टिक गईं। मानो वे कह रहे हों- दीप! बधाई हो, इस प्रेम-उपन्यास के लिए। अश्रुधारा लुढ़क कर गालों को गीला किए है, उनको रोकने का मन नहीं है।

संपर्क : डी2/1, जीवन पार्क, उत्तम नगर, नई दिल्ली - 110059

मो॰ : 8377875009

## किताबें मेरी जान

- मृत्युंजय श्रीवास्तव

आप किताब नहीं पढ़ते हो तो न पढ़ो। मगर, जैसे सोने के गहने को संभाल कर रखते हो किताब को उतने ही जतन से ही संभाल कर रखो। जैसे गहने पहनकर हमेशा डोलते नहीं हो, जरूरी नहीं किताब को हरदम पढ़ते-मथते रहो। मगर अपने घर में रखो। किताब दुर्दिन में वैसे ही काम आती है जैसे सोने के गहने।

कुछ गहने ऐसे होते हैं जिन्हें एक-दो बार पहन लिया, फिर वे न पहनने के काम आते हैं न ही बुरे समय में संकटहर्ता बन कर खड़े होते हैं। ऐसी किताबें भी होती हैं। इन्हें संभाल कर रखोगे तो घर में गंदगी बढ़ेगी। ऐसी किताबों की संगत में हमेशा रहो जो तुम्हारा मान बढ़ाती हों। ज्ञान बढ़ाती हों।

जैसे धरती का पर्यावरण ठीक रखने के लिए पेड़ पौधों की सख्त जरूरत है, सामाजिक पर्यावरण ठीक रखने के लिए हर गांव, हर मुहल्ले में पुस्तकालय अनिवार्य है। तब भी पुस्तकालय अवश्य हो, अगर वहाँ पुस्तक पढ़ने के लिए भीड़ न जुटती हो। महीनों-सालों पाठक के न होने पर भी पुस्तकालय को जीवित रखना चाहिए। जितना पुराना पेड़, उतना ही मूल्यवान वह पेड़। जैसे घने पेड़ से छाया मिलती है, पुराना पुस्तकालय भी छाया देते हैं। किताबें पढ़ो, मगर जरूरी नहीं कि रोज पढ़ो। वैसे ही जैसे तुमने स्वीमिंग सीखी, मगर जरूरी नहीं कि तुम रोज स्वीमिंग करो। जैसे तुमने साइकिलिंग सीखी, मगर जरूरी नहीं कि जिंदगी भर साइकिल चलाओ। मगर तुम जानते हो कि स्वीमिंग या साइकिलिंग शरीर के बेडौल होने से बचाने का और मजबूत रखने का एक अच्छा माध्यम है। अगर तुम स्वीमिंग या साइकिलिंग दोनों करते रहोगे तो शरीर सुडौल रहेगा। कद काठी का आकर्षण बना रहेगा। अगर तुम पढ़ोगे, तो दिमाग तंदुरुस्त रहेगा। तुम्हारी बुद्धि और विवेक का आकर्षण तुम्हारे आस-पास बना रहेगा।

पुस्तकालय का संबंध केवल पुस्तक से नहीं है। पुस्तकालय केवल वह जगह नहीं होती, जहाँ केवल किताबें साँस लेती हैं। पुस्तकालय सामाजिकता की जगह है। चूँकि, वहाँ सामाजिकता पैदा होती है, वहाँ सौहार्द और वह समझ बनती है कि साझे की जिंदगी जीने की सहूलियत बनती है। इसलिए गाँव हो या शहर या कोई मुहल्ला एक पुस्तकालय अवश्य चाहिए। मंदिर और मस्जिद में केवल अपने-अपने धर्म के लोग जाते हैं। लेकिन, पुस्तकालय वह जगह है जहाँ न हिंदू-मुस्लिम का भेद टिकता है, न ऊँच-नीच का भेद बचता है और न ही स्त्री-पुरुष का तनाव होता है। होता है तो वहाँ केवल सुंदर और सृजनात्मक भविष्य का सपना होता है और उसे साकार करने की पहल होती है। पुस्तकालय कभी तुम्हें अतीतोन्मुखी नहीं बनाता, हमेशा उज्ज्वल भविष्य का भरोसा देता है।

पुस्तकालय वह जगह है जहाँ ज्ञान का आविष्कार होता है। इसीलिए पुस्तकालय दो तरह के लोगों को आकर्षित करता है। पहले वे जो ज्ञान के आविष्कार में दिलचस्पी रखते हैं और दूसरे वे जो अब तक के आविष्कृत ज्ञान से अपने को आलोकित करना चाहते हैं। कई बार ऐसा होता है कि आविष्कृत ज्ञान से अपने को आलोकित करते-करते वे ज्ञान का आविष्कार करने लग जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान का विद्यार्थी विज्ञान पढ़ते पढ़ते एक दिन वैज्ञानिक बन जाता है। वे जो वैज्ञानिक बनते हैं वे सीधे प्रयोगशाला में नहीं पहुँचते हैं, प्रयोगशाला में पहुँचने का रास्ता पुस्तकालय से होकर बनता है।

ऐसा सच होने के बावजूद पुस्तकालयों का वजूद मिटता जा रहा है। पढ़ने की लालसा खत्म हो गई है। 'काम पेंडिंग है' जैसे वाक्य अक्सर सुने जाते हैं, मगर पढ़ना पेंडिंग है जैसे वाक्य कभी नहीं सुने जाते, क्योंकि पढ़ना किसी का प्राथमिक काम नहीं है। जाहिर है पेंडिंग होने का एहसास उस काम के लिए होता है जो काम प्राथमिकता सूची में शामिल होता है। पढ़ने को हमेशा फुरसत का काम माना गया है। इसलिए कि पढ़ने को मनोरंजन माना गया है। हालांकि, पढ़कर मनोरंजित होना कोई ऐब नहीं है। सच यह है कि पढ़ना फुरसत के समय को सार्थक बनाता है। पढ़ना जीवन और समय दोनों को अर्थपूर्ण बनाने का पहला कदम है।

अभी हाल हाल तक यह नजारा आम था कि सफर में यानी ट्रेन में, ट्राम में या वायुयान में पढ़ते हुए लोग दिख जाते थे। किसी-किसी के बाथरूम तक में पढ़ने के किस्से बना कर नहीं फैलाए जाते थे। ऐसे पढ़ाकुओं की पढ़ाई देखकर ही किताबी कीड़ा जैसा मुहावरा बना था। यह मुहावरा आज मृतप्राय है। मगर ऐसे लोग अभी भी होंगे जो अपने मरने से पहले

अपनी प्राथमिकता सूची में शामिल किताबों को पढ़ लेना चाहते होंगे। मगर यह संभव है कि लगातार पढ़ने के बावजूद वे इस एहसास के साथ मरते होंगे कि पढ़ना पेंडिंग है। कितना दर्द होता होगा उन्हें इस पीड़ा के साथ मर जाना। इसलिए पढ़ना अभी है और अभी जरूरी है, फिर कभी नहीं।

रोज पढ़ना उतना ही जरूरी है जितना कि रोज नहाना। जो रोज न नहाए तो गंधाएंगे आप, अगर आप नहीं पढ़ते हैं रोज तो गंधाएंगे। पढ़ने का मतलब है आँखों में कीचड़ न जमने देना। पढ़ना दाँत मांजने जितना अनिवार्य है। जो नहीं पढ़ते हैं आप तो आपके दिमाग में दीमक अपनी बांबी बनाते हैं। जिस दीवार पर दीमक लग जाए उसकी नींव तक खोखली हो जाती है। न पढ़ने से दिमाग भी कहाँ तंदरुस्त रहता है। जो दिमाग तंदरुस्त रहे तो मिजाज भी खुश रहे। तंदुरुस्ती और खुशी पढ़ने से मिलती है।

आप की पसंद की एक-एक किताब आपके लिए एक-एक कुंभ है। जब चाहें आप इनमें डुबकी लगाएँ। इनमें पेट के बल तैरते हुए भीतर की दुनिया देख लें और जब चाहें पीठ के बल बल तैरते हुए आसमान का नजारा ले लें। आसपास में उड़ते हुए पंछी की मंशा भाँप लें चाहे आप।

कुंभ में डुबकी लगाने से संभव है अब तक के किए पाप धुलते होंगे, आपकी अपनी पसंद की किताब वह कुंभ है जिसमें डुबकी लगाने और तैरने से आगे पाप होने की संभावना कम हो जाती है। क्योंकि, आपकी पसंद की किताबें अदब और एहताराम के दामन से बाँध कर रखेंगी आपको। आप बने रहेंगे बाअदब और होंगे आप बामुराद।

आपकी पसंद की एक-एक किताब त्रिवेणी है। किताब वह त्रिवेणी है जहाँ सरस्वती कभी नहीं विलुप्त होती हैं। किताबें त्रिवेणी नहीं, बहुवेणी है। एक किताब में न जाने कितनी नदियाँ, कितनी गलियाँ आ-आ कर मिलती हैं। जब आप अपनी पसंद की एक किताब से गुजरते हैं, न जाने कितनी नदियाँ, कितनी गलियाँ आपसे गले मिलती हैं।

आपकी पसंद की किताबें गाय की वह पूँछ होगी जिसके सहारे आप इस मायालोक की बैतरणी पार कर सकेंगे रोज। रोज मोक्ष मिलने के एहसास से भर जाएँगे आप कि आपकी पसंद की किताबों का स्पर्श आपके साथ हो।

आपकी पसंद की एक-एक किताबें गंगोत्री से गंगासागर तक

का एक-एक घाट हैं। जब चाहें आप अपनी पसंद की एक किताब खोल लें और पहुँच जाएँ साक्षात् किसी अनसुने-अनदेखे घाट पर। वहाँ से आप नई दुनिया से दीदार करेंगे। कभी आप नई दुनिया को अपनी नजर से देखेंगे और कभी वह नई दुनिया अपनी नजर से आपको। अपनी पसंद की पुस्तक से गुजरने का कमाल यही है कि वह नजर बचाने से आपको बचाएगी।

जब-जब गुजरेंगे आप अपनी पसंद की पुस्तक से नया जमाना आपसे आपका हालचाल पूछेगा। आप उससे नजर मिलाकर संवाद कर पाएँगे। पीठ नहीं दिखाएँगे कभी आप।

### जहाँ पढ़ने की संस्कृति नहीं होती—

1. जिस देश में पढ़ने की संस्कृति नहीं होती वहाँ संविधान और शब्द कोश दोनों खतरे में होते हैं। भारत में दोनों खतरे में हैं। 2. जिस देश में पढ़ने की संस्कृति नहीं होती उस देश की संस्कृति की अपनी कोई पहचान नहीं होती। भारत अपनी पहचान मिटा रहा एक भू-खंड है। 3. जिस समाज में पढ़ने की संस्कृति नहीं होती है, वहाँ प्रामाणिकता का आग्रह नहीं होता है। जहाँ प्रामाणिकता का आग्रह नहीं होता, वहाँ कौआ कान ले गया ब्रेकिंग न्यूज हुआ करता है। 4. जहाँ कौआ कान ले गया ब्रेकिंग न्यूज हुआ करता है वहाँ तबाहियों के दौर का अंत नहीं हुआ करता। न व्यक्तिगत जीवन में, न राष्ट्र के जीवन में। भारत अंतहीन तबाहियों के दौर से गुजर रहा है। 5. जिस देश में पढ़ने की संस्कृति नहीं हुआ करती उस देश के देश-पालों के लिए यह आसान हो जाया करता है कि वह देश को रिवर्स गियर में डाल दे और अपने बकरों को यह समझा दे कि देश फोर्थ गियर में सरपट विकास कर रहा है। 6. बकरों के पास इस धोखे पर भरोसा करने के अलावा कोई चारा नहीं होता और वह गलतफहमी और धोखे का चारा मस्ती में चबाने लगता है। 7. जहाँ देश में पढ़ने की संस्कृति नहीं होती, उस देश के नागरिक बकरे होते हैं, काटे जाना उनकी नियति होती है। 8. मंदिरों में बकरे की बलि पर प्रतिबंध अवश्य लग गया है मगर सत्ता भोज के लिए ऐसे बकरों के काटे जाने का रिवाज फलफूल रहा है। 9. जिस देश में पढ़ने की संस्कृति नहीं होती, उस देश का लोकतंत्र भगदड़ में बदल जाता है। नागरिकों की नियति चिकेन भरता बन जाना हुआ करती है। इससे सत्ता भोज में स्वाद की नई संगत बैठकी है।

**संपर्क :** एनबीसीसी विंग्योर टॉवर, फ्लैट नं० सी-11.3

न्यू टाऊन, कोलकाता-700156, मो० : 9433076174

## कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण को सलाम ! 'बुनती रहे हमारी अंगुलियाँ/इकतारे की धुन पर'

- कौशल किशोर

क्रांतिकारी वाम व जनवादी धारा के कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण का जाना आहत कर देने वाला है। 7 जनवरी सुबह 9 बजे अपने देवरिया (उत्तर प्रदेश) स्थित निवास 'ध्रुवधाम' पर उनका निधन हुआ। सितंबर 2024 में उन्होंने 85 साल पूरा किया था। बढ़ती उम्र के बावजूद उनकी रचनात्मक सक्रियता बनी हुई थी। पिछले साल अक्टूबर में उनसे देवरिया में मुलाकात हुई थी। पूरी गर्म जोशी के साथ मिले थे। अपना संग्रह 'सरगम के सुर साथे' भेंट किया। अपनी कविताएं सुनाईं। साहित्य समाज से न सिर्फ देवरिया-गोरखपुर में वह जुड़े थे बल्कि मोबाइल के माध्यम से कोलकाता से लेकर दूसरी अन्य जगहों के साथियों से भी उनका जीवंत जुड़ा था। सोशल मीडिया पर उनकी सक्रियता रेखांकित करने वाली है। देवरिया से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका 'पतहर' (संपादक- विभूति नारायण ओझा) ने उनके ऊपर पिछले दिनों विशेष अंक निकाला। इस तरह पाषाण जी जीवन के अंतिम दिनों तक सक्रिय थे। ऐसे समय में जब साहित्य को सत्ता, बाजार और पूंजी के अधीन किया जा रहा है, वाम और प्रगतिशील जनवादी धारा के प्रखर कवि का जाना हमारे आंदोलन की एक बड़ी क्षति है।

पाषाण जी का लिखना पढ़ना जारी था। बेशक सुनने में दिक्कत थी। सुनने वाली मशीन लगा रखा था। परंतु समय की आवाज और धड़कन को सुनने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं थी। बसंत के बदनाद को उनमें सुना जा सकता था। अपने को संचार के नये माध्यम फेसबुक से जोड़ रखा था तथा अपनी कविताओं को वहां नियमित रूप से पोस्ट करते रहते थे। कुछ ही दिन हुए उन्होंने एक नई कविता पोस्ट की थी जिसमें समय की चिंता कुछ यूं व्यक्त है **'काश कभी ऐसी कविता लिख पाऊँ मैं/जो कोलाहल का नहीं/सुबह-सुबह पाखियों के/कलरव की गूंज का हिस्सा बने।'** बीते अक्टूबर को उन्होंने लैटिन अमेरिका के क्रांतिकारी चे ग्वेवारा पर लिखी कविता पोस्ट की। अपनी कविता में वे कहते हैं- **'रुकती नहीं क्रांति थकता नहीं सर्वहारा/शब्दों से शस्त्रों तक जो कभी नहीं हारा/जनगण का प्रेमी-धरती का दुलारा/इंकलाबी करिश्मा वह/अथक अपराजेय/क्रांतिकारी चे ग्वेवारा... आततायियों के व्यूह में फंसे नेरुदा, बेंजामिन/पाश, सफदर और मान बहादुर की आंखों में/आखिर-आखिर तक चमकता रहा जो/शहादत का ध्रुव तारा/वह था अथक अपराजेय/क्रांतिकारी चे ग्वेवारा।'** इस कविता से पाषाण जी की वैचारिक दृष्टि और प्रतिबद्धता को समझा जा सकता है।

हाल में 'प्रसंग' (संपादक : शंभु बादल) के कविता महाविशेषांक में उनकी चार कविताएं आईं। ये हैं- 'पता नहीं', 'आईना', 'करार किसने तोड़ा?' और 'कंबल भीगे पानी'। इसमें उनके भाव-विचार को देखा जा सकता है। वह आज भी समकालीन और अपने समय से रूबरू थे। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि देश में बढ़ती तानाशाही पर थी। इनके चरित्र के बारे में लिखते हैं- **'न आंखुआने देंगे घास/कहीं भी धरती पर/न होने देंगे हरा किसी कोख को'**। पाषाण जी नज़र में ये कंस, औरंगजेब, हिटलर, मुसोलिनी, तोजो... की ही औलादें हैं जो अपनी सत्ता के लिए जनजीवन को रौंदने में लगे हैं, कुछ यूँ- **'हम तो करेंगे ब्रह्मांड पर शासन/... दुनिया पर होगा राज हमरा ही/चमकता रहेगा हमारे माथे पर ताज/भले ही दुनिया हो जाए/चप्पा चप्पा दिन-रात धड़कता/सुनसान श्मसान!'** पाषाण जी की

विशेषता है कि बदलाव की उम्मीद नहीं छोड़ते। वे अपने को कबीर के संघर्ष के साथ संबद्ध करते हैं और कहते हैं:

**‘लेकिन भाई जी आखिर धरती अंखुआएगी**

**कोखें हरिआएंगी**

**लोहे को लोहा मारेगा**

**पशुता हारेगी – नरता जीतेगी**

**हारा है, ना हारेगा हमारा कबीर**

**वह है हमारे माथे का अबीर’**

ऐसे ही रहे हैं ध्रुवदेव मिश्र पाषाण। जीवन के अंतिम दिनों तक यह जज्बा कायम रहा। उन्होंने पांच दशक से अधिक का समय पश्चिम बंगाल के हावड़ा और कोलकाता में बिताया है। कभी हिंदी साहित्य का केंद्र इलाहाबाद व भोपाल हुआ करता था। वर्तमान में वह दिल्ली केंद्रित हो गया है। पहले भी कोलकाता हिंदी साहित्य-सृजन की उर्वर भूमि थी। वह आज भी है। पाषाणजी के कवि को गढ़ने-बनाने, वैचारिक रूप से तैयार करने तथा सांस्कृतिक योद्धा में बदलने का काम बंगाल के राजनीतिक-सांस्कृतिक वातावरण ने किया। वे उन कवियों में शामिल रहे जिन्हें नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन ने प्रभावित किया। इसी ऊर्जा को लेकर वे कुछ साल पहले अपने पैतृक जनपद देवरिया आए। अब यही उनका स्थाई निवास था। वे जहाँ जिस मकान में रहते थे, वह ‘ध्रुवधाम’ है। यहाँ आना और उनसे मिलना किसी साहित्यिक धाम से कम नहीं रहा है। गोरखपुर-देवरिया आने वाले लेखक-साहित्यकार को यह धाम खींच लाता था। यही कारण है कि 4 अक्टूबर 2024 को अपनी छोटी बहन की असामयिक मृत्यु पर देवरिया आना हुआ तो दूसरे दिन यानी 5 अक्टूबर को ‘ध्रुवधाम’ पहुंच गया। साथ थे कवि उद्भव मिश्र। कुशीनगर से डॉक्टर सुधाकरण तिवारी भी विशेष रूप से पाषाण जी से मिलने आए थे।

ध्रुवदेव मिश्र पाषाण का जन्म 9 सितंबर 1939 को देवरिया के इमलिया गांव में हुआ था। उन्होंने छठे दशक से लिखना शुरू कर दिया था। 1958 में उनकी पहली कृति प्रकाशित हुई। यह नाटक थी। शीर्षक था ‘विद्रोह’। 1962 में भारत-चीन युद्ध हुआ। राष्ट्रभक्ति की भावना सारे देश में उमड़-धुमड़ रही थी। दिनकर से लेकर नागार्जुन तक ने इस भावना को लेकर कविताएं लिखीं। युवा पाषाण

भी पीछे नहीं रहे। 1962 में उनकी काव्य पुस्तिका आई जिसका शीर्षक था ‘लौट जाओ चीनियों’। देवरिया में रहते हुए उन्होंने ‘देवरिया टाइम्स’ साप्ताहिक का संपादन किया। 1965 में वे बंगाल आए। विद्रोह की भावना का क्रांतिकारी रूपांतरण हुआ। नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध वियतनामी जनता के संघर्ष का प्रभाव पाषाण जी के काव्य में गुणात्मक परिवर्तन के रूप में घटित हुआ। वे लंबी कविता ‘बंदूक और नारे’ (1968) तथा ‘मैं गुरिल्ला हूँ’ (1969) जैसी कविताएं लिखी। वह कहते हैं: ‘अलग अलग चलने वाली कलमें/इस्तेमाल की जाती हैं/कभी झाड़ू की तरह/कभी रिवाल्वर की तरह।’ और भी: ‘हल की नोंक पर हथौड़े के संकल्प/वक्त के नासूर का करते हैं इलाज/संभाल कर ऑपरेशन के औजार/गूंजती है परिवर्तन की पहली चाप/कविता में’।

कविता में हल और हथौड़े का संकल्प पाषाण जी के लिए परिवर्तन का माध्यम बना। यहाँ दुविधा और संकोच नहीं है बल्कि परिवर्तन की सबसे अग्रणी, अग्रगामी और निश्चल धारा से जुड़ने का आत्म संघर्ष है। आगे की कविताओं में इसी का वैचारिक और सृजनात्मक विस्तार है। उनके अनेक संग्रह आए: एक शीर्षकहीन कविता और पांच अन्य कविताएं (1968), कविता तोड़ी है (1977), विसंगतियों के बीच (1978), धूप के पंख (1983), खंडहर होते शहर के अंधेरे में (1988), वाल्मीकि की चिंता (लंबी कविता, 1992), चौराहे पर कृष्ण (लंबी कविता, 1993), ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की कुछ कविताएं (2000, संपादक : रमाशंकर प्रजापति), पतझड़ बसंत (2009), खेल-खेल में (बाल कविताएं 1985)।

पाषाण जी 2002 में सेवा मुक्त हुए। वे देवरिया से गए थे। अपनी जड़ों की तरफ लौटने की उनकी छटपटाहट थी जिसकी वजह से वे कुछ साल पहले देवरिया लौटे। उनका समय अपने गांव इमलिया से लेकर देवरिया शहर में बीता। यहाँ के साहित्य समाज के बीच उनकी सक्रियता बनी रही। नौजवान रचनाकारों के वे प्रेरणास्रोत बने थे। इसी का प्रतिफल है कि देवरिया से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका ‘पतहर’ (संपादक : विभूति नारायण ओझा) ने उन



पर विशेषांक निकाला।

पाषाण जी का नवीनतम कविता संग्रह है 'सरगम के सुर साथे'। इसमें छोड़ी-बड़ी 17 कविताएं शामिल हैं। कविता क्यों और किसलिए? उसकी राह क्या है? इन प्रश्नों से कवियों को गुजरना पड़ा है, पाषाण जी को भी। उनमें ऐसे जीवन के प्रति वितृष्णा है जहाँ विचार और आचरण के बीच दूरी हो। वे विचार और व्यवहार की एकता के पक्षधर हैं। कहते भी हैं 'कविता विचार से नहीं बनती। कविता किताबों से नहीं उपजती। यह विचारों और किताबों के प्रभावों से गुजरती जरूर है।' उसकी समझ है कि कविता व्यापक जनजीवन को आलोड़ित करने वाले आंदोलन से नाभिनालबद्ध होती है। इसी से उसकी काया बनती है। कविता के इसी राह के वे राही रहे हैं। कहते हैं '**आसान नहीं है कविता की ऐसी राह**'। सचमुच राह आसान नहीं है। आज तो यह राह पहले की तुलना में अधिक कठिन हुई है। पाषाण जी इसी राह के अडिग राही रहे हैं।

संग्रह की पहली कविता है 'सरगम के सुर साथे'। इसे उन्होंने अपने गांव इमलिया में लिखना शुरू किया था तथा 5 महीने के बाद देवरिया आवास पर पूरी हुई। उनके मन में यह प्रश्न है कि क्या यह पूरी हुई? ऐसा होता भी है। एक रचना अगली रचना की तैयारी बन जाती है। उनकी कविताएं एक दूसरे से जुड़ती हैं। महाप्राण निराला की यह काव्य पंक्ति कि 'देश-काल के शर से बिंधकर' पाषाण जी का प्रेरक वाक्य रहा है। दुख मनुष्य को बाहर से ही नहीं उसके अंतर को भी तोड़ता है। कविता दुख से मुक्त करती है या उसे सहने की ताकत प्रदान करती है। निराला जी ने बेटी को खोया। तभी 'सरोज स्मृति' जैसी कविता लिख पाए। पाषाण जी की पौत्री यानी दूसरे बेटे की बेटी विभा की जान विवाह के दो माह के अंदर ही आग की लपटों ने ले ली। यह हत्या है या आत्महत्या? उम्र 20 की थी। मेहंदी के रंग भी नहीं छूटे थे। कविता ने उन्हें थामने-संभालने का काम किया। वे लिखते हैं '**काश लिख पाऊं कोई**

**कविता मैं/विभा की स्मृति में/देशकाल से शर से बिंधकर ? आखिर कैसे उबर पाऊंगा/इस वेदना से प्रतिपल/मानस मथती यंत्रणा से/जो बिंधेगा नहीं अंतस में/“देश-काल से शर से”/वह कुछ भी सार्थक सिरजेगा कैसे ?'** पाषाण जी का संघर्ष सार्थक को सिरजने का रहा है।

प्रगतिशीलता और जनवाद ऐतिहासिक सापेक्षता में परिभाषित होता है। कबीर अपने ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भ में प्रगतिशील व जनवादी हैं तो नागार्जुन अपने संदर्भ में। कहने का अर्थ है कि अपने समय के जनसंघर्ष की उच्च धारा से जो जितना गहरे जुड़ता है, वह उतना ही जनवादी है। यह साहित्य के लिए सही है और राजनीति के लिए भी। पाषाण जी की यह विशेषता है कि उनका अपने समय के जनसंघर्ष की उच्च धारा के साथ जुड़ाव रहा। इस संबंध में वे परम्परा का निषेध नहीं करते हैं बल्कि उससे जुड़ते हैं, खासतौर से कबीर से। वे भक्ति आंदोलन के सत्ता विमुख कवियों जैसे कुंभनदास और तुलसीदास से भी प्रभावित हैं। अपने पूर्ववर्ती कवियों में मुक्तिबोध उनके लिए खास महत्व रखते हैं। पाषाण जी के लिए मुक्तिबोध का क्या महत्व है, इसे उन पर 'एक हर्फनामा : मुक्तिबोध से जुड़ते हुए हुए' शीर्षक से लिखी कविता से समझा जा सकता है। संग्रह की आखिरी कविता है 'चादर कबीर की'। पाषाण जी कविता को कबीर की चादर की तरह बुनते हैं। बढ़ती उम्र में भी वे बुनते रहे। कहिए कि सारी जिंदगी बुनते रहे हैं। यह उनकी इच्छा थी और यही उनका संघर्ष था। कहते हैं—

**'बुनती रहे हमारी अंगुलियां  
इकतारे की धुन पर  
सुनते हुए अनहद का नाद  
झीनी-झीनी चादर यह  
कबीर की'**

ऐसे कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण हमेशा रचना और कर्म से हमारे बीच रहेंगे। उन्हें सलाम।

एफ-3144, राजाजीपुरम, लखनऊ - 226017  
मोबाइल - 8400208031



## नौकरी की तलाश

- रूपसिंह चन्देल

एक दिन भाई साहब ने नटराज टॉकीज गोविंदनगर के पास एक ऑफिस का पता दिया और बोले, “कल यहाँ 11 बजे चले जाना। ये कॉलोनाइजर का ऑफिस है। इन्हें ऑफिस के लिए एक लड़के की आवश्यकता है।” कॉलोनाइजर क्या होता है मुझे जानकारी नहीं थी और न ही मेरे पास उस समय अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोश था और न ही मेरा साहस भाई साहब से पूछने का हुआ कि यह किस बला का नाम है। बहरहाल अगले दिन साढ़े दस बजे मैंने सायकिल उठायी और ठीक ग्यारह बजे गोविंदनगर उस दफ्तर में हाजिर था। छोटा-सा ऑफिस था, जिसमें एक मेज के साथ चार कुर्सियाँ चारों से ओर रखी हुई थीं। जगह इतनी थी कि आराम से चार लोग बैठ सकते थे और एक-दो खड़े हो सकते थे। मेरी मुलाकात हट्टे-कट्टे, लंबे साठ-बासठ साल के दो लोगों से हुई। उन्होंने मेरे आने का उद्देश्य जाना और बोले, “तुम्हें मालूम है कि हम क्या काम करते हैं?”

मैं उनके चेहरे देखने लगा। ‘कैसे मालूम हो सकता है’ मन में सोचने लगा। मैंने तो सोचा था कि कोयले का कोई व्यापारी होगा और मुझे उसकी दुकान में ट्रकों से कोयला उतरवाना और ग्राहकों को बेचना होगा।

मुझे चुप देखकर दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा। यह अक्टूबर माह की बात थी। मैं अपने एक मात्र सपेद पैट और आधी बांह के गहरे शर्ट में था। उन दोनों ने हाफ स्वेटर पहना हुआ था। एक का पेट निकला हुआ था जबकि दूसरा स्लिम था। स्लिम मेरे सामने बैठा हुआ था। उसने मेरे सामने एक नक्शा फैला दिया और बोला, “हम दोनों ने प्लॉटिंग का काम शुरू किया है। जब भी कोई ग्राहक आएगा उसे इस नक्शे में बताए प्लॉट्स के बारे में समझाना और यदि वह साइट देखना चाहेगा तब हमें फोन करना।”

मैं आँखें फाड़े उसकी ओर देख रहा था। दूसरे की नज़रें मेरे चेहरे पर गड़ी हुई थीं। शायद वह समझने की कोशिश कर रहा था कि मैं उसके लिए काम का सिद्ध हो भी पाऊँगा या नहीं। ‘प्लॉट’ शब्द ने मुझे उलझन में डाल दिया। एक कहानी और दो छोटे उपन्यास लिखने के बाद मेरा परिचय कहानी के प्लॉट से हो चुका था, लेकिन यहाँ वह व्यक्ति जिस प्लॉट और साइट की बात कर रहा था वह मेरे लिए बिल्कुल ही नयी बात थी। यद्यपि हाई स्कूल में अंग्रेजी थी, लेकिन सबसे कम अंक उसी में मिले थे। सौ में केवल चवालीस। वह समझता रहा और मैं हाँ-हूँ करता रहा। समझ कुछ भी नहीं आया। तभी दूसरा बोला, “चलकर इसे साइट दिखा देते हैं।”

नक्शा थामे व्यक्ति ने एक क्षण सोचा फिर बोला, “आज नहीं, कल दिखा देंगे। आज... पार्टी को समय दे रहा है।”

“ओ, हाँ,” दूसरा बोला।

एक बार मेरा दिमाग घूमने लगा। मैं सोचने लगा, ‘पार्टी और समय... आज इन लोगों को किसी पार्टी में जाना है। प्राण बचे। यह नौकरी मेरे वश में नहीं।’ भाई साहब को क्या बहाना करूँगा सोचने लगा। तभी स्लिम की आवाज सुनाई दी, “कल दस बजे आ जाना। हम यहीं मिलेंगे। कल तुम्हें ऑफिस की एक चाभी दे देंगे।” उसके बाद कमरे के एक कोने में स्टूल पर रखे लाल टेलीफोन की ओर इशारा करता हुए बोला, “हम दिन में कभी भी आ सकते हैं। लेकिन यदि कोई ग्राहक आएगा

और वह साइट देखने की बात करेगा तब इस फोन से हमें फोन करना।”

मैं चुप था।

“हम कुछ माह तक तुम्हें सौ रुपए देंगे। तुम्हारा काम देखकर बढ़ा देंगे। सुबह दस बजे से रात आठ बजे तक यहाँ बैठना होगा।” मोटा बोला, “चाहो तो आज से ही काम शुरू कर सकते हो।”

“आज से नहीं। कल सुबह आ जाऊँगा।”

“जैसी मर्जी।” दोनों एक साथ बोले तो मैं उठ खड़ा हुआ। नमस्ते की और सायकिल उठाकर बेगमपुरवा की ओर दौड़ पड़ा।

शाम भाई साहब ने पूछा, “गोविंदनगर गए थे।”

“गया था।”

“क्या रहा?”

“उन्होंने मना कर दिया।”

भाई साहब ने लंबी सांस खींची और बोले, “क्यों?”

“कुछ बताया नहीं। इतना ही कहा कि फिलहाल उन्हें आवश्यकता नहीं है।” मैं झूठ पर झूठ बोल रहा था।

“जरूरत नहीं थी तब बुलाया क्यों था!” भाई साहब बुदबुदाए।

मैं चुप रहा और यह सोचकर प्रसन्न था कि मेरे झूठ पर उन्हें शक नहीं हुआ था।

“ठीक है... इन छोटी-छोटी नौकरियों के चक्कर में पड़ने से अच्छा है कि टाइपिंग की प्रैक्टिस के लिए तुम कोई इंस्टीट्यूट ज्वाइन कर लो। शार्टहैंड की प्रैक्टिस घर में करते रहो और अपनी इण्टरमीडिएट की तैयारी करो।”

मैं भी यही चाहता था। उन दिनों किदवई नगर में कोई टाइपिंग इंस्टीट्यूट नहीं था। बिहरना रोड में ‘शर्मा टाइपिंग इंस्टीट्यूट’ था और प्रसिद्ध था। शर्मा लंबा, चौड़ा, गोरा, चौड़े गालों वाला लगभग पचास वर्ष का व्यक्ति था। बिहरना रोड में एक बिल्डिंग में संकरी सीढ़ियां चढ़कर पहली या दूसरी मंजिल में एक बड़े कमरे में उसका इंस्टीट्यूट था। उधर आते-जाते बोर्ड देखा था। मैंने उसके यहाँ प्रवेश ले लिया। फीस क्या थी आज यह याद नहीं। हर दिन सुबह नयागंज की बाजार खुलने से

पहले मैं वहाँ जाने लगा। चालीस मिनट मिलते थे प्रैक्टिस के लिए। उसके पास एक या दो हाल्दा और शेष रेमिंगटन टाईपराइटर थे। हाल्दा स्वीडन की कंपनी थी। आई०टी०आई० में सभी टाइप राइटर हाल्दा थे। मुझे उसकी प्रैक्टिस थी। शर्मा के यहाँ मैंने उसे ही पसंद किया, लेकिन वह इतना पुराना था कि दबाते ही की रोलर में चिपक जाती थी। उसे पकड़कर नीचे करना पड़ता। वह इतना धीमा चलता कि प्रैक्टिस संभव नहीं थी। शर्मा हर नए छात्र को वह पकड़ा देता। मैंने उसमें अभ्यास करने से इंकार कर दिया। तब सुबह आठ का समय मिला हुआ था। सुबह रेमिंगटन खाली नहीं थे। नौकरी में जाने वाले युवक सुबह नौ बजे तक उनमें प्रैक्टिस करते थे। शर्मा कुछ को शार्टहैंड भी पढ़ाता था। रेमिंगटन के लिए मुझे दस बजे का समय मिला। यह समय मुझे सूट करता था। मैंने बिना पते के ढेर सारे अप्लीकेशन टाइप कर लिए थे, जिसमें एक पैराग्राफ नौकरी के लिए आवेदन से संबंधित था और उसके नीचे मेरा बायोडाटा टाइप किया। उसके साथ भेजने के लिए फारवर्डिंग भाई साहब अपने ऑफिस से टाइप करवा लाए थे।

शर्मा के यहाँ से निकलकर मैं कानपुर की फैक्ट्रियों में जाता। कपड़े का एक थैला साथ रहता, जिसमें अप्लीकेशन या बायोडाटा रखता। फैक्ट्री गेट पर दरबान से वहाँ के लेबर ऑफीसर से मिलने की गुजारिश करता। प्रायः दरबान मेहरबानी दिखाते और गेट के पास ही बने लेबर अफसर के कमरे में भेज देते। मैं मिलकर उन्हें स्टेनो-टाइपिस्ट या स्टेनोग्राफर के लिए आवेदन पत्र देता। लेबर अफसर देखे बिना उसे पेपर वेट से दबाकर मेज पर रख देता और कहता, “फिलहाल कोई वेकेंसी नहीं है। मैं इसे रख रहा हूँ। कोई वेकेंसी होने पर आपको सूचित किया जाएगा।”

जब मैं फैक्ट्री से बाहर निकलता मेरा चेहरा उदास होता। लेकिन मैंने हार नहीं मानी। अगले दिन मैं किसी दूसरी फैक्ट्री के गेट पर जा पहुँचता और इस प्रकार कानपुर की शायद ही कोई फैक्ट्री थी जहाँ के लेबर अफसर से मैं नौकरी की आशा लेकर नहीं मिला था। मना किसी ने भी नहीं किया। सभी प्रेम से मिलते। मुझे

सुनते और मेरा बॉयोडॉटा लेकर रखते हुए वही उत्तर देते जो मैं उससे पहले दूसरी फैक्ट्रियों के लेबर अफसरों से सुन चुका होता था। दो की दुत्कार भी सुनी, जब उनसे दोबारा मिला “मैंने बोला था कि यहाँ जब वेकेंसी होगी तब आपको बुलाएगा, लेकिन तुम मुँह उठाए इधर चला आता है। आज के बाद कभी आना नहीं मांगता।” ऐसा कहने वाले दोनों बंगाली थे।

बाई साहब ने अमूमन अपने उन सभी सहयोगियों को मेरे लिए कह रखा था जो छोटी-छोटी नौकरियाँ करते हुए एच॰ए॰एल॰ पहुँचे थे। दो ऐसे लोग भी थे जो एच॰ए॰एल॰ में नेतागिरी करते थे। एक सज्जन थे हरिप्रसाद सुक्ल, जिनकी पहचान शहर के कितने ही धनाढ्य लोगों से थी। उनमें से एक ने उन्हें मुझे पी॰पी॰एन॰ कॉलेज के सामने के ऑफिस कॉम्प्लेक्स में स्थित एक जॉब प्रेस में भेजने के लिए कहा। उसका मालिक एक युवक था, लगभग पैंतीस वर्ष का। शुक्ल जी का वह मित्र था। मैं उससे मिला। चेहरे पर गंभीरता ओढ़े हुए उसने मेरा बॉयोडॉटा देखा और अपने प्रशासनिक अधिकारी गुप्ता को बुलाकर मेरा बॉयोडॉटा देकर मेरी ओर संकेत करते हुए कहा, “इसे देख लेना।”

गुप्ता मुझे अपने कमरे में ले गया। उसने प्रेम से मुझे सामने कुर्सी पर बैठाया और देर तक मेरा बॉयोडॉटा देखता रहा। मैं अपनी कमजोरी जानता था। बेकारी का हाल तभी समझ आ चुका था जब मेरे साथ ट्रेनिंग करने वालों में एल॰एल॰बी॰ और पोस्ट ग्रेजुएट थे। जब लोगों को उतना पढ़े-लिखे मिल रहे थे तब वे मुझ कम पढ़े-लिखे को क्यों रखते। गुप्ता अपने काम में व्यस्त रहा और मैं उत्सुक नज़रों से उसे काम करता देखता रहा। बहुत देर तक मैं इस आशा के उसके सामने बैठा रहा कि वह अब उत्तर देगा कि तब, लेकिन वह काम करता रहा। गुप्ता एक-दो बार उस युवक के पास गया। जब भी उसके पास गया, मुझे लगा कि अब वह मेरे लिए कोई निर्देश लेकर लौटा है, लेकिन फिर वही मौन।

गुप्ता नाटा, गदबदा, चौड़े चेहरे का सांवला व्यक्ति था। अंततः मेरा धैर्य चुक गया। मैंने पूछ लिया, “आपने क्या निर्णय किया?”

मेरी बात सुनकर गुप्ता चौंका और बोला, “अभी तो यहाँ काम नहीं है। आप एक महीने में आकर पता कर लेंगे।”

गुप्ता ने मुझे त्कई माह दौड़ाया, और हर बार उसका एक ही उत्तर रहा कि अभी जगह नहीं है। एक माह बाद पता कर लेंगे। लेकिन अंतिम बार वह घटा जिसकी मैंने उम्मीद नहीं की थी। उस बार गुप्ता मेरे लिए उस युवक के पास गया। युवक ने मुझे बुलाया। उस समय वह खड़े हुए मेज पर किसी नक्शे पर झुका हुआ था। मैं उसके सामने ऐसे खड़ा था जैसे थानेदार के सामने अपनी फरियाद लेकर गया कोई ग्रामीण। नक्शे पर झुके हुए ऊँचे स्वर में वह बोला, “मेरे यहाँ आप जितनी योग्यता वालों के लिए कोई जॉब नहीं है।” उसका स्वर अपमानजनक था। मेरा मन क्षुब्ध हो उठा। लगा ‘आप जितनी योग्यता’ कहकर उसने अपमानित किया था।

कुछ दिनों के लिए मैंने कहीं जाना छोड़ दिया। टाइप इंस्टीट्यूट से सीधे घर आता और इण्टरमीडिएट की तैयारी करता। डॉक्टर ए॰ के॰ खान के क्लीनिक वाले ब्लॉक में कुछ दिन पहले एक व्यक्ति ने नीचे एक फ्लैट खरीदा। फ्लैट और सड़क के बीच, जो दोनों टॉवरों के बीच थी, काफी जगह थी। उसका कबाड़ का काम था। अपने कमरे को भी वह कबाड़ भरने के लिए इस्तेमाल करता। उसका परिवार किचन और बाहर बरामदे वाले हिस्से में रहता था। दस-ग्यारह बजे के बाद उसके यहाँ छोटे कबाड़ी, जो मोहल्लों में घूमकर कबाड़ एकत्र करते, कबाड़ बेचने आते। वह मध्यम कद, तंदरुस्त लगभग चालीस साल का सांवला व्यक्ति था, जिसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। मैं बाहर गैलरी में खड़े होकर उसके काम को देखता। एक दिन किसी ने बताया कि वह बहुत पैसेवाला व्यक्ति है। उसके पास निजी कार है और उसका एक मकान चमनगंज या ऐसे ही किसी मुस्लिम बहुल क्षेत्र में है। फैक्ट्रियों और कुछ दफ्तरों में भटकने के बाद मैंने अपना कुछ काम करने का विचार किया, लेकिन पूंजी के बिना कौन-सा काम किया जा सकता था। ये वे दिन थे जब प्रायः भाई साहब की जेब खाली रहती थी। गाँव में माँ, छोटा भाई राजकुमार, भाभी और बच्चे थे और

शहर में हम दोनों। उस पर मेरी टाइपिंग सीखने का खर्च। कितनी ही बार उन्होंने मुझे अपने ऑफिस में एक सहयोगी, जिनका नाम याद नहीं, से तीस या पचास रुपए उधार लेने के लिए भेजा। वह होम्योपैथ के जानकार थे और उन्होंने बाकरगंज की एक संकरी गली के एक मकान में अपनी क्लीनिक खोल रखी थी। शाम सात बजे से नौ बजे तक वह वहाँ बैठते थे। वह गोरे मध्यम कद के थे। भाई साहब उन्हें कह देते और घर आने के बाद मुझे उनके यहाँ भेजते। उधार लेते समय लेने वाले के चेहरे पर कैसी दयनीयता होती है उसका अनुभव मैंने कितनी ही बार किया। आज सोचता हूँ कि उधार मांगने समय भाई साहब के चेहरे पर क्या भाव रहे होंगे। यह अनुभव मुझे बाद में नौकरी के दौरान भी हुआ, जिसका उल्लेख यथास्थान पर करूँगा।

उस कबाड़ी की दुकान में अखबारों का ढेर देखकर मेरे मन में अनेक बार आया कि उसके यहाँ से अखबार खरीदकर उसके ठोंगे बनाकर बेचूँ। मैंने एक दिन उससे इस बारे में बात की। उन दिनों पॉलीथीन की थैलियाँ प्रयोग में नहीं आयी थीं। लोग अपने थैलों में सामान खरीदते या दुकानदार अखबारी और बांसियाँ कागजों के ठोंगों में देते। बांसिया कागज महंगा था, इसलिए मैंने अखबार के ठोंगे बनाने की योजना बनायी और उससे उसके बेचने को लेकर चर्चा की। वह ठोंगे खरीदकर बाजार में दुकानदारों को बेचने का काम भी करता था। दरअसल मैंने उसके यहाँ वे देखकर ही उससे चर्चा की थी। उसने बताया कि कॉलोनी के कई घरों की बेगमें यह काम कर रही हैं। मैंने पड़ोस से दो अखबार लिए और गेहूँ के आटा की लेई बनाई। छठवीं से आठवीं कक्षा के दौरान मॉडल बनाने के लिए लेई बनाता रहा था। लेकिन मैं सही प्रकार से ठोंगे नहीं बना पाया। अगले दिन मैंने फिर प्रयास किया, लेकिन उस दिन भी मेरे ठोंगे बेढंगे ही बने। मैंने हार मान ली।

एक दिन शर्मा इंस्टीट्यूट पहुँचा तो उसका बोर्ड नदारत पाया। ऊपर चढ़कर गया। कमरे खाली थे। यह एक माह की पहली तारीख की घटना थी। मकान मालिक से जानकारी मिली कि शर्मा ने मकान खाली कर दिया

था। मकान मालिक के साथ उसका मुकदमा चल रहा था। वह मुकदमा हार गया था। कहाँ गया, यह जानकारी नहीं मिली। मैं निराश लौट आया। कुछ समय तक टाइपिंग की प्रैक्टिस बंद रही। हम घर में अखबार मंगा नहीं सकते थे। मंगाते भी तो एक, जिससे मेरा भला नहीं होने वाला था। किसी ने बताया कि बापपुरवा के कम्युनिटी सेंटर में अच्छी-सी लाइब्रेरी है। मैं सुबह आठ बजे से नौ बजे तक वहाँ जाकर अखबार पढ़ने लगा। मुख्य उद्देश्य रिक्त स्थान देखना होता। स्टेनोग्राफर या टाइपिस्ट के रिक्त स्थान अंग्रेजी के अखबारों में अधिक निकलते। हिंदी अखबारों में छोटी कंपनियों के लिए होते। लगभग हर दिन एक-दो जगहों के लिए आवेदन पत्र भेजने लगा। लिपाफा घर में ही बना लेता। कई बार आवेदन पत्र और बायोडेटा टाइप करने के बजाए हाथ से लिखता। प्रारूप भाई साहब ने पहले ही तैयार कर दिया था। कई कंपनियाँ अपना पता न देकर पोस्ट बॉक्स नंबर देती। मुझे कभी-कभी ही लिखित परीक्षा या साक्षात्कार के लिए बुलावा आता। जाता तब पाता कि साक्षात्कार के लिए पहुँचे लड़कों में मैं ही एक मात्र हाई स्कूल होता। उन दिनों स्टेनोग्राफर के लिए हाई स्कूल की योग्यता मान्य थी। जितनी भी जगहों में मैंने साक्षात्कार दिए उनमें आधी जगहें ऐसी थीं जिनमें मुझे लिखित परीक्षा देनी पड़ी थी। शार्टहैंड टेस्ट और उसके बाद टाइपिंग टेस्ट उन्हीं का होता जो लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते थे और मैं हर लिखित परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा। लिखित में प्रायः एक निबंध लिखवाया जाता। मेरी अंग्रेजी इतनी कमजोर थी कि मैं जो भी लिखता वह कबाड़ ही होगा। यह बात मैं स्वयं जानता था।

एक बड़ी कंपनी में मुझे साक्षात्कार के लिए बुलाया गया। उसमें शार्टहैंड और टाइपिंग टेस्ट ही होना था। मैं प्रसन्न था, क्योंकि शार्टहैंड की मेरी स्पीड अस्सी शब्द प्रति मिनट थी और डिक्टेशन में उतनी गलतियाँ नहीं होती थीं जितनी निबंध लिखने में होतीं। उसका बड़ा कारण यह था कि अखबार पढ़ते, शार्टहैंड की प्रैक्टिस करते हुए मुझे अंग्रेजी शब्दों का खासा ज्ञान हो चुका था, लेकिन उनके अर्थ कम ही मालूम थे और मेरा अंग्रेजी

व्याकरण का ज्ञान शून्य था। मैं जो भी लिखता उसका सिर पैर प्रायः उलटा-पुलटा होता था।

उस कंपनी में सारे ही लड़के टिप-टॉप और स्मार्ट थे। लड़कियाँ सुंदर और चूड़ीदार पायजामा और कुर्ते में सजी परियों जैसी दिख रही थीं। उस सबके बीच मैं एक दबे व्यक्तित्व वाला देहाती किस्म का युवक था। एक गैलरीनुमा जगह में मेज-कुर्सियाँ लगी हुई थीं। लगभग बीस अभ्यर्थी थे, जिनमें कई लड़कियाँ थीं। शार्टहैंट लिखने के लिए हमें नोटबुक से कुछ पन्ने दे दिए गये। यह वैसी ही व्यवस्था थी जैसी किसी भी परीक्षा में होती थी। कुछ देर बाद एक अधेड़ व्यक्ति प्रकट हुआ जिसके हाथ में उस दिन का टाइम्स ऑफ इंडिया अखबार था। उसने उसके संपादकीय से डिक्टेशन देना प्रारंभ किया। प्रारम्भ में अस्सी की गति से बोला, फिर गति बढ़ाकर सौ और उससे ऊपर ले गया। पाँच मिनट का डिक्टेशन था। उसके पश्चात हमें एक पेज का टाइप्ड मैटर दिया गया। उस व्यक्ति के स्टार्ट कहने के साथ हमें तेजी से टाइप करना प्रारंभ करना था। हर बार की भाँति मुझमें घबड़ाहट थी। निर्धारित समय समाप्त हो गया। एक पैराग्राफ रह गया था। हम उठकर हॉल में जा बैठे। मुझे छोड़कर सभी अभ्यर्थी आपस में बातें कर रहे थे। कई ऐसे थे जो उस दिन के उस संपादकीय की सुबह आने से पहले प्रैक्टिस करके आए थे। मुझे भी सलाह दी गयी थी कि अच्छी प्रैक्टिस और अंग्रेजी अच्छी करने के लिए मैं अंग्रेजी अखबार के संपादकीय की प्रैक्टिस किया करूँ और अखबार पढ़ा करूँ। बापूपुरवा कम्युनिटी सेंटर जाकर प्रैक्टिस संभव नहीं था। अखबार पर कितने कितने ही बुजुर्ग चिपके रहते थे। वे एक-एक समाचार को चाटते। बहुत कठिनाई से उनसे अखबार मिल पाता था।

लगभग एक घंटा बाद मेरे बैच के अभ्यर्थियों का परिणाम बताया गया। मुझे निराश लौटना पड़ा था। ऐसा ही कमला टॉवर में हुआ था। कमला टॉवर जे०के० वालों का है। वहाँ भी शायद हरिप्रसाद शुक्ल के माध्यम से मैं गया था। लेकिन मेरी योग्यता सुनकर ही मुझे लौटा दिया गया था।

जब से मैंने एम्प्लायमेंट एक्सचेंज में रजिस्ट्रेशन करवाया

था तब से एक भी कॉल लेटर नहीं मिला था। बीतते दिनों के साथ मेरी बेचैनी बढ़ती जा रही थी। मुझे बेकार रहना खलने लगा और इस सबके लिए मैं अपनी योग्यता को दोष देता। सोचता 'काश आज मैं भी कम से कम बी०ए० होता।' एक दिन भाई साहब ने कहा कि मैं जाकर वहाँ अपने बारे में पता करूँ। लेकिन किससे पता करूँ? कोई भी तो जान-पहचान का नहीं था। भाई साहब अपने यहां लेबर की भर्ती देखते थे और उनका संपर्क झखरकटी एम्प्लायमेंट एक्सचेंज से था। वैसे भी वह अपनी सीट को संवेदनशील मानते थे और किसी से भी उनके बारे में चर्चा नहीं करते थे। उन्होंने इतना ही किया था कि गाँव के शिवराज पासी को कैजुअल में लगवा दिया था। इतना ही वह कर सकते थे। अपने यहाँ आने वाले कैजुअल लेबर को कई बार वह उसके गाँव वापस जाने के लिए जेब से पैसे देते थे।

एक दिन मैं गुटैहा एम्प्लायमेंट एक्सचेंज पहुँचा। वहाँ रजिस्ट्रेशन करने वाला बाबू सामान्य कद-काठी का एक यादव था। उससे मिला। उसने मुझे सुना और मेरा रजिस्ट्रेशन नंबर लेकर कुछ करने के लिए आश्वस्त किया। मैं कॉल लेटर की प्रतीक्षा करने लगा, लेकिन कोई पत्र नहीं मिला। माह बीतने के बाद मैं फिर यादव जी से मिला। उसने फिर आश्वस्त किया। वह इतने प्रेम से बातें करता कि मैं पंद्रह दिनों में उससे मिलने जाने लगा। मुझे उस पर भरोसा था कि वह मेरे लिए कुछ अवश्य करेगा। वह मना भी नहीं करता था लेकिन कुछ करता भी नहीं था। हो सकता है कि उसने करने का प्रयास किया हो लेकिन उसके अफसर ने उसकी बात न सुनी हो। वैसे भी मैं बिना परिचय ही उसके पास जा बैठता था। कई बार सोचता कि यही क्या कम था कि वह मुझे अपने बगल की कुर्सी पर बैठने दे रहा था। एक दिन मैंने उससे कहा कि वह आराम करे रजिस्ट्रेशन के लिए आए युवकों से मैं उनके फॉर्म भरवा लूँगा। उन दिनों रजिस्ट्रेशन एक बड़े लिफाफानुमा फॉर्म में होता था, जिसे रजिस्ट्रेशन करवाने वाले को भरना होता था। उसके द्वारा दिए गए प्रमाणपत्रों की प्रतियों को लिफाफे में रख दिया जाता और जितनी बार उसे कॉल लेटर भेजा जाता उस लिफाफे के



पीछे दिए खानों में तिथि, कंपनी या ऑफिस का उल्लेख बाबू करता। दो-तीन ऐसे अवसर रहे जब यादव जी का काम मैंने किया। लगभग छः-सात माह बाद मुझे पहला कॉल लेटर आर्डनेंस पैराशूट के लिए मिला।

पैराशूट फैक्ट्री कानपुर के कैंट क्षेत्र में अवस्थित है। वहाँ बेगमपुरवा कॉलोनी के कई लोग काम करते थे। अधिकांश मुसलमान थे और फैक्ट्री में टेलर थे। एक छरहरा, सांवला, मासूम चेहरे वाला स्लिम युवक रहमत अली था, जो मुझसे पांच छः वर्ष बड़ा था। प्रायः वह पैट पर सफेद कुर्ता पहनता और लरजता हुआ चलता। वह भाई साहब से मिलने आता। मुझसे भी उसकी अच्छी मित्रता हो गयी, लेकिन अधिक घनिष्टता नहीं थी। उम्र में बड़े होने की दूरी उसने बना रखी थी। फिर भी बहुत सी बातें वह मुझसे साझा करता। वह भी पैराशूट फैक्ट्री में टेलर था और प्रायः वहाँ ओवर टाइम करता। कॉलोनी के लगभग सभी ओवर टाइम करते थे। पैराशूट का कॉल लेटर मिलने के बाद मैं रहमत अली से मिला, यह जानते हुए भी कि एक टेलर शायद ही प्रशासन में अपनी दखल रखता हो, लेकिन इस आशा से कि हो सकता है कि उसकी जान-पहचान किसी ऐसे व्यक्ति से हो जो वहाँ के प्रशासन में अपनी पकड़ रखता हो। एडमिन मैनेजर के हाथ में सब था और वहाँ सहायक एडमिन मैनेजर कोई गुप्ता था। याद नहीं कि रहमत ने किसी के माध्यम से गुप्ता तक मेरा नाम पहुँचाया या भाई साहब ने अपने किसी स्रोत से कहलवाया, लेकिन गुप्ता तक मेरा नाम पहुँचा। लिखित, डिक्टेड और टाइपिंग परीक्षा हुई। उन दिनों एक वेकेंसी के लिए दस से पंद्रह अभ्यर्थियों को बुलाया जाता था। आज स्थिति कहीं अधिक भयावह है। आज एक जगह के लिए हजारों युवक पहुँचते हैं।

मेरे बेच को देपहर दो बजे बुलाया गया। शाम छः बजे हमें कहा गया कि परीक्षा परिणाम डाक से भेज दिए जाएंगे। लेकिन जिस व्यक्ति ने गुप्ता से मेरे लिए सिफारिश की थी उसने अगले दिन सूचित किया कि लिखित में मुझे दस या पन्द्रह प्रतिशत अंक मिले हैं और डिक्टेड और टाइपिंग भी बेहतर नहीं रहा। एक और निराशा।

पैराशूट के कुछ दिनों बाद मुझे भारत पम्प एण्ड

कम्प्रेसर्स लिमिटेड से टाइपिस्ट के लिए बुलावा मिला। यह बुलावा टाइम्स ऑफ इंडिया में विज्ञापन में मेरे आवेदन पर मिला था। भाई साहब बहुत उत्साहित थे। उनके उत्साह का कारण एच०ए०एल० से वहाँ गए उनके सहयोगी डी०पी० सिंह थे। कंपनी नयी थी। ए०पी० त्रिपाठी पहले व्यक्ति थे जो वहाँ चेयरमैन बने थे। कंपनी बन ही रही थी और स्टाफ से लेकर अन्य व्यवस्था उन्हें संभालना था। नयी नुक्तियाँ, भवन निर्माण, मशीनें... त्रिपाठी जी भारत पम्प में जाने से पहले इलाहाबाद में ही किसी कंपनी में थे। एच०ए०एल० से तीन या चार लोग वहाँ गए थे लेकिन डी०पी० सिंह भाई साहब के घनिष्ट मित्र थे। डी० पी० सिंह बिहार के किसी गांव के रहने वाले थे, लेकिन तेज तर्रार व्यक्ति थे और उन्होंने वहाँ नियुक्ति पाने के बाद ए०पी० त्रिपाठी के साथ निकटता स्थापित कर ली थी। कुछ माह पहले ही उनका विवाह हुआ था।

भाई साहब ने फोन पर डी० पी० सिंह से मेरे इलाहाबाद पहुँचने के बारे में बात की और नियुक्ति के लिए यथा-संभव प्रयत्न करने के लिए कहा। यही नहीं उनके यहाँ रात ठहरने के लिए भी कहा। मैं टेस्ट से एक दिन पहले रविवार को इलाहाबाद पहुँचा। सोमवार को सुबह दस बजे मुझे कंपनी के अस्थायी कार्यालय पहुँचना था। डीपी सिंह के यहाँ ठहरा। डीपी सिंह प्रेम से मिले और अगले दिन सुबह आठ बजे चेयरमैन साहब से मिलने चलने के लिए कहा। शाम मुझे साथ लेकर सब्जी आदि लेने गए। उनका व्यवहार बहुत आत्मीय था। उनके पास किराए के दो कमरों का सेट था। दोनों कमरे मिले हुए थे। दोनों के बीच दरवाजा था, जिसमें परदा पड़ा हुआ था। एक कमरे को ड्राइंग रूम बनाया हुआ था और दूसरे को बेडरूम। रात नौ बजे भोजन के बाद मेरे सोने के लिए सोफे के बगल में उन्होंने चारपाई बिछा दी। मौसम में हलकी ठंड थी। यह फरवरी, 71 की बात है। कंबल से काम चल जाने वाला था। भोजन के बाद बीच का दरवाजा बंद हो गया। किशोरावस्था से ही मेरी आदत रात में एक लोटा पानी (आजकल बोतल) बेड के पास रखकर सोने की रही है। उन्होंने जब कहा, “कोई आवश्यकता होगी तब दरवाजा खटखटा देंगे।”



“नहीं, आवश्यकता नहीं होगी।” मेरे लिए यही क्या कम था कि वहाँ होटल में ठहरना नहीं पड़ा था।

रात दस बजे के बाद उनके कमरे से एक अजीब प्रकार का हलका शोर सुनाई देने लगा... शोर उनके कमरे में चारपाई के चरमराने का था। वह सब क्या था, यह समझने में देर नहीं लगी। नयी शादी थी। यह स्वाभाविक था। मैं थका हुआ था और जल्दी ही सो गया। लेकिन रात एक बजे के लगभग नींद खुली तब भी मुझे बगल के कमरे में चापाई की चरमराहट सुनाई दी। नींद खुल गयी। देर तक नींद नहीं आयी। लेकिन कुछ देर बाद सब शांत था।

अगले दिन सुबह आठ बजे मैं डी० पी० सिंह के साथ चेयरमैन एस० पी० त्रिपाठी के यहाँ गया। वह किराए के मकान में रह रहे थे। साधारण-सा पुराना मकान था। कमरे के बाहर बरामदे में एक पुराना सोफा पड़ा हुआ था। डी० पी० सिंह ने नौकर से संदेश भेजा। कुछ देर बाद ऑफ व्हाइट कुर्ता-पायजामा में त्रिपाठी जी प्रकट हुए। वह गोरे, लंबे, चौड़े चेहरे वाले (अधिक नहीं) और मोटे लगभग पचपन के आसपास के व्यक्ति थे। डीपी सिंह ने लपककर उनके पैर हुए। मैंने भी चरण स्पर्श किया। वैसे भी डी० पी० सिंह न करते तब भी मुझे करना ही था। कहावत है न कि गर्ज में गधे को भी दादा कहना पड़ता है। जबकि त्रिपाठी जी के साथ हमारी मुलाकात पांच मिनट से भी कम समय के लिए हुई। उन्होंने मेरी योग्यता जानी और बोले, “टेस्ट दें।” और उठ खड़े हुए। संकेत था कि आप लोग जाएं।

दस बजे से पहले ही मैं भारत पम्पस के अस्थायी कार्यालय पहुँच गया। याद नहीं वह कहाँ था। मेरा टाइपिंग टेस्ट हुआ। मुझे हाल्दा टाइपराइटर मिला, जिसकी मेरी प्रैक्टिस बहुत दिनों से छूटी हुई थी। लेकिन इंकार नहीं कर सकता था। टाइपिंग में मुझसे अधिक त्रुटियाँ नहीं

होती थीं, लेकिन बिल्कुल नहीं होती थीं ऐसा नहीं। टेस्ट ठीक ही हुआ था।

रात मुझे डीपी सिंह के यहां ही बितानी थी। शाम उनका साला आ गया। उसके सोने की व्यवस्था मेरे कमरे में ही होनी थी। लेकिन कमरे में इतनी जगह नहीं थी कि दूसरी चारपाई पड़ सकती। वह सोफे पर सोया वह बहुत बातूनी युवक था। जब से आया अपनी योजनाओं के बारे में बताता रहा था। वह इलाहाबाद में एक होटल खोलना चाहता था। ऐसा होटल जहाँ पर्यटक ठहरें। संगम में स्नान करने के लिए पूरे देश से लोग आते हैं। कुंभ जैसे अवसरों में होटलों में स्थान मिलना कठिन होता है। लेकिन उसकी योजना मात्र तीर्थ यात्रियों के ठहरने तक ही सीमित नहीं थी। उसकी योजना में वहाँ आने वाले व्यवसायी और बड़े लोग शामिल थे जिन्हें काल गर्ल चाहिए होती हैं। मेरे लिए यह चौंकानेवाली बात थी कि होटलों में देह व्यापार भी होता है। लेकिन वह युवक होटल खोलना ही इस काम के लिए चाहता था। यह अलग बात थी कि तीर्थाटन के लिए आने वालों के लिए भी कुछ कमरे सुरक्षित रखना चाहता था।

“मैं ऐसी तीन-चार लड़कियों से संपर्क कर लूंगा।” वह बोल रहा था, “इसमें बहुत कमायी है।” मैं केवल उसे सुनता रहा था। जब से वह मुझसे मिला उसके बाद से रात सोने तक उसने अपनी होटल योजना और देह-व्यापार की कितनी ही बार चर्चा की थी।

अगले दिन सुबह मुझे इलाबाद-कानपुर पैसेंजर से कानपुर लौटना था। जब मैं डीपी सिंह के यहां से निकला उसका साला सुबह की सैर के लिए गया था। जाते समय उसने कहा था, “मैं आपको स्टेशन छोड़ने चलूंगा।” लेकिन मैं नहीं चाहता था कि वह मेरे साथ जाए और रास्ते भर और स्टेशन में अपनी कल की रील चालू कर दे।

संपर्क : फ्लैट नं० 403, टॉवर : 2, विपुल गार्डेंस,  
धारूहेड़ा - 123106 (हरियाणा)  
मो० : 8059948233

## सन 2025 और कुछ डायरी के पन्ने...

- शशिभूषण द्विवेदी

साहित्य का संसार इक्कीसवीं शताब्दी में पहले से ज्यादा उदार, ज्यादा प्रजातांत्रिक, ज्यादा फैलाव वाला और दूसरे अनुशासनों में पैठकर साहित्य को बेहतर ढंग से समृद्ध करने वाला हुआ है; और इन परिघटनाओं के कारण विधाओं का भी विस्तार हुआ है और उनका फलक भी बड़ा हुआ है; हालाँकि इस तथ्य की शुरुआत यूरोपीय साहित्य में 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हो गई थी, लेकिन, हिंदी में इसकी पहुँच देर से हुई और यही वजह है कि हमारी विधाओं ने इसे उस समय खुलकर स्वीकार नहीं किया। लेकिन अब स्थितियाँ बदल गई हैं और कहानी, उपन्यास यदि पत्र की शैली में लिखे जा रहे हैं तो डायरी सभी विधाओं में स्वीकार हो चुकी है। यह तो सचाई है ही कि डायरी, पत्र, संस्मरण आदि पहले से ही स्वीकृत विधाएँ हैं और अंग्रेजी के कवि कीट्स की चिट्ठियों को अगर उनकी कई कविताओं से ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है; तो हिंदी के विश्वनाथप्रसाद तिवारी की 'दस्तावेज' पत्रिका समेत कई गंभीर पत्रिकाओं ने निर्मल वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला, अज्ञेय आदि के पत्रों पर विशेषांक निकाले हैं। मलयज, निर्मल वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि की डायरी तो काफी चर्चित रही हैं; क्योंकि डायरी एक तो व्यक्ति के बाहर-भीतर का आईना होती है; और दूसरी बात यह कि वह व्यक्ति और समष्टि को समेटती हर विधा की मिठास और खटास दोनों का दर्पण मानी जा सकती है।

एक बात और! डायरी सिर्फ व्यक्ति या उसमें वर्णित वस्तुओं, आकांक्षाओं, खुशियों, उद्वेगों आदि का अंकन नहीं होती; वह व्यक्ति के सोच, वातावरण आदि को भी संबंधों की पवित्र कोमलता के साथ चित्रित करती हुई एक मुक्कमल विधा का आचरण रखती साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक होती है। कई बार कई पाठक लेखक की डायरी में अपनी छवि देखते हैं और वहाँ से अपने लिए कोई खुराक पाते हैं। यही वजह है कि स्वर्गीय मलयज की डायरी को 'साहित्य की नायाब' टिप्पणी की तरह देखा-परखा जा रहा है और स्व० हरिवंश राय बच्चन की 'प्रवास की डायरी' को बहुत लोग इंग्लैंड और यूरोप की संस्कृति पर जहाँ एक ओर टिप्पणी की तरह देखते हैं; वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी उसे अंग्रेजी की आधुनिक कविता और साहित्य पर एक प्रामाणिक मीमांसा की तरह भी देखते हैं। डॉ० बच्चन ने पाँचवें दशक में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अंग्रेजी कवि विलियम बटलर यीट्स पर पीएचडी किया था; ये वही यीट्स थे जिन्होंने टैगोर की गीतांजली का अंग्रेजी अनुवाद किया जिस पर उन्हें 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला था। यीट्स को भी दस वर्षों के बाद 1923 में नोबेल पुरस्कार मिला। वे जबरदस्त भारत-प्रेमी थे। खैर!

तो इसीलिए डायरी की शैली कई बार लेखक को बड़ा सा आकाश या स्पेस मुहैया कराती है जहाँ उसके विचरण की संभावनाएँ ज्यादा खुली हुई, ज्यादा पारदर्शी, ज्यादा स्नेहिल, ज्यादा उदार और कभी-कभी 'प्रेम में झगड़ा' जैसी स्थिति पैदा करने वाली होती है; लेकिन अगर कोई डायरी-लेखकों से इन बातों की चर्चा करे तो वे मुस्कुराकर कह देंगे "अरे छोड़ यार! मैंने अपना काम कर दिया। बाकी दुनिया जाने।"

यही वजह है कि कई लेखकों को अपनी बात कहने के लिए कई विधाएँ चुननी पड़ती हैं और ऐसे ही कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचिन्तना में भरपूर लेखन करने वाले लेखक प्रो० विनोद शाही कहते हैं, "मेरे लिए विधाओं की बंदिश का मतलब सिर्फ इतना है कि मुझे जब यह लगता है कि मैं कोई बात सिर्फ उपन्यास लिखकर ही कर सकता हूँ तो मैं उपन्यास लिखता हूँ। बाकी कहानी, नाटक आदि जो भी लिखा है वह सब इसी मानसिकता का

प्रक्षेपण या प्रगटीकरण है।” हमारे कई बड़े लेखक इसी कोटि में रखे जा सकते हैं।

इस भूमिका के बाद अब आप डायरी में मुझे देखें—  
20/1/2025

हाल में देश के दक्षिणी हिस्से के एक केंद्रीय विश्वविद्यालय में चर्चा के दौरान कुछ प्रश्न उठाए गए मसलन : महान कविता और लोकप्रिय कविता, तुलसीदास और शेक्सपीयर, हिंदी और अंग्रेजी के लेखन के कुछ मूल प्रश्न आदि-आदि।

मेरा मानना है कि महान कविता और लोकप्रिय कविता का प्रश्न एक शाश्वत प्रश्न है, लेकिन हिंदी समेत दुनिया भर के साहित्य का इतिहास इस बात का गवाह है कि कई बार महान कविताएँ लोकप्रिय नहीं होतीं। हमारे बहुत सारे कवि-लेखक महान की श्रेणी में तो रखे जा सकते हैं, और तुलसी से लेकर अज्ञेय, कुंवर नारायण, मुक्तिबोध तक महान तो हैं लेकिन वे लोकप्रिय नहीं हैं। लेकिन माखनलाल चतुर्वेदी को किस श्रेणी में रखा जाएगा जिनकी कविता पुष्प की अभिलाषा आज भी लोगों की जुबान पर है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान लिखी ‘एक भारतीय आत्मा’ की यह कविता महान भले न हो, लोकप्रिय तो है ही। यही हाल सुभद्रा कुमारी चौहान की ‘खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी’ का है। लेकिन...!! और हर ‘लेकिन’ एक ‘बड़ा’ लेकिन ज्ञान की हर विधा में मानी जाता है।

जहाँ तक महान के साथ लोकप्रिय की बात है तो यूरोपीय साहित्य में ज्ञान की हर विधा में यूनान का जो वर्चस्व रहा है, वह महान है लेकिन...?? वही हाल अंग्रेजी के महान कवि मिल्टन (1608-1674) का है जिन्हें महान से भी महान की श्रेणी में उनकी सिर्फ दो किताबों ‘पाराडाइज लॉस्ट’ और ‘पाराडाइज रीगेन्ड’ के कारण रखा जा सकता है; लेकिन लोकप्रियता उनके खाते में नहीं रही है। इस कसौटी पर यूरोप में शेक्सपीयर और भारत में तुलसीदास शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं और ये दोनों मनीषी जो लगभग समकालीन थे, महान और लोकप्रिय दोनों हैं। तुलसी का मानस सामान्यजन

में भी पूजा की तरह देखा पढ़ा-परखा और उद्धृत किया जाता है और शेक्सपीयर के नाटकों और सॉनेट शैली में लिखी कविताओं का हवाला हर भाषा का आदमी देता है; चाहे वह यूरोपीय हो या कोई और।

यही नहीं! ये दोनों महान और बड़े साहित्य की बहस को भी आगे बढ़ाते हैं और निष्कर्ष के तौर पर यह बड़ा तथ्य सामने लाते हैं कि दुख बड़े साहित्य का एक बड़ा तत्व है। यानी दुख या **Suffering** से बड़ा साहित्य निकलता है। तुलसी के मानस का हर पात्र दुख की पराकाष्ठा भोग रहा है : राम का दुख, दशरथ का दुख, सीता का हर कदम पर परीक्षाएँ देते-देते हताशा का दुख, कैकेयी का दुख, भरत का दुख, रावण के दुख की मारी मंदोदरी का दुख, बाली का दुख, सुपनखा का दुख, माँ यशोदा का दुख है। मानस में कोई ऐसा पात्र जो दुखी नहीं हो?? और सबके दुख-सुख का एक ऐसा कोलॉज तुलसी ने बनाया है कि ये सारे दुख संसार के दुख हो गए हैं। इन दुखों पर एक-एक शोध ग्रंथ लिखा जा सकता है, इसीलिए इन्हें यहीं छोड़ आगे बढ़ना ठीक होगा!

ठीक शेक्सपीयर (1564/1616) के यहाँ भी यही है : चाहे उनका नाटक ‘मर्चेन्ट ऑफ वेनिस’ हो या ‘जूलियस सीजर’ सबमें दुख एक बड़ा तत्व है। जूलियस सीजर का यह डायलाग “**You too Brutus**” किसी को किसी के द्वारा धोखा दिए जाने पर प्रायः उद्धृत किया जाता है। और कहा जाता है कि हिटलर ‘मर्चेन्ट ऑफ वेनिस’ के एक यहूदी पात्र शाईलॉक की क्रूरता से तिलमिला कर यहूदी-विरोधी हो गया था। संक्षेप में होता यह है कि एक यहूदी शाईलॉक एक एंटोनियोनाम के आदमी को कर्ज देता है और उससे एक राजीनामा लिखा लेता है कि अगर उसने समय पर कर्ज नहीं लौटाया तो शाईलॉक उसकी छाती से एक पौंड माँस काट लेगा। यह अनायास नहीं है कि सारी दुनिया में और खास तौर से यूरोप के देशों में यहूदी अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात थे। जो आज के इटली में है और इस नहरों वाले शहर को पर्यटकों का स्वर्ग कहा जाता है। इस नाटक से शेक्सपीयर के फलक का अंदाजा भी लगता है।

मेरे लिए ये प्रश्न आज इन्हें अपने मन से उतारते हुए यह एहसास और उम्मीद हो रही है कि हिंदी के शोधार्थी इन प्रश्नों, शंकाओं, परिस्थितियों से जूझेंगे और शोध को कुछ नया देंगे।

ये प्रश्न मुझे तबाह किए हुए थे और आज इन्हें कागज पर उतार कर मुझे एक राहत मिल रही है। मेरी मुश्किल यह है कि मैं जल्दी में, या माँग या डिमांड पर कुछ लिख ही नहीं पाता। चीजें जब पक जाती हैं तो वे जर्मन कवि रिल्के (1865-1926) की तरह आदमी को या मुझे इतना परेशान करती हैं कि उन्हें लिखे बिना कोई चारा नहीं है। शायद यही कारण है कि लिखने में परिवर्तन की उम्मीद भी होती है। मुझे तो ऐसा ही लग रहा है।

22/02/2025

आज सुबह उठते ही या कहिए उठने के पहले ही सिक्किम के एक बहुत पढ़े-लिखे राजनीतिज्ञ का फोन आया। “अरे भूषण साब। आप कुछ लिख-पढ़ रहे हैं क्या? मई में सिक्किम के भारत में शामिल होने के 50 वर्ष पूरे हो रहे हैं।” मैंने उन्हें आश्चस्त किया कि काम में लगा हूँ, लेकिन मेरे लिए सन 2025 और भी कई कारणों से महत्वपूर्ण है। यानी, इस वर्ष यह शताब्दी 25 वर्ष की युवा हो गई है। सिक्किम नए भारत में पचास वर्ष का हो गया। जयशंकर प्रसाद का उपन्यास कंकाल एक सौ दो वर्षों का हो गया जिसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का स्रोत माना जाता है। उपन्यास 1923 में छपा था और संघ की स्थापना 1925 में हुई थी जिसे एक सांस्कृतिक संगठन (?) कहा जाता है, तो संघ भी 100 वर्ष का हो गया। इसी वर्ष कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना भी हुई थी, यानी वह भी मरते-जीते 100 वर्ष की हो गई। इसी वर्ष कांग्रेस स्थापना के 140 वर्ष पूरे हो रहे हैं। 2024 में अटल बिहारी वाजपेयी अगर होते तो 100 वर्ष के हो गए होते...। वगैरह-वगैरह। हाँ! ट्रंप का आगमन??

मतलब कि 2025 इतना महत्वपूर्ण है जितना शायद ही कोई वर्ष राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होगा। इसलिए इस वर्ष पर इन्हीं कोणों से विचार होना चाहिए। इससे ज्ञान के अनुशासनों के लिए भरपूर सामग्री प्राप्त हो सकती

है और इस वर्ष के ‘समय’ (याद कीजिए महाभारत सीरियल का संसार की सृष्टि के घूमते चक्र के साथ यह वाक्य “मैं समय हूँ...” को इसके कई अर्थ देने वाले शब्दों के साथ याद किया जा सकता है जैसे – काल, महाकाल, अकाल, दुष्काल आदि। यानी ये सभी अनेकार्थी शब्द कहीं न कहीं से या किसी न किसी रूप में समय का प्रक्षेपण है और उसके अर्थ के विस्तार के वाहक भी। इसीलिए यह वर्ष सिर्फ एक काल-खंड या वर्ष-खंड नहीं है; बल्कि ज्ञान की अनेक शाखाएँ यहाँ तक एक सम्मिलित जुगलबंदी में साहित्य, इतिहास, दर्शन, राजनीतिक उठा-पटक से निकली राजनीतिक-मीमांसा का मंच बन रही हैं और इस वर्ष से निकले तथ्य कई तरह के विचारों का रास्ता खोलेंगे।

मेरे लिए पत्रकारिता (यहाँ सिक्किम का संदर्भ) और साहित्य ‘निर्गुण सगुण ही नहीं कछु भेदी’ की तरह है और दोनों इस तथ्य के आधार पर महत्वपूर्ण हैं कि “पत्रकारिता जल्दी का साहित्य है।” यानी *Journalism is literature in hurry* तो मतलब यह कि पत्रकारिता भी साहित्य ही है भले जल्दी का हो। पत्रकारिता आदमी को जीवन के रू-ब-रू लाकर खड़ा कर देती है: उसकी अच्छाई-बुराई, उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन के साथ। इसीलिए पत्रकारिता के बहुत सारे लोग पचास वर्ष की उम्र पार करने के बाद साहित्य में जब उतरते हैं तो उनके पास जीवन का चप्पा-चप्पा अपनी पूरी इयत्ता के साथ दोस्त की तरह खड़ा होता है। यह अनायास नहीं है कि दुनिया के अस्सी प्रतिशत से अधिक बड़े लेखक पत्रकारिता की पृष्ठभूमि वाले रहे हैं। अपने यहाँ अज्ञेय, नेमीचंद जैन, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव आदि और यूरोप में टीएस इलियट, गाल्सवर्दी, ग्राहम ग्रीन, ग्रैबियल गार्शिया मारक्वेज, ज्यॉ पॉल सार्व, कामू, पाब्लोनेरूद। आक्टेवियो पॉज आदि। और साँस रोककर सुनिए : इनमें से इलियट, गाल्सवर्दी, मारक्वेज, कामू, नेरूदा और पॉज नोबेल पुरस्कार विजेता हैं और सार्व की महत्ता का बखान इसलिए भी होता है कि 1964 में नोबेल

## डायरी अंश

पुरस्कार ठुकराते हुए उन्होंने जो जुमला बोला वह अंतरराष्ट्रीय उद्धरण बन गया। उन्होंने कहा था “मैं आलू का बोरा अपनी पीठ पर ढोना नहीं चाहता।” यानी नोबेल पुरस्कार इस महान दार्शनिक और लेखक के लिए आलू का बोरा था। महानता व्यंग्य में और शातिर-ढंग से उभरती है।

मुझे यह अहसास नहीं था कि डायरी शैली में लिखा यह लेखन-अंश आगे के लेखन की बहुत सारी सामग्री भी मुहैया कराएगा। मैंने आज एक प्रबुद्ध संपादक से एक अंक पत्रकारिता और साहित्य पर केंद्रित करने को कहा...

**05/03/2025**

संयुक्त परिवार के बिखरने से कई समस्याएँ पैदा हो रही हैं। लोग आत्म-केंद्रित हो रहे हैं; परिवार टकरा रहे हैं; भाई-भाई का दुश्मन हो रहा है, पैसा मनुष्य को आक्रमक बना रहा है। राजनीतिज्ञों में तो जैसे मार-काट ही मची है और पैसे के कुंभ में डूबकी लगाते-लगाते लोग विनाश की विभीषिका पर सोच नहीं रहे। खासतौर से हमारा मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग। राजनीतिज्ञों में तो एक भाई भाजपा में तो दूसरा कांग्रेस में। माँ भाजपा में तो बेटा कांग्रेसी और परिवार का एक सदस्य यानि बेटे का बेटा कांग्रेस से भाजपा में और फिर मंत्री। मेरे लिए पत्रकारिता जीवन के कई जटिल प्रश्नों को समझने के मनोविज्ञान का विस्तार है और वह अगर साहित्य के माध्यम से आती है तब तो दोनों के संबंध सोने में सुगंध की चमेली की चरह महमहा उठते हैं। जीवन की सुंदरता या उसकी समझ का सौंदर्य बोध इसी बात में है कि उसे लिखा भी जाए, महसूस भी किया जाए, समझा भी जाए और झेला भी जाए। झेलने में दुख नियामक भूमिका अदा करता है और दुख बड़े साहित्य का रास्ता साफ करता है।

ये बातें होनी चाहिए क्योंकि सिक्किम के एक पूर्व

मुख्यमंत्री कई कारणों से त्रस्त हैं और ‘लेखन में ही मुक्ति’ की राय उनके करीबी लोग दे रहे हैं क्योंकि राजनीति में आने से पहले वे नेपाली भाषा के चर्चित कवि रहे हैं। माना जाता है कि उन्होंने राजनीति और साहित्य दोनों को साधा भी और बहुत हद तक उसकी पवित्रता को भी बरकरार रखा। उन्हें देश में सबसे लंबे समय तक मुख्यमंत्री रहे गेगोंग अपांग, ज्योति बसु, नवीन पटनायक आदि के साथ याद किया जाता है; हालाँकि उनका कार्यकाल देश में अब तक का सबसे बड़ा रेकार्ड है और वे राष्ट्रीय स्तर पर इस कारण भी चर्चित रहे हैं। उनके कई कविता संग्रह मैंने पढ़े हैं। कविताओं में कविता की शास्त्रीयता, अपनी खोज की बेचैनी यानी ‘मैं कौन हूँ’ की ललक, सपना विपना का फर्क, प्रेम और राजनीति की उठा-पटक आदि के चित्र अपनी सामाजिक स्थिति के संदर्भ में चित्रित हुए हैं। उन्हें कई राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार भी मिल चुके हैं। राजनीति और साहित्य दोनों के लिए। उनका हिंदी पर भी अच्छा अधिकार है। अटल जी के प्रधानमंत्रीत्व काल में उन्हें राष्ट्रीय हिंदी समिति का सदस्य भी मनोनीत किया गया था।

**04/02/2025**

यह डायरी तरतेबर नहीं है। समय-समय पर लिखी गई है। लेकिन, अगर इसकी बातों को एक साथ भी कर दिया जाए तो इसमें एक लेख का कलेवर संभवतः ध्वनित होने लगे। क्या यह भी विधाओं की बहुआयामी सार्थकता का एक नमूना हो सकता है। सोचिए, देखिए और परखिए। क्या पता जयशंकर प्रसाद के शब्दों में “मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाए रहता है; हम सब उसे नहीं समझ सकते।”

देवेन्द्र सत्यार्थी और हिंदी में इतर विषयों पर भी बात अगर हो तो...

31ए, के. सी. रोड (होटल महावीर इन)  
सिलीगुड़ी (पश्चिम बंगाल) - 734001  
मो० : 9775938214

## डायरी : लिखे बगैर रहा नहीं

-कुबेर कुमावत

दिनांक : 24.07.2024

भारत में राजनीतिक पार्टियाँ कहने और दिखाने के लिए लोकतांत्रिक होती है और लोकतांत्रिक तरीके से चुनकर आती हैं, पर वें असल में लोगों पर हुकूमत ही करती हैं यानी लोगों को रूल करती हैं। इन पार्टियों के भीतर की व्यवस्था भी तानाशाही जैसी ही होती है। यह बीमारी भारतीय लोकतंत्र में आजादी के समय से व्याप्त रही है। असल में आजादी का मतलब राजतंत्र से मुक्ति था, राजतंत्र से स्वतंत्र होने का था, पर वह हुआ ही नहीं। राजा तब भी थे और आज भी हैं, बल्कि राजा बनना पहले से अधिक सरल हो गया है। यहाँ की राज्यव्यवस्था ने कुछ ऐसी तकनीक अपनाई कि लोगों को लगे कि लोकतंत्र है, पर काम तानाशाही के जैसे किया जा सके। अब यह पहले जैसे राजा-रानी और प्रधान वाला युग तो नहीं था, पर लोकतंत्र का चोला पहनकर बिल्कुल इस ढंग से जिया जा सकता था; यह कुछ लोगों ने सिद्ध कर दिया। इस देश के एमपी, एमएलए, मंत्री, सरकारी अधिकारी से लेकर उनके पीए और चमचों तक का रहन-सहन राजाओं जैसा होता है और उनके कार्यालय दरबारों से कुछ कम नहीं होते। उन्होंने भारतीय राज व्यवस्था को बड़ी चालाकी से अपने कब्जे में कर लिया है और लोगों को मुफ्त में कुछ अनाज, पैसा देकर गुलाम बना लिया है।

इधर के कुछ वर्षों में यदि चुनकर आई हुई सरकारों का अवलोकन आप करेंगे तो देखेंगे कि वे किसी व्यापारी या व्यावसायिक जैसे देश चला रहे हैं। इन्हें हर काम में जनकल्याण का नहीं, बल्कि धनिक वर्ग के हितों का अधिक ध्यान रखना होता है। धनिक वर्ग राजनीतिक पार्टियों को चंदा देते हैं या उनका चुनावी खर्च उठाते हैं और इसके बदले में उन्हें अपने व्यवसायों की उन्नति के लिए वांछित निर्णय करवा लेने में आसानी होती है। धनिक वर्ग किस प्रकार से राजनीतिक दलों या सत्ताधारियों को नियंत्रण में कर लेते हैं वह छुपा नहीं रहा है, बल्कि ज्यादातर व्यावसायिक, बिजनेसमैन और धंधा करने वाले लोग ही राजनीति में बहुसंख्या में प्रवेश कर चुके हैं। बल्कि, इसमें भी दो नंबर का धंधा करने वाले अधिक हैं। होटलें, रिसॉर्ट, बिल्डर्स, शराब व्यापारी, कमिशन एजेंट जैसे धंधा करने वाले लोग राजनीति में अधिक मिलेंगे।

राहुल गांधी ने संसद में कहा कि “इस देश में धनिक वर्ग के लोग परीक्षाओं के मनोनुकूल परिणामों को भी खरीद लेते हैं।” यह कौन सी नई बात कह रहे हैं राहुल गांधी? धनिक वर्ग इस देश में सरकारों को खरीद ले रहा है। सरकारी नौकरियों को खरीद रहा है, पुलिस और न्यायपालिका को खरीद रहा है। बल्कि, संवैधानिक संस्थाएँ खुद अपनी बोली लगा रही हैं। सब कुछ बेचा और खरीदा जा रहा है। तब आप ही कहें कि इन 77 सालों में हमारा लोकतंत्र कितना मजबूत हुआ? मतदाताओं को खरीदा जा रहा है, सांसद, विधायक कि यहाँ तक पार्टियाँ भी खरीदी जा रही हैं। जैसे यह देश, देश न होकर कोई बाजार या मंडी हो गया है। और इस तरह की गलीज खरीद-फरोख्त को लोक स्वीकृति या कहें लोकमान्यता भी मिल रही है। योग्यता और प्रतिभा के बिना भी सफल हुआ जा सकता है, ऐसे कई उदाहरण आपको दिल्ली से गली तक मिलेंगे। और जब यह सब खुलेआम और बेरोकटोक हो रहा है तो आम लोगों को भी लग रहा है कि यही सफलता और उन्नति करने का सही रास्ता है। आम लोगों के लिए तो यही नैतिक प्रतीत हो रहा है। संदेश तो यही जा रहा है कि ऐसा ही करना होगा तब ही कुछ विशेष बना जा सकता है और



## डायरी अंश

पैसा कमाया जा सकता है।

माँगने नहीं जाना है। मैंने तय कर लिया है चाहे लोग मुझे असफल कहें, पराजित कहें, पर मैं भीख माँगने जाऊँगा नहीं। मिला तो अच्छा, नहीं मिला तो बहुत अच्छा। एक बात कहूँ, बुरा मत मानना। मैंने ज्यादातर गरीब और असफल लोगों में ही अधिक खुदारी देखी है। ज्यादातर अमीर और सफल लोग बेशरम, चापलूस और डरपोक किस्म के होते हैं। उनमें ताकत तो होती है, लेकिन पुरुषार्थ नहीं होता।

**दिनांक : 20.07.2024**

अंतरराष्ट्रीय मित्रता दिवस पर : वैकल्पिक मित्र नीति

“इस बात का ध्यान रखें कि आपके जीवन में सबसे कीमती अपनी जान होती है। किसी एक पुरुष या महिला दोस्त को आप बहुत चाहते हैं तो दूसरे पुरुष या महिला से भी अच्छे रिश्ते बनाकर रखें। क्योंकि, पहले दोस्त ने आपको दुख या धोखा दिया या आपका दिल तोड़ दिया तो दूसरा दोस्त आपकी मदद करेगा। इससे आप ज्यादा उदास नहीं होंगे, अकेलापन महसूस नहीं करेंगे और आत्महत्या के लिए भी प्रेरित नहीं होंगे।”

(पुस्तक : ‘सामने देख’ - हेमंत चांदेवार)

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी एक दोस्त पर निर्भर न रहें और उस पर अपना सब कुछ न छोड़ें। एक से ज्यादा मित्र बनाने की कोशिश करें। भले ही वे आपको अधिक समय न दें। मित्रता टाइम पास करने के लिए ना करें और न ही किसी से कोई अपेक्षा करें। आज कल की दुनिया में आपको एक बार कोई असली चीज मिल जाना असंभव नहीं, पर असली मित्र मिलना बहुत ही मुश्किल है। इसलिए, हो सकें तो असली के चक्कर में न ही पड़े तो अच्छा है। हर चीज का विकल्प बना के रखें। जो मेरे मित्र नहीं हैं उनके भी विकल्प मेरे पास है। जीवन में विकल्प नीति से ही आप एक सुरक्षित और चैन भरी जिंदगी जी सकते हैं। यह नहीं तो वो, वो नहीं तो वो। और याद रखें अपना भी विकल्प बनाए कि समय पड़ने पर कोई न हो तो खुद ही के साथ समय बिताया जा सके, बातें की जा सकें और एक बेहतरीन जिंदगी जीने का सुख उठाने में आप सफल हो सकें।

**दिनांक : 21.08.2024**

वे जी-जान से साहित्य की सेवा में लगे हुए हैं। कविता,

दोहे, गजलों से होकर कहानी, उपन्यास, व्यंग्य, निबंध, साक्षात्कार, संस्मरण आदि बहुत लिख लेने के बाद भी उनकी आत्मा को संतुष्टि नहीं मिली। हर तरह के सभा-सम्मेलनों, संगोष्ठियों में, मंचों की शोभा बढ़ाकर, स्कूलों-विश्वविद्यालयों में अपनी रचनाओं को घुसेड़ने और अनेक स्थानीय, राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों और सम्मानों को अर्जित करने और कई विदेश यात्राओं को कर लेने के बाद भी उनकी आत्मा अतृप्त ही है। समझ में ही नहीं आ रहा कि यह अतृप्ति क्यों कर है? कैसी यह प्यास? हिंदी की सेवा करे तो कैसे करें? एक विशेष तरह का आभामंडल यानी अँग्रेजी में क्या कहते हैं उसे? हाँ, ‘ऑरा’ उनके व्यक्तित्व के चारों ओर लहरा रहा है। कई अकादमिक संस्थानों की शोभा बढ़ाने के बाद भी उन्हें लगता है कि उनके कुछ विशेष हुआ ही नहीं है। अब लिखने के लिए भी कुछ नहीं बचा तो अपने परिवार या नाती-नातियों के साथ फोटो ही फेसबुक में चस्पा करिए जा रहे हैं या 10-20 साल पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी रचनाओं के फोटो ही अपनी वाल पर लगाए जा रहे हैं। फिर भी कुछ हासिल नहीं हो रहा है तो नई प्रतिभाओं की तलाश में लग गए हैं। उन्हें भी लगता है कि इनमें प्रतिभा जैसी कोई चीज़ ही नहीं पर जमावड़ा करें भी तो कैसे? अपने कुछ अकादमिक रसूखों से अपने चेले-चपेटों को विश्वविद्यालयों में नियुक्तियाँ दिलवाने के बाद उनसे भी निराशा हाथ लगी है। वे खुद भी कुछ नहीं करते और उनके लिए भी कुछ नहीं कर सकते। अब करे तो क्या करें? बड़ी भीषण यंत्रणा से गुजर रहे हैं। कभी-कभी अपने विदेश में बसे बेटों-बेटियों के पास भी चले जाते हैं। विदेश में बसे प्रवासी हिंदी साहित्यकारों से कुछ उन्मीद इन्हें थी। पर देखा कि ये प्रवासी साहित्यकार उनसे ज्यादा तड़प रहे हैं तो ये अधिक उदास हो गए। फिर से अपने देश की ओर आशा से देखने लगे और लौट आए। तब तक उधर उन्हें लोग लगभग भूलने की स्थिति में थे कि इन्होंने फिर जोर लगाया और पुरस्कार घोषित करने लगे। हिंदी साहित्यिक संन्यास जैसी कई अवधारणा है ही नहीं, जब तक जिंदा हो लिखो। बिना यह सोचे-समझे लिखो कि लिख किसलिए रहे हो?

दिनांक : 24.08.2024

कल मैंने कॉलेज में ही अपनी जेब की एक छोटी-सी पर्ची पर एक टिप नोट कर ली थी। इसलिए कि उसे विषय बनाकर मैं कुछ लिख सकूँ। फुरसत में और घर पहुँचकर। यह टिप है— “ओ लेखकासुर! मैं तुम्हारा क्या कर सकता हूँ?” असल में हम हर उस व्यक्ति का कुछ भी कर नहीं सकते जो व्यक्ति श्रेष्ठताबोध या विशिष्टताबोध से प्रचंड रूप से ग्रस्त है। वह व्यक्ति इतना आत्ममुग्ध हो गया है कि उसे अपने सामान्य होने की दूर-दूर तक अनुभूति ही नहीं होती। वह अपने आपको किसी महान आत्मा या देवता की तरह अद्वितीय समझने लगता है। साहित्य के क्षेत्र में इस रोग से अनेक लोग मुझे पीड़ित दिखाई देते हैं। कहना तो नहीं चाहिए पर ऐसा लगता है कि कहना जरूरी हो गया है।

इधर के दिनों में मैंने यह अनुभव किया कि यदि किसी रचनाकार की दस पुस्तकें प्रकाशित हैं तो वह नौ प्रकाशित पुस्तकों वाले रचनाकार को अपने से कमतर समझता है। किसी के यदि पचास उपन्यास प्रकाशित हैं तो वह चालीस वाले को अपने से छोटा उपन्यासकार समझता है। कविता, कहानी, उपन्यास और साहित्यिक आलोचना की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या के आधार पर उत्पन्न यह विशिष्टता की भावना साहित्य के क्षेत्र में स्वस्थ भावना या प्रवृत्ति तो नहीं कही जा सकती? किसी लेखक की खुद की प्रेस है तो उसकी सौ-डेढ़ सौ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। नहीं है तो किसी भी तरह पुस्तकें प्रकाशित कर ली गई हैं। इस भाव से कि मैं संख्या के मामले में तो उच्च श्रेणी का बन ही गया हूँ। अब इस तरह थोक में लिखने वालों और प्रकाशित करने वालों को तो ‘लेखकासुर’ ही कहा जा सकता है ना? कि उसे ‘कलम का सिपाही’ कहेंगे या ‘कलम का जादूगर’? उसे ‘लेखक सम्राट’ भी कहा जा सकता है या ‘प्रचंड लेखक’ या ‘लेखकवीर’। आज कल के ‘अग्निवीर’ की तरह। प्रचंड पराक्रम से युक्त लेखन जो आज तक कोई न कर सका।

इधर प्राध्यापकों में भी यह बीमारी तीव्रता से पसर चुकी है। 200-300 शोधपत्रों से तो कम की बात ही नहीं हो रही है। एक ही वर्ष में 50 शोधपत्र प्रकाशित। देवताओं और असुरों की तरह प्रचंड पराक्रम से युक्त लेखन। मेरे मन में अनेक बार लिखने के प्रति वितृष्णा या व्यर्थताबोध

की भावना उत्पन्न हो जाती है। मुझे न साहित्य जगत का देवता बनना है और न दानव। सामान्य मनुष्य की तरह लिखूँ और दिखाई भी दूँ। इधर एक प्राध्यापक मित्र ने मुझे अपने से इसलिए छोटा समझा कि मेरे निर्देशन में अभी तक एक भी छात्र पीएच०डी० नहीं हुआ और उनके दो हो चुके और चार पीएच०डी० कर रहे हैं। मुझे तो यह भी पता चला कि मेरी तो सिर्फ तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं इसलिए मैं उन लेखकों से अयोग्य और छोटा हूँ जिनकी मुझसे अधिक प्रकाशित हो चुकी हैं। एक और गौर करने की बात यह है कि यदि हिंदी के श्रेष्ठ प्रकाशनों से यदि आपकी पुस्तकें प्रकाशित हैं तो आप उनसे अधिक श्रेष्ठ हैं जिनकी ऐसे प्रकाशनों से प्रकाशित नहीं हैं।

मुझे लगा कि मुझे इस तरह छोटा और अयोग्य समझना मेरे लिए किसी सम्मान से कम नहीं है। जब कभी योग्यता विवादित हो तो अयोग्यता कितनी महत्वपूर्ण चीज है यह मैं समझ चुका हूँ। मैं छोटा, निरीह और सामान्य बने रहने में ही अपने जीवन की सार्थकता और योग्यता समझता हूँ। और न लिखने वाला या किसी भी तरह की प्रतिभा से हीन व्यक्ति तो एकदम तुच्छ या क्षुद्र व्यक्ति ही है इनके सामने। ओ लेखकासुर! मैं तुम्हारा कर भी क्या सकता हूँ।

दिनांक : 30.08.2024

कल एक भारतीय विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर द्वारा जारी एक पोस्ट पढ़ी, जिसमें उन्होंने यह निवेदन किया है कि उन्होंने पीएचडी शोधकार्य हेतु एक योजना बनाई है। जिन साहित्यकारों की हिंदी की विविध विधाओं में सृजनात्मक स्तर की न्यूनतम दस या उससे अधिक रचनाएँ यानी पुस्तकें प्रकाशित हैं वे अपनी इन रचनाओं की सूची उन्हें भेजकर कृतार्थ करें। अब ऐसी स्थिति में मेरे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

प्रश्न 1) आप पीएच०डी० किसलिए करना और करवाना चाहते हैं? और

प्रश्न 2) साहित्यकार किसी विश्वविद्यालय को अपनी रचनाओं पर पीएच०डी० करवाने के लिए अपनी रचनाओं की जानकारी या रचनाएँ खुद होकर क्यों भेजे?

मुझे लगा कि उक्त दोनों प्रश्नों की पृष्ठभूमि में यह निवेदन कतई गरिमामय और स्वागत योग्य नहीं है। आप

## डायरी अंश

सभी तो जानते हैं कि देश में हिंदी शोधकार्य का स्तर किस प्रकार का है। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ कि हिंदी में शोधकार्य का स्तर एकदम से गिरा हुआ है, बल्कि मुझे यह कहना अभिप्रेत है कि हिंदी में स्तरीय शोधकार्य बहुत ही कम संख्या में हो रहा है और जो हो रहा है उसकी कोई विशेष दखल नहीं ली जा रही है। जो बहुसंख्यक में खराब शोधकार्य हो रहा है वह दुर्भाग्य से शोध प्रविधि का आदर्श या मानक बनता जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है इस पर बहुत गंभीरता से सोचना आवश्यक है। दूसरी ओर मेरा एक और निरीक्षण यह कहता है कि जिन समकालीन साहित्यकारों पर पीएच०डी० हो रही है या की जा रही है उन साहित्यकारों को ऐसा लग रहा है कि इस तरह उनकी रचनाओं पर पीएच०डी० होना उनके साहित्यकर्म की उत्कृष्टता और अद्वितीयता का परिचायक है। मैंने ऐसे कई साहित्यकारों को अपनी फेसबुक वाल पर अपने साहित्यकर्म पर पीएच०डी० करने वाले शोधकर्ताओं की सूची को प्रदर्शित करते हुए देखा। कोई तो यह बताने की चेष्टा कर रहा है कि देखों, इन 20 से 25 लोगों ने मुझ पर पीएच०डी० की है। इस तरह अपने सृजन कर्म पर केंद्रित शोध कार्य पर साहित्यकारों को मोहित हो जाना अविश्वसनीय है। मैं इन साहित्यकारों से यह विनम्र निवेदन करता हूँ कि कृपया यह तो बताइए कि उन शोधकर्ताओं ने भला आपकी रचनाओं को लेकर कौन सा मौलिक शोध किया है? शोध तो जानते ही हैं न आप? आप अपने सृजन पर हुए इन शोधकार्यों को पढ़कर कोई मौलिक या मानीखेज टिप्पणी करने का साहस क्यों नहीं करते? केवल सूची या सूचनाएँ भेजते रहते हैं।

देखिए, यह लोग शोध कार्य क्यों कर रहे हैं? इसलिए कि पीएच०डी० देश के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक बनने की योग्यता या पात्रता यूजीसी द्वारा निर्धारित की गई है, इसलिए कर रहे हैं। आपका साहित्य बहुत ही अच्छा और श्रेष्ठ है, इसलिए नहीं। यदि इस शर्त को

यूजीसी निकाल देती है तो आपके लेखन पर कोई शोध नहीं करेगा। शोध तो क्या आपकी रचनाओं की एक लाइन भी नहीं पढ़ेगा। मित्रो, शोधकर्ताओं और शोध निर्देशकों का हेतु कुछ और ही है। प्रामाणिक शोधकर्ता और सच्चा पाठक तो आपको भाग्य से ही मिलेगा। इस पर बहुत अधिक इतराने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर मामला यह है कि आप भी प्रतिष्ठा के लोभी हैं। चाहे वह नकली प्रतिष्ठा ही क्यों न हो। पर आप यह क्यों नहीं समझते कि ऐसी जद्दोजहद से आप वास्तविक सम्मान या प्रतिष्ठा को तो अर्जित नहीं कर सकते। पर आज के युग का सच यह भी है कि झूठी ही सही, प्रतिष्ठा मिलना जरूरी है।

मैं इस क्षेत्र से संबंधित हूँ और बहुत निकट से जानता हूँ कि हम प्राध्यापक वर्ग के लोग इस क्षेत्र को कितना बदनाम कर चुके हैं। कुछ भी और किसी भी तरह से लिखी हुई सामग्री को पीएच०डी० थीसिस के रूप में मान्यता दिलवाने में सफल हो जाते हैं। कतिपय लोग तो नित्य का ढिंढोरा पिटते रहते हैं कि मेरे निर्देशन में अब तक 30-40 छात्रों ने एम०फिल० और पीएच०डी० की है। इस उपलब्धि के बल पर वे विश्वविद्यालयों के ऊँचे पदों पर या यह कहे कि वॉयस चांसलर के पद भी चयनित हो जाते हैं। उनकी इस प्राप्त सफलता या उलब्धि को देखकर अन्य लोग भी उसे रास्ते का अनुसरण करते पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति को देखकर लगता है कि हम क्यों इस क्षेत्र में आए हैं? देखिए, ऐसे शोधकार्यों पर साहित्यकार ही चाहे तो कुछ अंकुश लगा सकते हैं। अपने साहित्य पर की ई पीएच०डी० को यदि लगे तो कटघरे में खड़ा करें। आपति उठाए। लेकिन किसी भी तरह साहित्य के क्षेत्र में गदी परिपाटी को रोकने में सहायता करें। एक से एक ठग और डाकू इस पवित्र क्षेत्र को अपने कब्जे में ले चुके हैं। आप चाहे तो साहित्य सृजन का काम थोड़े समय के लिए स्थगित कर दें। यह युग आपकी सक्रिय होने की तीव्र प्रतीक्षा कर रहा है। आपसे बड़ी उम्मीद है।

**संपर्क :** प्लॉट नं० 38, 1732/3, केले नगर ठेकू रोड  
अमलनेर - 425401 (महाराष्ट्र), मो० : 9823660903

## नवगीत साहित्य की शुभता का संकेत

- श्याम सुन्दर तिवारी

जीवन एक गीत की तरह ही है। जीवन में गीतों का स्थान दूध में जल की तरह है। जैसे जल और दूध विलग नहीं किए जा सकते, बिल्कुल ऐसे ही गीत को भी जीवन धारा से विलग नहीं देखा जा सकता।

सपने हो, मिलन हो या विरह हर मोड़ पर गीत हमारे साथ खड़े दिखाई देते हैं। गीत ने एक लंबी यात्रा तय की है। उनकी कथा वस्तु, शब्द, विन्यास, लय अथवा अलंकारिकता उसके समृद्ध स्वरूप के दर्शन कराते हैं। पिछली सदी में अपनी महत्वपूर्ण यात्रा के दौरान गीत ने निरंतर स्वयं को विकसित किया है, बदला है।

अब गीत केवल राजाओं की बिरुदावली गाने अथवा शृंगार को गाने वाला भाट नहीं रहा। गीत अब समय के साथ कदम से कदम मिल कर चल रहा है। वह अब वर्तमान की बात करता है। वह सियासत पर आक्रोशित होता है, वह समय की विद्रूपताओं को समाहित कर हमारे समक्ष आता है। गीत अब 'नवगीत' के सघन स्वरूप में साहित्य की जरूरी विधा के रूप में हमारे समक्ष है।

लेकिन, नवगीत को नवगीत होने से पहले एक कठिन रास्ता तय करना पड़ा है।

आज डॉ॰ माहेश्वर तिवारी, नचिकेता या डॉ॰ बुद्धिनाथ मिश्र आदि कवियों की इस धरोहर को आगे और आगे ले जाने व मजबूत बनाने के लिए अनेक युवा नवगीत कवि नवगीत की मशाल को लेकर उत्साह से आगे बढ़ रहे हैं, जैसे यश मालवीय, राहुल शिवाय, गरिमा सक्सेना आदि।

मुझे खुशी है कि जिस कविता की जमीन को आज मैं सींच रहा हूँ उसे तैयार करने के लिए अनेक हाथ आगे बढ़ रहे हैं। यह नवगीत के उज्ज्वल भविष्य और साहित्य की शुभता के संकेत हैं। अस्तु, ये कलम कभी न रुके यही शुभकामना है।

### गीत - 1

ट्रेन से दिन धूप सी दुश्चारियाँ  
सूखती हैं जिंदगी की क्यारियाँ।।

तिमिर चादर ओढ़ वसुधा सो रही,  
नयन का सपना हुआ विकलांग है।  
चाँदनी तारों की चूनर ओढ़कर  
खड़ी, लेकिन रही सूनी मांग है।  
गरीबी की पीठ पर बनती रहीं,  
लाल गहरी और नीली धारियाँ।।

बाँसुरी को स्वर नहीं देती पवन  
गगन में फैलाए कितने जाल हैं।  
कर्ज भारी हो गया है धरा का,  
नीर सूखा दरक रहे ताल हैं।

खड़ी हैं सज-धज कर जीने से लगी  
प्रतीक्षा में दमकतीं अटारियाँ

### गीत - 2

ये जीवन है बंजारों सा,  
कभी यहाँ रहे कभी वहाँ रहे।।  
कभी झरना बन कर गिरे जरा  
कभी नदी से दोनों कूल बहे।।  
जब जहाँ पुकारा पहुँचे हम  
सोचा ही नहीं दम है बेदम।  
दो जून की रोटी मिली अगर  
फिर सच बतलाना क्या है कम  
अपना तन हो अखबारों सा  
जब उड़े धार के वार सहे।।

## समय की शिला पर

सागर सा मन लेकर चलते  
पर कौन पिए यह खारा है।  
हम कूप नहीं हैं बादल हैं  
बंजारा तो बंजारा है।  
मृगजाल की तृष्णा में दौड़े  
पर प्रश्न प्यास के खड़े रहे।।

### गीत - 3

धूप के दिन हैं मगर रुकना नहीं  
सूख कर फिर-फिर पनपना है।  
लक्ष्य रखकर सामने चलना  
देख आगे बड़ा सपना है।।

जान ले संघर्ष ही जीवन  
बन रहे हैं राई के पर्वत।  
तोड़ने की कोशिशें होंगी  
हार मत जाना अभी हिम्मत।  
सबल है तू मान कर चलना  
आ रहा पल सुखद अपना है।।

गर रखी अमराई आँखों में  
पीर के दिन पिघल जाएँगे।  
अधर पर मीठा शहद रखना  
कोकिला के कंठ गाएँगे।  
सुभग कृति हो तुम रचयिता की  
तुम्हें तो हर युग में तपना है।।

तिमिर से पर्वत खड़े पथ में  
बर्फ सी घुलती हुई रातें  
देह दुबकी है रजाई में  
मन करे मन से बहुत बातें  
छोड़ना मत सूर्य की आशा  
कर्म पथ पर सदा खपना है।।

### गीत - 4

जीवन अनुभव की अलमारी  
सब सहेज कर रखे हुए।  
खट्टे मीठे तीखे ताजे  
हरे और कुछ पके हुए।।

हाथ पकड़ कर जिन हाथों ने  
चलना सिखलाया पथ पर  
उन्हें सहारा देने में कतराता  
है क्यों सारा घर।  
जैसे यौवन भूला उनको आज  
पाँव हैं थके हुए।।

माना बदला समय मगर  
क्यों मुरझाए सम्मान सुमन।  
अपनापन, परिवार प्रेम का  
यह कैसा व्यापार, अमन।  
आँसू गाढ़े होते होते  
बस पलकों पर रुके हुए।।

बड़ा खजाना अनुभव उनका  
साथ दुआओं का सैलाब।  
भले पीढ़ियों का अंतर हो  
लेकिन हम थे उनका ख्वाब।  
हरे पीत शुक आशाओं के  
छत पर बैठे चुके हुए।।

### गीत- 5

जैसी मन में या सपनों में  
वैसी ही दिखती है लड़की।  
कभी लता बन लिया सहारा  
पर मजबूत नीम है लड़की।।

कभी नदी का विस्तृत तट सी  
कभी झोपड़ी में बैठा डर  
कभी परिंदों की किलोल या  
फिर बन जाती है पूरा घर  
कभी दुखों के पैमाने पर  
खुशियाँ लिखी थीम है लड़की।।

बचपन घरघूले रेती के  
बने और टूटे फिर बीते।  
उसके सपनों में सोना था  
जब तोड़े गुल्लक सब रीते।  
तब से मौन एक युग बीता  
जैसे हुई मीम है लड़की।।



## समय की शिला पर

### गीत - 6

सागर हैं तो धूम उठेंगे  
बन जाएँगे  
नीर घड़े।।

जीवन अंबर,  
घिरते हैं बादल अक्सर  
संघर्षों के।  
मिलने वाले उपहारों में  
ज्यादातर अपकर्षों के।  
पीछे मुड़ कर देख  
जरा उम्मीदों के  
जलपोत खड़े।।

सफर अनिश्चित लंबा है  
पर राही, चलते जाना है  
रुकने का है ठौर नहीं फिर  
ठहरें कहाँ, ठिकाना है।  
खुश होकर यह जान  
कि तेरे  
नयनों में हैं स्वप्न बड़े।

फैलेंगे जब स्वप्न  
नयन का काजल  
सब बह जाएगा  
सूरज वाला सोना लेकर  
नया सवेरा आएगा।

**परिचय :**

**जन्म :** 18 सितंबर

**शिक्षा :** एम०एस०सी० रसायन शास्त्र, एम०ए० हिंदी साहित्य। लगभग 40 वर्षों से दोहे, ग़ज़ल, लघुकथा एवं शोध आलेखों में सक्रिय। साझा संकलन, नवपल्लव, साहित्य सरोवर इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। मैं किन सपनों की बात करूँ, बहती हो तुम नदी निरन्तर, हेमहंसिनी, लौट चले जोगी, साँझ के घर में किरन इनके गीत संग्रह हैं। आकाशवाणी और दूरदर्शन से आपने काव्य पाठ भी किया है।  
नूतन पहल जयपुर, का 'पहली पोती सम्मान', 'डॉ० भगवान सहाय शर्मा स्मृति गीत सम्मान' किस्सा कोताह ग्वालियर, साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद का 'वीरेन्द्र मिश्र गीत सम्मान 2020', सुन्दरम साहित्य संस्थान लखनऊ का 'सुन्दरम साहित्य रत्न', स्व० राधिका प्रसाद पाठक स्मृति, कादंबरी सम्मान (जबलपुर), शब्द शिल्पी अलंकरण, अभिनव कला परिषद (भोपाल) सम्मान से सम्मानित।

**संपर्क:** 05, रमा कॉलोनी खण्डवा म० प्र० - 450001, ईमेल : tiwari5447@gmail.com, मोबाइल : 9340517010

पहनेगी छोटी सी मुनिया  
खन-खन हीरक जड़े कड़े।

### गीत - 7

लालच दे कर नए घरों का  
छीन लिए असली घर।।  
खरहे छिपे सहम कर बिल में  
चिंताकुल ही चीतल  
बुद्धिमान होकर भी हाथी  
भटक रहा ज्यों पागल।  
शायद अबकी सावन में  
छत होगा नीला अंबर।।

योजनाएँ हैं उनके हाथों  
अपने मन को सहना  
कीमत कहाँ आँसूओं की है  
बह लें जितना बहना।  
रही हमारी यही कमाई  
नित होता उनका डर।।

चाहे जितनी बारिश आए  
रहता फिर भी सूखा  
खाने को मिलता है टिक्कड़  
वह भी बिलकुल रुखा  
उनकी दालें घी गुड़ वाली  
ऊपर से बाटी तर।।

## उमा झुनझुनवाला

### 1. मैं अभी प्रतीक्षा में हूँ प्रिये

मेरे शहर से  
 तुम्हारे शहर के मध्य  
 सिर्फ एक जोड़ी आँख है  
 प्रतीक्षा की  
 प्रतीक्षा..  
 निराकार है  
 किसी भी भूगोल और  
 इतिहास से परे  
 प्रतीक्षा...  
 सिर्फ एक आस है  
 किसी दिन फ़लक पे  
 आओगे तुम नज़र  
 तुम्हारे शहर से  
 मेरे शहर का फासला  
 सिमट जाएगा फिर  
 हमारी दो जोड़ी आँखों में  
 रूहें तृप्त हो जाएँगी  
 जन्म-जन्मजमांतरों के लिए  
 इसलिए मैं अभी  
 प्रतीक्षा में हूँ प्रिये

### 2. प्रतीक्षारत

मेरी हथेलियों पर लकीरें खींच  
 ...कहा उसने  
 देखो इन हफ़ों को  
 कितनी गहराई है इनमें  
 अम्बर, धरती, सागर  
 सब समाहित हैं इसमें

...यही जीवन है  
 और मैंने यकीन कर लिया  
 उन हफ़ों से पंख लेकर  
 कोशिश की मैंने उड़ान भरने की  
 और औंधे मुंह गिर पड़ी  
 कि दर्द का बोझ कम न था  
 सोचा चलूँ उस राह  
 जो बनाएँ हैं इन हफ़ों ने  
 लेकिन क़दमों ने साथ न दिया  
 अंगन की तरह ढीठ बने रहे  
 टूटने लगी नज़रें  
 जब सहारा सागर में  
 ऊँची ऊँची घन घनलहरों में  
 नमक होकर रह गई आँखें  
 माफ़ करना ऐ मेरे दोस्त  
 जो हफ़ बनाये थे तुमने मेरे लिए  
 यकीनन वे बड़े खूबसूरत थे  
 मैं ही जी नहीं पायी उन्हें...  
 मेरा सत्य  
 तुम्हारे सत्य से  
 बिल्कुल अलग था  
 बेमेल था बदसूरत था अर्थहीन था  
 मेरी मुट्ठी में बंद  
 तुम्हारी लकीरें शायद  
 रच पाए एक सुनहरा जीवन  
 मेरे लिए किसी और जन्म में  
 तब तक प्रतीक्षारत हूँ मैं...!!

### 3. प्रतीक्षा

एक बार संध्या सुंदरी  
 किसी अज्ञात झील के किनारे  
 मौन का चादर ओढ़े  
 अपनी प्रेमी की प्रतीक्षा में  
 बीते क्षणों में लीन थी  
 वृक्ष राग मल्हार गा रहे थे  
 पंछी इश्कियावृतों में झूम रहे थे  
 और ढलते सूरज के साथ  
 रंग बदलते आसमान की चमक  
 झील की नर्म देह पर रंगोली सजा  
 रही थी  
 मधुर किरणों की आभा से  
 सुनहरी सुर्ख लाल चुनरी बुनती  
 प्रतीक्षा की मोतियों से गहने बनाती  
 स्पंदनों में पाजेब की छमछम उत्पन्न  
 करती  
 संध्या सुंदरी चित्रकारी में मग्न थी  
 दूर देश से आती हवाओं ने  
 मचल कर मुस्कुराते हुए  
 चाँद के आने की खबर दे दी थी  
 इसलिए सुंदरी इत्मीनान से थी  
 चित्र पूरा होने तक  
 मगर प्रतीक्षा सबके बस की बात कहाँ  
 ढलते सूरज के साथ  
 वृक्ष, पंछी, झील  
 और आसमान की चमक

सब अपना धैर्य खोते  
 करवटें बहलने लगे  
 प्रतीक्षा रेशों रेशों में  
 उलझती गई, बिखरती गई  
 समस्त ध्वनियाँ  
 एक कम्पन के साथ  
 अमावस में बदल गई  
 मगर साधिका की तूलिका में  
 गज़ब की जादूगरी थी  
 ढलती आग के सुनहरे रंगों को  
 उड़ेला कुछ इस तरह पटल पर  
 कि कबीर की लाली छा गई चहुँ ओर  
 अब उलझी सी प्रतीक्षा में  
 आसमान, वृक्ष, पंछी रंग और  
 राग मल्हार और इश्किया नृत्य संग  
 जन्म-जन्मान्तरों के लिए  
 साधिका संग कबीरमय हो रहे थे  
 कबीर होना कितना सुखद था एक  
 उलझी सी शाम के लिए

### 4. प्रतीक्षा

कोरों के काजल में...  
 आँखों की सिलवटों में...  
 घुमड़ते बादलों के गीतों में...  
 मुट्ठी से फूँके गए नाम में...  
 हृदय में गूँजती दुआओं में...  
 नीम के दरख्त पर बैठे

कौवे की आँखों में...  
 प्रतीक्षा विश्रामावस्था में है  
 कागा....  
 दो नैना मत खाइयो मोहे पिया मिलन  
 की आस...

### प्रतीक्षा...(2)

झील किनारे  
 दरख्त के नीचे  
 अंगड़ाइयाँ लेती साँझ  
 प्रतीक्षा कर रही है  
 नींद की...  
 सब्र ज़रूरी है  
 चाँद लोरी गायेगा  
 अभी चाँदनी बुन रही है  
 नए गीत...  
 ...नींद के लिए

### प्रतीक्षा के रंग

देखी हैं कभी तुमने  
 अनगिनत रेखाएँ  
 प्रतीक्षा की  
 एक बार  
 मेरी ओर देखो तो भला  
 तुम्हारे ब्रश के रंग  
 चौक न जाएँ  
 तो कहना...

**संपर्क :** लेक गार्डेन्स गवर्नमेंट हाउजिंग, 48/4, सुल्तान आलम रोड,  
 ब्लॉक X/7, तीसरा तल, कोलकाता -700 0033  
 मो० : 9331028531

डॉ० विजया सिंह

## औरतें जो तौलिया इस्तेमाल नहीं करतीं

क्या तौलियें का भी होता है जनाना मरदाना इस्तेमाल ?  
 अगर नहीं...  
 तो क्यों नहीं करतीं इस्तेमाल तौलिया ??  
 आयी होगी हँसी बहुतों को  
 कइयों ने देखा होगा कनखियों से चेहरा बिचकाए  
 मुझे भी लगा था समय विश्वास करने में  
 की थी मैंने गहरी खोजबीन और  
 इंतजार कि शायद ये उटपटांग-सा शीर्षक बदल ले खुद को।  
 घर के तमाम कपड़े धोती  
 परिवेश बनाती निभाती  
 औरतों के जीवन में नहीं है एक एदद तौलिया।  
 कर रखा हैं उन्होंने स्वयं को बहिष्कृत  
 तौलियों की जरूरी रंगीन दुनिया से  
 लेकिन क्यों  
 क्या हम-आप पहचानते हैं ऐसी औरतों को  
 जो मुँह अँधेरे उठती हैं, पीती हैं गरमा-गरम लेकिन  
 थोड़ी-सी चाय और लग जाती हैं  
 गुछाने अपना संसार  
 जो कोई बार कुछ बर्तनों को मांजने की बजाए  
 बस खंगालकर चला देती हैं अपना काम जैसे तैसे  
 कपड़े धोती तो हैं लेकिन निचोड़ने की बजाए  
 टांग देती हैं उन्हें खूटियों पर यों ही घंटों  
 खा लेती हैं थाली की बजाए कटोरियों  
 में खाना खड़े-खड़े यहाँ-वहाँ  
 हड़बड़ी इतनी कि पता ही नहीं चलता कि  
 बनाने और खाने के बाद भी खाना क्या था और बना कैसा था  
 उन्हें जैसे नहीं आता तौलिये का इस्तेमाल वैसे ही नहीं आता थाली को बरतना  
 जबकि बरतती हैं वे दुनिया जब तब।  
 पहनती हैं ऊँची साड़ियाँ और आकार विहीन ब्लाउज़  
 इस आकारहीनता में बचा लेती हैं आज़ादी  
 और रफ्तार की सुविधा  
 यानी उनका पूरा तंत्र दौड़ता है  
 और समय नहीं है उनके पास कि

## कविता

गुछा लें खुद को एक पल ठहर कर।

ऐसे ही यकबयक दिख जाते हैं उन्हें गालों पर पड़ते  
सुफ़ैद चकते, जो तब चाहे चले आते हैं घूम फिर कर  
बना देते हैं उन्हें बेहद बदसूरत।

ऐसे ही पिछली बार भी आ पड़े थे मरे  
और मलीं गयीं थी वही दो दवाइयाँ जो दी  
थी बूढ़े कमजोर डॉक्टर ने।

इन धब्बों को देख वो हर समय खुद को कोसती हैं  
कि पहले क्यों नहीं दिख गये उन्हें ये दाग  
हर बार देखने में देर कैसे हो जाती है  
तो क्या वे कभी ठीक से अपना चेहरा भी नहीं देखती

इतनी बेकद्री खुद की...क्यों  
इतने सारे क्यों और क्या उन्हें बेचैन कर देते हैं।  
जैसे खाने के कौर में फँसे किरकिराते पत्थर को हम बाहर  
फेंकने की बजाए निगल लेते हैं उसी तरह वे भी निगल जातीं  
हैं सारे सही सवालोंने और उनके गलत जवाबों को  
और फिर से वे उन्हीं दो पुरानी दवाइयों की खोज में गाफ़िल  
हो जाती हैं  
लाख खोजबीन के बाद मिली दवाइयों में एक दो हज़ार बीस  
में ही मर चुकी है  
फिर खरीदनी पड़ेगी और ये फिर न जाने कब आएगा।  
जरूरी चीजों की लिस्ट में शामिल हो जाती है ये दवा जो  
जब आएगी तब आएगी और तब ही लगेगी।

वे हर बार पहनती हैं स्वेटर उल्टा, ब्लाउज उल्टा।  
इतनी बार, बार-बार उल्टा कि आप अगर ध्यान दें तो खीझ  
उठें कि कभी तो उलट कर पहना गया उल्टा स्वेटर, उल्टा  
ब्लाउज भूल से सीधा भी हो जाता होगा..

फिर सीधा क्यों नहीं दिखता कभी तन पर  
क्या जब स्वेटर या ब्लाउज की तह सीधी होती है तो  
बस आदतन ये औरतें उन्हें उलटकर पहन लेती हैं  
सीधा और चलन का निभा नहीं कभी इनसे  
इसलिए अनजाने ही जानी बूझी उल्टी राह पकड़ ली बस।  
ये वही हैं जो सीखा ही नहीं पायी बच्चों को खाने का सऊर।  
उन्हें बखूबी मालूम है भोजन की सियासत, अपनी रामकहानी

में सीता की त्रासदी और राम का जयकार।

इसलिए बेटों को पहाड़ भर ऊचां देती हैं भात, भर-भर  
कटोरियाँ दाल, सब्जी, अंडे

यह जानते हुए कि आदमजात इतनी खा तो नहीं पाएंगे  
लेकिन उन्होंने पलटकर न माँगा तो भूखे रह जायेंगे,  
बेटों को माँगने की आदत नहीं और  
मर्दों का भूखा रहना अच्छी बात नहीं।

बची जूठन, जो बच ही जाती है हमेशा, तो बेटियाँ बहुएँ  
हैं ना...

जिन्हें देती हैं खाना बेटों की छोड़ी जूठी थाली में छितराकर  
बेहद भदे तरीके से

पंछोछर सब्जी सबसे पहले देती हैं और उसके बाद पानी  
मारी हुई मरी हुई दाल

बाकि सब्जियाँ बेटे के बाद खुद को परोसती नहीं बल्कि  
सबके सामने, सबको ललचाते हुए छिपाकर खाती हैं  
इससे तृप्त होती हैं उनकी आत्मा।

उन्होंने देखा है अपनी पुरनिया गिहथिनों को ऐसे ही घर  
बनाते, सत्ता संजोते

उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता जब उनके दिए पनियाले  
दूध से चाय बनाते हुए बहु-बेटियों के लिए चाय ही नहीं  
बचती

उनके अंदाजे का लोहा सारे कुल-खानदान के लोग ऐसे  
ही थोड़ी ना मानते हैं

उन्हें मालूम है कि कुल की डोर लड़के खींचते हैं और  
लड़कियाँ तो गाँठ हैं जितनी कम पड़े उतना ही अच्छा

न पड़े तो धन्नभाग

इसीलिए उनके कुल में बेटे लड़कियाँ बियाते नहीं बियाह  
करके लाते हैं

उन्हें पसंद नहीं ये नामाकूल बहुएँ-अलाय बलाय  
वैसे ही जैसे नहीं भाते उन्हें चेहरे के वो सुफ़ैद चकते जो  
आ ही जाते हैं जब तब

जैसे वो भूल जाती हैं बार-बार देखना अपना ही चेहरा  
और जैसे उन्हें कभी नहीं आया थाली को बरतना।

**संपर्क :** रानी विरला गर्ल्स कॉलेज, मो० : 9831082077



## डॉ० शिप्रा मिश्रा

### 1. रोटी

छाती के  
अंतिम कश से  
लहू निचोड़ खींचता  
वह मरियल रिकशेवाला  
  
क्विंटल भर बोरियाँ  
पीठ पर लादे  
पसीने से तरबतर हाँफता  
वह बूढ़ा पोलदार  
  
सिर और कांधे पर  
औकात से ज्यादा  
बैग, सूटकेस लादे  
वह निरिह कुली  
  
बच्ची को डंडे पर बाँध  
जोखिम ले नचाता  
करतब दिखाता  
वह भूखा-प्यासा नट  
  
मेन होल के  
गलीज, बदबू से  
रूबरू होता  
वह बेबस आदमी  
हाय री रोटी!  
ये कैसे रंग हैं तेरे  
क्या-क्या चित्र  
दिखला जाती है तू  
बस एक रोटी की खातिर!

### 2. हे पौरुषेय!

तुम देह के लिए  
युद्ध करते रहे  
उलझते रहे  
मेरी देहयष्टि में

और मैं उलझाती रही  
कभी अंतर्मन को भी तो  
परसा होता  
देह से कहीं सुंदर  
एक हृदय होता है  
सदियों बाद  
जब मैं तुमसे मिली  
आँखें बता रही थीं  
अब वह तड़प  
वह आकर्षण  
वह कशिश अब  
बाकी नहीं रही  
मालूम था  
परिवर्तन शाश्वत है  
लेकिन इस परिवर्तन में  
नहीं थी शाश्वतता  
था कुछ और  
जिसकी गिरह खोलने में  
मुझे लग जाएँगे  
फिर से सदियों  
हथेलियों पर  
सरसों जमाने जैसा कुछ

### 3. तुरपाई

उन आँखों की ओर  
सिर उठाकर देखने का  
कभी साहस नहीं जुटा पाई  
उन आँखों से मात्र  
अनुमान का ही  
सफर तय किया मैंने  
दुर्वासा के रौद्र से  
विश्वामित्र के क्रोध तक  
परशुराम के कर्तव्य से  
भीष्म के अनुसाशन तक

और फिर...  
 एक अदृश्य भय से  
 आतंकित रही आज तक  
 जैसे मेमना शेर से  
 साँप बाज से  
 चूहा बिल्ली से  
 भयाक्रांत होता है  
 उस कड़क दृष्टि ने  
 मजबूर किया मुझे  
 अनवरत कुछ सीखने पर  
 पिसाई सिलबट्टे की  
 कुटाई अचार के मसालों की  
 तुरपाई जिंदगी की  
 और भी बहुत कुछ  
 जो बंद हैं सदैव के लिए  
 मेरी स्मृतियों के संदूकचे में  
 लौह श्रृंखलाओं से आबद्ध  
 आजीवन कारावास की तरह  
 पर बरसों बाद  
 आज दुःसाहस किया मैंने  
 अपना सिर उठाने की  
 उन आँखों से आँखें मिलाने की  
 उन आँखों में झाँकने की  
 उन आँखों की ताब सहने की  
 पर हाय! आज  
 उन निस्तेज निष्प्राण आँखों में  
 करुणा दुर्बलता से  
 भाव विह्वलता से  
 अपनी असीम शांति की  
 क्षीणकाय आत्मा से  
 प्रभुत्व संपन्न परमात्मा तक  
 अनंत यात्रा की  
 उन मौन प्रार्थना में  
 मेरे भी हाथ जुट गए

उन आँखों की ओर देखने की  
 धृष्टता के लिए स्वयं को  
 स्वयं क्षमा किया मैंने

#### 4. मेरे भीतर का पिता

मेरे भीतर  
 रहता है  
 एक पिता...  
 जब मैं देखती हूँ  
 उसकी आँखों से  
 जब मैं सुनती हूँ  
 उसी के कानों से  
 जब मैं बोलती हूँ  
 उसी की भाषा  
 जब मैं महसूसती हूँ  
 उसी की संवेदनाएँ  
 मेरे भीतर  
 हमेशा होता है  
 एक पिता  
 जो संकेत करता है  
 जब मैं विचलित होती हूँ  
 वह संकेत करता है  
 जब मेरे सभी द्वार  
 एक साथ  
 हो जाते बंद  
 वह संदेश देता है  
 मेरे अधखुले स्वप्नों में  
 नाउम्मीदी, नासमझी के  
 सबसे बुरे दौर में  
 मेरे भीतर  
 समाया है  
 एक पिता...  
 जब मैं डांट लगाती हूँ  
 अपने दिशाहीन बच्चों को  
 कभी सबक सिखाती हूँ

उन दिग्भ्रमित छात्रों से  
 मैं पुचकारी हूँ स्नेह से  
 उन्हें केलेजे से लगाकर  
 और उन पर मरहम भी  
 लगाती हूँ मुस्कुरा कर  
 मेरे भीतर  
 रमता है दिन-रात  
 एक पिता...  
 जो मुझे कड़वी दवाइयाँ  
 पिलाता है बड़े मनुहार से  
 और काट कर देता है  
 अपने ही हाथों कुछ  
 फल, अंडे और थोड़ा दूध भी  
 मुझे लाकर देता है  
 शहर का सबसे  
 बेहतरीन फ्रॉक और खिलौने  
 मेरी छोटी-सी चोट पर  
 सो नहीं पाता रात-भर  
 मेरे भीतर  
 सचमुच रहता है  
 एक पिता  
 वह सदेह मुझे दिखता नहीं  
 पर दिखा देता है सब कुछ  
 मेरी बात भी नहीं सुनता  
 उल्टे मुझे ही सुना देता है  
 उसकी साखियों में  
 रमते हैं कबीर और रैदास  
 जो निरंतर, निराकार हैं  
 और निर्भय विचरते हैं  
 मेरे भीतर  
 अनुभूत होता है  
 एक पिता  
 सत्य है आत्मा होती है  
 अजर, अमर, अविनाशी  
 शायद कभी मैं विदेह हो जाऊँ

## कविता

और सदेह हो जाए वह  
मैं हो जाऊँ आत्मा  
और वह मेरा परमात्मा  
और हम समा जाएं  
एक ही परम ब्रह्म में  
और तब...  
उसके भीतर भी  
समाहित हो जाए  
एक आत्मजा  
जो देह के बंध से  
विमुक्त हो, सर्वथा उन्मुक्त

इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड में  
परिव्याप्त, परिपूर्ण  
सृष्टि की आदि कथा सी  
न माया, न मोहपाश  
एक ऐसा प्रेमाख्यान  
जो आत्मा-आत्मजा का हो  
मेरे भीतर  
सदैव, सर्वदा  
अभिभूत रहता है  
एक पिता...  
जहाँ मैं रह नहीं जाती

एक स्त्री, एक मातृशक्ति  
हो जाती हूँ निःसंदेह  
एक पौरुष संपन्न  
विराट व्यक्तित्व की  
स्वामिनी, संचालिका  
हो जाता हूँ परिणत  
प्रकृति से पुरुष में  
मेरे भीतर  
रहता है एक  
अविनाशी परम ब्रह्म...

मो० : 9472509056

## शंकरानंद

### 1. भूख की भाषा

पढ़ने की जिन्हें जरूरत है  
वे इसके बारे में जरा भी नहीं सोचते  
उनके पास दूसरे बहुत से काम हैं  
दूसरी बहुत चिंता है  
इसलिए ध्यान नहीं देते इस पर  
जिन्हें इस भाषा को समझना चाहिए  
उनके लिए यह कोई भाषा ही नहीं है  
जैसे नहीं है मृत्यु बिल्कुल मृत्यु  
जैसे नहीं है गरीबी बिल्कुल गरीबी  
सब शब्दों का खेल है  
एक छल है  
सिर्फ एक धब्बा  
धब्बा जो चांद के ठीक ललाट पर  
चमकता है  
जो भूख की भाषा के रचनाकार हैं  
उनके लिए  
पूरी पृथ्वी चिंता का विषय है

भूख नहीं।

### 2. किनारे पर

नदी में पानी है  
दूर तक हिलकोरे लेता हुआ  
नदी के किनारे पर है बालू  
धूप में गर्म होने पर  
धीप जाता है तवे की तरह  
उसका एक-एक कण  
उसकी चमक में चौंधियाती हैं आँखें  
अबरख के टुकड़े चुभते हैं  
ये सब बताते हैं कि  
आग का होना  
सिर्फ जलने से पता नहीं चलता  
जरूरी नहीं कि लकड़ी हो  
तीली हो जलती हुई  
राख हो सोयी  
या हो चिंगारी  
तभी आग हो सकती है

## कविता

आग के होने की संभावना हर जगह है  
पत्ते की छांह में  
पेड़ की फुनगी पर  
दूब में सघन  
शीत में उंधती हुई  
पानी के पास भी उतनी है  
जितनी आँखों के कोर पर।

### 3. कुछ बनाना

इस पृथ्वी पर  
सबसे कठिन है कुछ बनाना  
मिट्टी का घर हो  
या कागज की नाव  
उसे बनाना  
असल में घर और नाव बनाने  
जितना ही कठिन काम है

बोलने वाले  
कुछ भी कह देते हैं  
लेकिन बोलने से  
सिर्फ बात बनती है  
एक चिड़िया का  
घोंसला भी नहीं बनता

उसके लिए भी  
तिनका जमा करना पड़ता है  
जो बनाते हैं  
वे अपना सब कुछ  
दांव पर लगा देते हैं  
उनकी नींद उड़ जाती है  
जब तक वह पूरा नहीं हो जाता  
लेकिन यह तकलीफ  
और कोई नहीं समझ सकता

वह तो हरगिज नहीं  
जो घर बनाने के लिए  
माचिस की डिबिया की जगह  
आग लगाने के लिए  
तीली जमा करने की  
फिराक में रहता है।

### 4. हुनर

चिलचिलाती धूप में  
पानी की याद आती है  
पेड़ की याद आती है  
ओस और नमी की याद आती है  
जो कुछ सुलगने से बचा सकता है

उसकी याद आती है  
याद आती है जीभ  
जीभ पर बर्फ  
उसका गलना  
घुलना  
और कंठ तक ठंडा होना  
याद आता है  
ये तय है कि  
अभी धूप है और  
किसी भी चीज के होने की  
संभावना नहीं  
कुछ दूरी बाकी है  
होने और नहीं होने के बीच  
लेकिन याद  
सफर को काटने का एक बहाना है  
जो बहाने नहीं बनाते  
उनके लिए  
जीना मुश्किल हो जाता है  
बर्फ भी है और धूप भी  
जो चाहिए बस उस तक पहुँचने का  
हुनर चाहिए।

क्रांति भवन, कृष्णा नगर, खगड़िया - 851204, मो० : 8986933049

## जीतेन्द्र जितांशु

### 1. वक्त ने सौंपी

वक्त ने सौंपी तुम्हारे नाम की तुमको घड़ी है  
जो बताती बस तुम्हारी सुबह दोपहर शाम।  
कब सजग बलहीन पौरुष जिंदगी का नाम।  
इस घड़ी समय का नियमन नहीं है।  
कार्य जो अनमोल वह भी कम नहीं है।  
वक्त ने सौंपी...  
हो गई बदले सुबह की क्यों किसी की शाम।

भूलते कर्तव्य जगमग जिंदगी के नाम।

वक्त ने सौंपी...

आदतें जिसने सहेजी बिना सोचे वक्त।

यह घड़ी उसके समय को ग़लत करती व्यक्त।

वक्त ने सौंपी...

हम सदा इसके क्रमों को साथ जाने दें।

हर सुबह के अंत तक बस शाम आने दे।

वक्त ने सौंपी...

तुम इशारेबाजियों पर चल रहे हो।  
क्योंकि तुम अपने समय को छल रहे हो।  
वक्त ने सौपी...

कौन किसको छल रहा है भ्रम कहीं है।  
वक्त बेवक्त का कुछ क्रम वही है  
वक्त ने सौपी...

## 2. अपनी ही दुनिया में

कितने गीत, कितने गीत, पास-पास साँसें  
जीवन की दौड़ कहीं, सूखी उसाँसें  
इतनों से गुजर कहीं  
मन की यह पुरवाई  
छुए बिना तन तेरा, लौट कहीं आएगी  
फसकर बवंडर में शब्द कहीं गुँगे बन  
पास कहीं रोएंगे, व्याकुल कराहेगे  
तन की कुछ भाषा है।  
मन की कुछ भाषा है।  
कही और अनकही और भी पिपासा है।  
जब भी तुम आती हो  
चीर भीतर इंतज़ार  
घंटियाँ जो बजती हैं, बजती ही जाती हैं।  
एक बार फिर से हम लौट कहीं जाएँगे  
अपने ही जंगल में  
अपनी ही दुनिया में।।

## 3. सूरज की आशा में

शाम से सुबह के सूरज की आशा में  
शीत ताप वर्षा जब गिनती हैं घड़ियाँ  
जो कि मिलनी ही हैं,  
फिर भी, कहीं भी  
प्रसाधनयुक्त पण्डित जी  
साधनहीन ज्योतिष  
या किसी उसी तर्ज पर  
ठीक कुछ ऐसे ही जागते हैं  
तोड़ते हैं मान्यताएँ, बंदिशें  
छाँटते हैं गला, अपने स्वार्थ की आवाज़ का

जाने क्यों?  
इतिहास गवाह बनाओ तो  
ये सब क्षणिक है  
क्षण भर की क्रांति है।  
अपनी व्यवस्था, दामन पर दाग सी  
अंदर हमें जाना है, कहीं  
हम गए हैं बार कई  
हज़ारों अश्व जोते जा रहे हैं  
जोतना ही नियति है जिनकी  
कल भी थी आज भी है।  
लगानों की लगाने थम चुकी हैं।  
और साँसे थम चुकी हैं।  
कह रही हैं...

## 4. कौन तुम ?

कौन तुम कैसे अनिश्चित के भँवर में  
कौन सम्पाती  
जवानी की उसी दहलीज़ पर  
दिखा दें ठेंगा, किसी सूरज सरीखे को  
उम्र के उस पार क्या है?  
सोचते इस पार हम क्यों?  
कौन तुम वंशज जटायु के  
कौन तुम सम्पाती जवानी की उसी दहलीज़ पर  
हाशिए पर जो टंके है  
क्या वही इतिहास है?  
डूब कर कतरा गए जो  
बस विचारों के भँवर में  
हमने चारों ओर खींची है फसीलें  
खौफ़ क्यों? तुम तो पलातीं के पुजारी हो  
दिखा क्यों सब कुछ दिया?  
बोलो बताओ?  
आग जो तुमने लगाई  
हर डगर, आँगन, शहर  
कौन तुम कैसे अनिश्चित के भँवर में  
कौन सम्पाती जवानी की उसी दहलीज़ पर।

संपर्क : 38ई, प्रिंस बख्तियार शाह रोड, कोलकाता-700 033, मो० : 9231845289

## कविता का संस्कार

- राजकुमार कुम्भज

कविता का संस्कार मूलतः विचार और संवेदनाओं के परिमार्जन का संस्कार है। स्वाभाविक है कि कविता के इस संस्कार में संभवतः समस्त संसार की समस्त गतिविधियाँ शामिल हैं। किसी भी एकाधिक अन्य एकाधिकारवाद की ऐसी कोई भी अनिवार्यता यहाँ शेष नहीं रह जाती है कि उसे किसी खास दृष्टिकोण से पहचाना ही जाए। अन्यथा नहीं है कि आज की कविता अपने समकाल की भिन्न-भिन्न गतिविधियों सहित क्रूर-अक्रूर कार्रवाइयों से भी बखूबी परिचय रखती है। कविता का विषय किसी भी काल में उत्पाद और उपभोक्ता का न कभी था, न कभी हो सकता है, किंतु खेद सहित विस्मय का विषय है कि संसार भर की तमाम सत्ता-व्यवस्थाएँ कविता के विरुद्ध ही जाती रही हैं, बशर्ते कि जब तक उसने भांडगीरी स्वीकार नहीं कर ली हो। रूझान बताते रहे हैं कि कई-कई कारणों से कविता को उदारवादी भ्रष्ट बाजार ने भ्रष्ट करने का न सिर्फ बेशर्म उपक्रम ही किया है, बल्कि उसका उदारवादी उत्सव भी मनाया है।

अब सवाल ये है कि इस उदारवादी भ्रष्ट बाजार की भ्रष्ट उदारवादी उत्सवप्रियता में साधारण मनुष्य और उसकी चिंताएँ कहाँ हैं? मनुष्य के मूल-मनोभावों की स्थितियाँ-परिस्थितियाँ क्या हैं? लंपट मीडिया ने कविता के आदर्शों को कैसे अपना पिछलग्गू बना लिया है? क्या सत्ता की चालाकी ने वह तराजू ही नहीं हड़प ली है, जिसमें इंसान और ईमान तुलते हैं? अब क्यों आग की नीलामी होती है, अग्निशमन कार्यकर्ता भाड़े पर आते हैं, क्यों पानी बोतल में बंद बिकता है? और क्यों नदियों की नीलामी होती है? और लोग मुआवजा वसूलते हैं, नदियों में हगते-मूतते हैं, और नदियों की पवित्रता से अटूट पैसा बनाते हैं? सवाल ये भी है कि धर्म के नाम पर जारी रहने वाली पाप-पुण्य अथवा स्वर्ग-नरक की अवधारणाएँ कब तक नागरिक जीवन को ठगती रहेंगी और देश, समाज, समकाल के दैनिक बुनियादी मुद्दों पर धूल जमती रहेगी? श्रमसाध्य जीवन को धोखा देना आखिर कब बंद होगा? मूल वेतन से कहीं अधिक सम्मान अगर ऊपरी आमदनी को मिल रहा है तो क्यों? क्यों क्रूरता विरुद्ध अभिव्यक्ति की आजादी खतरे में है?

दिलचस्प है कि सिर्फ अभिव्यक्ति की आजादी ही खतरे में नहीं है, इधर वो हर उजास खतरे में है, जो सामान्य जन-जीवन की पक्षधरता में जरा भी जगमगाने की कोशिश करता है। हर किसी लौ का लहराना प्रश्नांकित हुआ जाता है। मुँह खोलने की जुर्रत असहनीय है, जबकि थोड़े से उजास के लिए भी तीली को रगड़ना ही पड़ता है। अब तो माचिस होना भी मना है। उस पर भी दंभ यही है कि खुली छूट है, खुला लोकतंत्र है? कौन नहीं जानता है कि आज हर किसी शख्स के आसपास किस-किस तरह के प्रतिबंध उपस्थित हैं, किस-किस तरह की पहरेदारी है?

अघोषित प्रतिबंधों के इस प्रतिभाशाली समय में सत्ता की ओर से कुछ इस तरह के कारनामों को भी अंजाम दिया जा रहा है कि किसी भी स्वतंत्र और निर्भीक दृष्टिकोण की व्याप्ति ही संभव न हो सके। अभी पिछली सदी में एक कवि ने उद्घोष किया था कि “अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे, तोड़ने ही होंगे, मठ और गढ़ सभी।” फिर क्या हुआ? बदलाव लाने का शोर मचाने वाले अपने-अपने विचार ओढ़कर सो गए। आप खाएँ, आप पचाएँ। ये तो सभ्यताओं का संघर्ष है। मोक्ष पाना है, तो खुद मरें। मुरदे गवाही नहीं देते हैं। इंकलाब जिंदाबाद!

कल ही नहीं, आज भी “कठिन है डगर पनघट की। कैसे मैं भर लाऊँ जमना से मटकी?” राजनीति के सवाल गंगा आरती में खोजे जा रहे हैं। गरीबों को मुफ्त अनाज देकर विकास गाथाएँ लिखी जा रही हैं। झूठ बोलने के लिए लाल किले को चुना जा रहा है। विश्वगुरु बन जाने का बाल सुलभ सपना दिखाया जा रहा है। सामाजिक समरसता के नाम पर भाईचारे को निष्कासित कर दिए जाने का हर कुत्सित हथकंडा अपनाया जा रहा है। हत्या को हादसा और हादसे को मात्र मानवीय त्रुटि बताकर टरकाया जा रहा है। सब जिम्मेदार हैं और सब जिम्मेदारी से भाग रहे हैं। लौह आवरणधारी भद्रजन नेपथ्य में रासलीला रचाते हुए दुर्गंध फैला रहे हैं। हर



## सरगम के सुर साथे

कोई नदी सुखाकर कॉलोनी काटने की जुगत में हैं। ऐसे लोगों के लिए तो देश भी एक कॉलोनी ही है।

साहित्य और राजनीति आदि की गूढ़ सैद्धांतिक-बहसें अपनी गहराई और गंभीरता के अनेकानेक कारणों से जन-सामान्य को चाहते न चाहते भी उलझाने का ही काम अधिक करती हैं, जिससे जन-संघर्ष की मुश्किलें बढ़ती हैं। क्या ये बात अलग से रेखांकित नहीं की जानी चाहिए? साधारण जन के लिए साधारण बातों को अगर साधारण ढंग से कहा जाए, तो उसे जल्द ही समझ लिया जाता है। साधारण-जन का

### वसंत में वसंत से पहले

पाँव तले जमीन है सिर ऊपर आसमान  
अतिरिक्त इसके यहाँ कुछ नहीं, कुछ नहीं जीवन में  
क्या सिर्फ एक जीवन, क्या सिर्फ एक मृत्यु?  
नहीं, नहीं, एक जीवन में जीवन कई-कई  
एक जीवन में प्रेम कई-कई  
एक प्रेम में वसंत कई-कई  
एक वसंत में वसंत कई-कई  
कई-कई सुख, कई-कई दुख और-और  
ताप, प्रलाप, संताप, दूरियाँ कई-कई  
स्मृतियाँ, विस्मृतियाँ भी कई-कई  
जो लहराती रहती हैं दूरस्थ यूँ ही, यूँ ही  
एक पाँव इस तरफ, एक पाँव उस तरफ  
एक राह छूटती है, आती हैं राहें नई-नई, कई-कई  
हर किसी उद्बोधन की शब्दावली नई-नई  
नई-नई शब्दावली के अर्थ गांभीर्य कई-कई  
मैं निपट अकेला वृक्ष-सा घने सूने में  
सूने में सूने कई-कई, जंगल कई-कई  
जंगल में तानपुरा, तानपुरे की तान कई-कई  
तान के तनाव में जीवन और प्रेम  
जीवन और प्रेम की तान में तनाव कई-कई  
एक नदी, एक नाव जैसे और पतवारें कई-कई  
फिर यहीं-कहीं कई-कई ध्वनियाँ भी  
जो सुकोमल भी, सुमधुर भी, वीभत्स भी  
कुत्सित भद्दे चेहरों पर साज-सज्जाएँ कई-कई  
वसंत में, वसंत से पहले जैसे आपात्काल की हलचल  
हलचल में हलचल की जागती विचारधाराएँ कई-कई

संस्कार भी कोई कम संवेदनशील नहीं होता है। कविता का संस्कार सामाजिकता को माँजने का संस्कार रचता है। इस समय मेरे आसपास जो कुछ, जितना कुछ और जैसा कुछ भी घटित हो रहा है, वह सब मुझे और मेरी कविता को कुछ और अधिक सूक्ष्म, कुछ और अधिक सांकेतिक, कुछ और अधिक प्रतिकात्मक तथा कुछ और अधिक प्रतिरोधात्मक बनाता है। कविता में, कविता का ये आचरण विचारशीलता की संवेदनशीलता से आता है। यही मेरा और मेरी कविता का समकालीन संस्कार है। मेरी कोशिश जारी है...

पाँव तले जमीन है सिर ऊपर आसमान।

### वसंत में वसंत की आकाँक्षा लिए

अंधेरे में खो जाती हैं परछाइयाँ  
सदियाँ हुई कि डरती हैं वे भी अंधेरों से  
सड़के नापते हुए भी काँपती हैं भाषाएँ  
बेहद लंबा, बेहद घना है साम्राज्य भय का  
और किसी को भी किसी का भी भरोसा नहीं है  
दूर कहीं, दूर कहीं थोड़ी-बहुत भी चिंगारियाँ होने का  
थोड़ा बहुत, थोड़ा-बहुत अंदेशा तो है  
किंतु वहाँ कीचड़ बहुत है, दलदल बहुत है  
वसंत में, वसंत की आकाँक्षा लिए खबरदार हूँ मैं  
खिलौना नहीं हूँ कि खो जाऊँगा  
सिर ऊपर उठाता हूँ सपने।

### वंचितों का ऐसा हो वसंत

क्रूरता विरुद्ध कायरता न हो  
लोहा हो पिघलता, औजारों में ढलता हो  
आग हो आवाज में, कंठ में अटकती न हो  
फूलों की खुशबू जैसी दया हो सभी के लिए, सभी में  
न हो, न हो खोटे सिक्के जैसी घृणा कहीं भी  
ईख की मिठास हो निबोलियों में, हर कहीं, हर कहीं  
बोली-बानी में फटी कमीज के भी किस्से हों  
सरकारी-तरकारी के हिस्से हों बराबर-बराबर हर कहीं  
बर्बरता जाए चूल्हे में तमाम राख होने  
सोने के लिए सोने के महल न हों कहीं भी  
चार जन रहते हैं जैसे भी रहते हैं मिलजुल  
रहे कुछ-कुछ वैसे ही ये देश, ये दुनिया

## सरगम के सुर साथे

वसंत जब जो आता है, गाता है मधुरताएँ भीनी-भीनी  
कब कहा उसने कि बादशाह है वह  
और जंगल भर पर है एकाधिकार उसका ही ?  
नहीं वह कमतर, नहीं वह वाचाल जरा भी  
रोटियों में नमक के स्वाद जैसा चुप वह  
सुख-संचितों, सुख-वंचितों में एक जैसा  
संकुचन न हो, विस्तार हो वस्तुओं का, विचारों का  
वंचितों का ऐसा हो वसंत।

### मुस्कुराते हुए वसंत में मुस्कुराते हुए

रिश्तों की दरारें रिश्ते जानें  
दीवारों की दरारें जानें दीवारें ही, हर्ज नहीं  
किंतु दीवारें मौसम की जब होती ही नहीं हैं  
तब फिर, तब फिर एक ही जंगल में  
हरे भी, पीले भी, नीले भी रहते हैं  
खिलते हैं कैसे साथ-साथ  
झूमते हुए सहते हैं ताप और आद्रताएँ सभी  
मुस्कुराते हुए वसंत में मुस्कुराते हुए।

### स्त्रियों से ही है वसंत

स्त्रियों से ही है वसंत  
और स्त्रियों से ही है जीवन-सुख अनंत  
न हों स्त्रियाँ तो फिर कैसा ब्रह्म, कैसा ब्रह्मांड... ?  
नदियाँ स्त्रियों से, फूलों में खुशबू स्त्रियों से  
आकाश स्त्रियों से, आकाश में उड़ना स्त्रियों से  
शस्त्र और शास्त्र स्त्रियों से और हार-जीत भी  
पाँव-पाँव चलता है, दौड़ता है, हाँफता है संसार  
तार-तार भी, बेतार भी, हो जाता है स्मृतियों में  
पहाड़ सदियों के ढोता है अपने कांधों पर  
बिजली के तारों से लपेटता है दुख अपने  
दुख मगर स्त्रियों के भी तो कुछ कम नहीं  
टुकड़ा-टुकड़ा सुलगती रहती है गीली लकड़ियाँ  
जीवन में जीवनभर के लिए भर जाता है धुआँ  
अक्षर-अक्षर क्षरण, घिसता है पत्थर भी  
परिभाषाएँ बदलती नहीं हैं ताप की, संताप की  
जितना-जितना खुलती हैं अपनी आकाँक्षाओं में  
उतना-उतना बंद होती जाती हैं स्त्रियाँ

अपनी पवित्रताओं से करती हैं उद्धार सभी का  
उनकी सोच सिर्फ उनकी नहीं, न प्रेम ही  
एकाकी कुछ नहीं उनके एकांत में कुछ भी नहीं  
ढोल-ढमाके छीनते ही रहते हैं उनके सपने  
सपने वे भी छिन ही जाते हैं स्त्रियों के  
स्त्रियाँ जो देखती हैं सपने दूसरों के लिए  
दूसरों की दुनिया में जीवन नहीं, जीवन का अनंत है  
स्त्रियों से ही वसंत है।

### है मेरा वसंत भी यही

है मेरा वसंत भी यही  
माँगने से पेशतर बेहतर है मर जाना  
माँगने से कभी भी मुकम्मल नहीं होती है जिंदगी  
हक है जो उसे हारना क्यों ?  
बेशक है जो उसे माँगना क्यों ?  
माँगना भीख है, लाचारी है, बना रही है भिखारी  
नहीं बनूँगा भिखारी, मैं बनूँगा नहीं  
माँगूँगा जो भीख तो लडूँगा कैसे ?  
भीख जो माँगते हैं,  
सच कभी भी, कहीं भी कहते नहीं हैं  
कहीं भी अन्याय के विरुद्ध  
युद्ध कभी भी, कहीं भी लड़ते नहीं हैं  
माँगने से पेशतर बेहतर है मर जाना  
माँगना ही हुआ तो माँगूँगा आग और ताप और साहस  
ताकि लडूँ और मरूँ जब तक रहूँ जिंदा यहाँ  
शक नहीं, मेरा हक है मेरी ये जिंदगी  
है मेरा वसंत भी यही...

### वसंत हूँ मैं - 1

वसंत हूँ मैं, अलग है लहजा मेरा  
आता हूँ, गाता हूँ, मस्ती की अपनी ही धुन में  
मुझे नहीं परवाह किसी की भी नहीं जरा भी  
किंतु नहीं हूँ मैं जरा भी लापरवाह  
परवाह मुझे हर किसी राह की, हद-बेहद  
उसकी भी कि बेपरवाह जो, लापरवाह जो  
और हाँकता रहता है सिर्फ अपनी-अपनी ही शौर्य गाथाएँ  
जागो और जगाओ इधर से उधर विप्लव फिर एक बार

## सरगम के सुर साथे

और अपनों को, अपनों के सपनों को भी यारों  
ये भूलते हुए ठीक-ठीक कि गैर नहीं, कोई यहाँ  
सभी में हो एक जैसा, एक जैसा ही हाजिर-नाजिर  
उल्लास और उजास फिर-फिर।

### वसंत हूँ मैं - 2

वसंत हूँ मैं, अलग है मिजाज मेरा  
जागता हूँ, जगाता हूँ नींद से अपनी ही लय में  
मुझे नहीं भाषा की नक्काशीदार तमीज भी वैकल्पिक  
किंतु नहीं हूँ मैं किंचित भी बदतमीज  
खुशबू है मुझमें हर किसी फूल की अछूती  
उसकी भी कि असहमत जो, कमतर जो  
और भौंकता-झौंकता रहता है हर कहीं, हर कहीं  
एकाधिकारवाद  
अगर वह जागता नहीं है तो करूँ क्या मैं?  
बेसबब-बे वक्त मरना आता नहीं, सीखा नहीं  
बेसुरा भी मैं कभी कहीं कदापि गाता नहीं

बुद्ध में हूँ, तो युद्ध में भी हूँ, मैं ही निरंतर-निरंतर  
एक ऊर्जा, एक ताप जैसा सब में।

### वसंत हूँ मैं - 3

वसंत हूँ मैं अलग है हिसाब मेरा,  
थका भी नहीं हूँ, चुका भी नहीं हूँ मैं अभी,  
कभी थकूँगा भी नहीं, शायद कि पृथ्वी-पुत्र हूँ,  
चुक जाएँगे जो, थक जाएँगे वो, यहीं-कहीं  
चूकने से पहले, चुकता करूँगा छल-बल सब  
अपने ही जैसे हैं जो उनसे भी लड़ूँगा भरपूर  
सोचता हूँ तो सोचता हूँ ये भी कि कुछ इधर-उधर नहीं  
कारण नहीं डरने का जरा भी, तो डरूँगा ही क्यों?  
अखबार में छपूँगा नहीं तो क्या जन्म पाऊँगा नहीं?  
मेरा आना जन्मसिद्ध अधिकार है मेरा, याद रखना  
घर अपना ही बुहारने में निमंत्रण कैसा और क्यों?  
पीले चावल भी नहीं चाहिए मुझे।

## परिचय :

**जन्म :** 12 फरवरी 1947

स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी एवं किसान-परिवार/छात्र-जीवन में सक्रिय राजनीतिक भूमिका के कारण पुलिस-प्रशासन द्वारा लगातार त्रस्त/बिहार 'प्रेस-विधेयक' 1982 के विरोध में सशक्त और सर्वथा मौलिक-प्रदर्शन/आपातकाल 1975 में भी पुलिस बराबर परेशान करती रही/अपमानित करने की हद तक 'सर्च' ली गई/यहाँ तक कि निजी जिंदगी में भी पुलिस-दखलंदाजी भुगती/'मानहानि-विधेयक' 1988 के खिलाफ खुद को जंजीरों में बाँधकर एकदम अनूठा सर्वप्रथम सड़क-प्रदर्शन/डेढ़-दो सौ शीर्ष स्थानीय पत्रकारों के साथ जेल/देशभर में प्रथमतः अपनी पोस्टर कविताओं की प्रदर्शनी कनाट प्लेस, नई दिल्ली, 1972 में लगाकर बहुचर्चित/गिरफ्तार भी हुए/दो-तीन मर्तवा जेल-यात्रा/तिहाड़ जेल में पंद्रह दिन सजा काटने के बाद नए अनुभवों से भरपूर/फिर भी संवेदनशील/विनोदप्रिय और जिंदादिल/स्वतंत्र-पत्रकार।

- सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'चौथा सप्तक' के कवि।
- अभी तक तीन दर्दनों से अधिक स्वतंत्र कविता-पुस्तकें प्रकाशित।
- देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण, प्रतिष्ठित, श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का निरंतर प्रकाशन।

**संपर्क :** 331, जवाहरमार्ग, इंदौर - 452002, फोन : 0731-2543380  
ई-मेल : [rajcumarkumbhaj47@gmail.com](mailto:rajcumarkumbhaj47@gmail.com)

## अभंग गाथा में सामाजिक मूल्य : संत तुकाराम के विशेष परिप्रेक्ष्य में

- डॉ० घुँघरू परमार

### शोध सार:

प्रस्तुत शोध आलेख संत तुकाराम के व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक दर्शन एवं उनके जीवन के एक महान यात्रा को लेकर संबंधित है। जिसमें उनके व्यक्तित्व के विविध क्रिया पक्षों एवं मानवतावादी कार्यों से जुड़े पहलुओं की संघर्ष-गाथा है। भक्ति-आंदोलन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका ने आम जन को जीने की नई दिशा दी। जीवन और स्वयं से हारे हुए लोगों के लिए उन्होंने क्रांति की मशाल उनके हाथों में पकड़ाई। वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता को उन्होंने हर तरीके से मानवता के विरुद्ध बताया। उनकी 'अभंग-गाथा' इसी कर्मकांड और सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध मानवता को बचाने के लिए, जागरूक करने हेतु एक आंदोलन है।

बीज शब्द : अभंग, वारी, भक्ति, ईश्वर, वाकरी संप्रदाय, परंपरा, साधना, सत्संग, आधुनिकता।

मूल आलेख : भारत के इतिहास में मध्यकाल का ऐतिहासिक महत्व रहा है। जब देश की जनता गुलाम होकर जी रही थी। तब उस समय के संतों ने भारतीय आत्मा को जगाया। उन्होंने अपने नव चैतन्य से लोगों का सामाजिक रूप से पुनरुत्थान किया। कबीर, नानक, शंकराचार्य, नामदेव, नरसी मेहता, इत्यादि संत इसी श्रेणी में आते हैं। इस आंदोलन की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में संत तुकाराम का बड़ा ही योगदान है। संतों ने कोई शास्त्र या व्याकरण नहीं पढ़ा। उन्होंने सब कुछ लोक से ही ग्रहण किया। उनकी वाणी ही सूत्र वचन है।

ऐसा माना जाता है कि दुख में इंसान दुनिया की सच्चाई को देख पाता है। सुख की निःसारता समझ पाता है। फिर इंसान विरक्त हो जाता है। “जो सत्पुरुष दुख के कारण से पूरे-पूरे विरक्त हो जाते हैं और कभी उन सांसारिक सुखों की ओर जरा भी नहीं देखते वे ही श्री तुकाराम महाराज की सी संसार में प्रसिद्धि पाते हैं।”<sup>1</sup>

तुकाराम महाराज का जन्म ईस्वी 1608 में देहूगाँव में माना जाता है। यह गाँव इंद्रायणी नदी के तट पर बसा है। तुकाराम का जीवन भी कबीर और रविदास की तरह ही था। संत तुकाराम के काल निर्धारण के संदर्भ में भी काफी मतभेद है। देहूगाँव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पवित्र स्थलों में एक समझा जाता है। इस गाँव के लोग जाति के शूद्र हैं। कुछ खेती-बाड़ी भी करते हैं। संत तुकाराम स्वयं शूद्र जाति से थे। उन्होंने हिम्मत और सचाई से स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। “मेरी जाति शूद्र है, मैंने वैश्य का व्यवसाय किया। शुरू से ही मेरे कुल में पांडुरंग भगवान की पूजा होती थी।”<sup>2</sup>

संत तुकाराम का जीवन आर्थिक रूप से अत्यंत संपन्न तो नहीं था, परंतु विपन्नता भी नहीं थी। अपने पिता के तीनों संतानों में से योग्य तुकाराम ने ही अपने पिता के व्यवसाय को आगे बढ़ाया। व्यवसाय के अलावा भी उन्होंने भगवान विठ्ठल के प्रति अपनी भक्ति नहीं छोड़ी। उनके घर से भगवान विठ्ठल का मंदिर पंढरपुर काफी दूर था। दूरी के बावजूद तुकाराम पंढरपुर वारी (यात्रा) सप्ताह में एक बार अवश्य करते थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान विष्णु ने इन्हें सपने में दर्शन देकर कहा कि तुम अपने घर के बगल में खुदाई करो जहाँ तुम्हें मेरी मूर्ति मिलेगी। जब तुकाराम ने वहाँ खुदाई की, तो उन्हें सच में वहाँ मूर्ति मिली। अब तो संत तुकाराम भक्ति में पूरी तरह से ही लीन हो गए। भक्ति में डूबकर उन्होंने लगभग 7000 से भी अधिक अभंग लिखा। परंतु, धर्म शास्त्रियों एवं कर्मकांडियों को यह मंजूर नहीं था। संस्कृत में लिखा जाने वाला धर्मशास्त्र अब लोक भाषा में लिखा

## शोधार्थी की कलम से

और गाया जा रहा था।

“मराठी में लिखें अभंगों का ब्राह्मणों द्वारा विरोध किए जाने पर संत तुकाराम ने अभंगों की पोथी इंद्रायणी नदी में प्रवाहित कर दिया। उसके बाद में चौदह दिनों तक इस नदी के तट पर बैठे साधना करते रहे। कहते हैं कि चौदह दिन बाद वह पोथी पुनः ही वापस मिल गई।”<sup>3</sup>

संत तुकाराम से स्वप्न में बाबा चैतन्य तो कभी स्वयं भगवान विठ्ठल आकर उन्हें लोगों को मार्गदर्शन दिखाने के लिए प्रेरित करते हैं। उन्हें अंधकार से निकालकर भक्ति के लिए प्रेरित करने को कहते हैं। एक बार नामदेव जी स्वप्न में आकर अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि उनकी इच्छा शतकोटि अभंग लिखने की थी। परंतु, वह ये नहीं कर सकें, इसलिए इस अधूरे कार्य को तुम पूरा करो। उन्होंने संत तुकाराम को आशीर्वाद दिया कि वह खूब अभंग लिखें। जो जनसाधारण के लिए हो जिससे उनके मन में ईश्वर भक्ति का प्रसार हो। तुकाराम के इस कार्य में उनके बचपन के एक मित्र ने भी खूब सहयोग दिया। इनका नाम संता जी जगनाडे था।

तुकाराम की शिष्या महिणाबाई लिखती हैं –

“संतकृपा झाली। इमारतफला आली।

ज्ञानदेवैरचिला पाया। उभारिलेंदेवालया।

नामा तयाचाकिंकर। तेणेरचिलेंतेंआवार।

जनार्दन एकनाथ। खाब दिला भागवत।

‘तुका’ झालासे कलस। भजन करा सावकाश।”<sup>4</sup>

यानी संतों की कृपा से ही ‘वारकरी’ संप्रदाय का यह मंदिर बना। जिसकी नींव संत ज्ञानेश्वर और नामदेव ने और पत्थर से उसे मजबूती दी एकनाथ ने। ‘भागवत’ रूपी स्तंभ को आधार दिया तुकाराम ने, इस मंदिर का कलश बनकर इस संप्रदाय को पूर्णता प्रदान की। इस भजन में तुकाराम की महत्ता मंदिर के कलश के रूप में स्थापित की गई है। उन्हें ‘वारकरी संप्रदाय’ में संत शिरोमणि कहा जाता है।

अपने अभंग के माध्यम से संत तुकाराम ने समाज में एक बड़ा परिवर्तन किया। उस समय के लोग रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मौलिक आवश्यकताओं से भी वंचित होकर जीवन-यापन कर रहे थे। उन्होंने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण और अभंगों से लोगों में चेतना जगाई। संत तुकाराम अपने संघर्षों के साथ मानवतावादी

कार्यों में सदैव लगे रहे। महाराष्ट्र की संत परंपरा के संदर्भ में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं कि— “संत शब्द का प्रयोग किसी भी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तों के लिए ही होने लगा था जो विठ्ठल या वारकरी संप्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और जिनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती। इन लोगों में ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ व तुकाराम जैसे भक्तों के नाम लिए जाते हैं। जो सभी महाराष्ट्र प्रांत से संबंध रखते थे।”<sup>5</sup>

गृहस्थ जीवन के साथ भक्ति और साधना के बारे में हमें मध्यकालीन धर्म ग्रंथों में अनेक प्रयोग या उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिससे समाज को एक महान संत या व्यक्ति मिला। संत तुकाराम भी इस विसंगति के उदाहरण हैं। जहाँ संत तुकाराम का हृदय दूसरे की पीड़ा देखकर दुखी और परेशान हो जाता था, वहीं तुकाराम अपनी स्त्री और पुत्रों के दुख से दुर्लक्ष कैसे हो उठे। जहाँ तो एक ओर वह अपने शत्रुओं को भी जवाब देना उचित नहीं समझते थे, वही दूसरी ओर अपने अभंगों में ग्रामीण और अश्लील शब्दों से गालियाँ कैसे दे सकते! इन सब प्रश्न का एक ही जवाब था— उनका स्वभाव विचार— प्रधान नहीं था, बल्कि भावना प्रधान था।

एक अभंग में वे स्वयं कहते हैं कि—

“बहुत अच्छा हुआ कि दीवाला निकल गया। बहुत अच्छा हुआ कि दुर्भिक्ष के कारण इतना दुख हुआ। बड़ा भला हुआ कि स्त्री कर्कश स्वभाव की मिली। भला हुआ कि लोगों में फजीहत हुई। बड़ा अच्छा हुआ कि संसार में अपमान हुआ। अच्छा हुआ कि द्रव्य पशु सबका नाश हुआ।”<sup>6</sup>

इन सबके कारण ही वे भगवान विठ्ठल की भक्ति में पूरी तरह से लीन हो सके। इस संदर्भ में आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं “सांसारिक और आध्यात्मिक कर्तव्यों का इस उत्तमता के साथ समन्वय करने से ही वे महान संत बने।”<sup>7</sup>

### जातिगत एवं अस्पृश्यता का विरोध :

तुकाराम शूद्र जाति से थे। उन्होंने अस्पृश्यता के दंश को झेला था। उनका मानना है कि इस संसार को स्वयं जब भगवान विष्णु ने बनाया तो इंसान, इंसान से अस्पृश्य कैसे हो सकता है। यह पूरी तरह से अवैज्ञानिक एवं मानवता के विरुद्ध है। तुकाराम कहते हैं कि सभी का

## शोधार्थी की कलम से

ब्रह्म एक है—

“ब्रह्माणाचे ब्रह्म तेसोवले।  
अणिशुद्राचें ब्रह्म तेओवले।  
ऐसेवेगलेआगलेतेथेंअसेचि ना।  
उच्च ब्रह्म तेरायासी।  
नीचि ब्रह्म तेपरिवारहासी।  
ऐसा भेद तयापासी।  
मुळीच नाही।।”<sup>8</sup>

यानी कि ब्राह्मण का ब्रह्म पवित्र होता है और शूद्र का ब्रह्म अपवित्र। ऐसा भेदभाव ब्रह्म के बारे में नहीं किया जा सकता है। राजा और प्रजा का ब्रह्म भी ऊँच-नीच नहीं हो सकता है। जाति और वर्ण के नाम पर किए गए कोई भेदभाव अमान्य हैं।

### अभंगों के रंग :

तुकाराम की रचना अभंग छंदों से लिखी गई है। उन्होंने लगभग 7000 से भी अधिक अभंग लिखे। संस्कृत छंद में जिस प्रकार व्याकरण के नियम, मात्रा, लघु-वृत्त यतिभंग, छंदोभंग आदि होते हैं। यहाँ संत तुकाराम के अभंग में “जहाँ किसी प्रकार के भंग का डर नहीं, वह अभंग। इसे पद्य कहने का कारण केवल यही है कि यह गद्य नहीं। यह गेय है अर्थात् इसे गा सकते हैं।”<sup>9</sup>

वैसे अभंग में भी कुछ नियम हैं। लेकिन, सदैव उसका पालन करना आवश्यक नहीं। तुकाराम ने हिंदी में भी कुछ अभंग लिखे हैं। व्याकरणिक नियम में अधिक बंधे नहीं होने के कारण ही संत तुकाराम के अभंग जनसाधारण के हृदय पर राज किया।

### सत्संग जीवन एवं साधना -

वेदांत शास्त्र में जीवों के चार भेद माने जाते हैं- बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध।

“तपबलरचइ प्रपंच विधाता  
तपदल विष्णु सकल जग त्राता।।  
तपबलसंभुकरहिसंधारा।  
तपबलसेसधरहिमहि भारा।”<sup>10</sup>

यानी जब तक जीव को यह ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है कि वह संसार में बँधकर जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसा है, वह बद्ध कहलाता है। अक्सर सांसारिक सुखों में रहने

वाले जीव को यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इन चारों अवस्था से निकल कर जब मनुष्य पूरी तरह मुक्त हो जाता है, तो वह सिद्ध हो जाता है। इसलिए, संत तुकाराम का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को सत्संग करना चाहिए। भगवान विठ्ठल की भक्ति से ही मनुष्य अपने जीवन को गरिमा प्रदान कर सकता है। संत तुकाराम का सत्संग के संदर्भ में मानना है कि -

“वाराग्याचें भाग्य संत-संग हाचि लाभ।

संत कृपेचे हे दीप, करीसाधका निष्पाप।”<sup>11</sup>

दलित संत उन्नायक के रूप में—

संत साहित्य में रामानंद, कबीर, रविदास के बाद तुकाराम ऐसे ही एक महत्वपूर्ण एवं मजबूत संत हुए हैं, जिन्होंने दलितों की भाषा में महाराष्ट्र को ज्ञानेश्वरी दी। इन्होंने अपने अभंगों द्वारा महाराष्ट्र में आध्यात्मिक प्रचार-प्रसार से पिछड़ों को अपने अधिकार के प्रति जागृत किया। उन्हें मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने दलित होने का दंश झेला था, इसलिए उन्होंने लोगों को इसके प्रति जागरूक किया। इस कारण वे वहाँ पर एक नायक के रूप में उभरे। आज भी महाराष्ट्र में उनके अभंगों को कीर्तन, सत्संग के रूप में जनता गाती है।

### गुरु-शिष्य परंपरा -

मध्यकालीन भारतीय संत साहित्य में गुरु-शिष्य परंपरा एक महत्वपूर्ण परंपरा है, जिसमें गुरु के शिष्य अपने गुरु के विचारों को आगे प्रसारित करते रहते हैं। जिस प्रकार संत तुकाराम ने अपने गुरु नामदेव आदि से विचार ग्रहण किया, वैसे ही उनके भी शिष्यों ने जिनमें से प्रमुख थे— “संता जी जगनड़े, गंगाराम हबुल, मावाल, शिवलाकासार, रामेश्वर भट्ट और संत कवियित्री बहिणाबाई, संत नोलोवापिपलनेरकर हैं।”<sup>12</sup>

इन लोगों ने महाराष्ट्र ही नहीं, पूरे भारत में अपने गुरु के विचार का प्रचार-प्रसार किया एवं लोगों को उसे व्यवहार में उतारने के लिए प्रोत्साहित किया।

### संतों का महत्व -

तुकाराम के अभंगों में ज्यादातर अभंग संत और सज्जनों के वर्णन से भरा हुआ है। इन्होंने अपने जीवन में दुर्जनों को काफी झेला है। अपमान का दंश और गौरव नहीं मिलने से ही तुकाराम की जीवन की दिशा बदल



## शोधार्थी की कलम से

गई। उन्होंने भगवत भक्ति को ही श्रेष्ठ माना। “जिनका चरित्र ईश्वर की ओर ही लगा हो, श्री हरि स्मरण की अपेक्षा जो पृथ्वी का राज्य ही नहीं इंद्र का पद भी तुच्छ मानते हों।”<sup>13</sup>

संत तुकाराम का मनना है कि शरीर, वाणी तथा मन तीनों परमेश्वर-परायण होने से ही व्यक्ति सिद्ध हो पाता है।

### संत तुकाराम की ईश्वर भक्ति -

उनकी भक्ति सगुन भक्ति थी। उन्होंने सत्य स्वरूप ईश्वर का यथार्थ और भेद जान लिया था। “तुकाराम जी के मत से सारा संसार तीन रूपों में विभक्त था। जड़सृष्टि, चैतन्ययुक्त जीव, और ईश्वर।”<sup>14</sup>

यह जो सृष्टि है ईश्वर की बनाई है। उनकी इच्छा से निर्मित हुई है, ईश्वर ही जड़ एवं सचेतन जीवन का अंतर्दामी यानी अंतर संचालक है। वह कहते हैं कि ईश्वर के गुण का वर्णन और बढ़ाई कर पाना संभव ही नहीं। “वह नित्य है, जीवों तथा जड़-सृष्टि से ओत-प्रोत है। सबों का अंतर्दामी है और शुद्ध आनंद स्वरूप है। ज्ञान, ऐश्वर्य इत्यादि सद्गुणों से युक्त है। वही सृष्टि का निर्माण

करता है, वही उसका पालन करता है तथा अंत में वही उसका संहार भी करता है।”<sup>15</sup>

### समापन-अवलोकन -

प्रस्तुत शोध-सार में संत तुकाराम जी के जीवन-संघर्षों से लेकर उनके साहित्यिक अवदानों पर प्रकाश डाला गया है। उनका संपूर्ण जीवन मानवता के लिए समर्पित रहा। भक्ति आंदोलन को उन्होंने अपनी वैचारिकी से मजबूत कर आम जन को अपने अधिकार के प्रति जागरूक किया। जिस जाति और वर्ण व्यवस्था के वो खिलाफ थे, उन्होंने अपने सात हजार से भी अधिक अभंग में सब लिखकर उन्होंने ब्राह्मणवाद की चूलें हिला दीं। आम जन को यह बताया कि जाति अस्पृश्यता मानव-जाति के लिए हर प्रकार से गलत है। ईश्वर ने भी जब इंसान बनाकर उसमें भेदभाव नहीं किया तो हम कौन होते हैं भेदभाव करने वाले। उनका यह संदेश आज भी जाति, छुआछूत, धर्म आदि को एक मनुष्य के रूप में रहने पर बल देता है। मनुष्यता से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

## सन्दर्भ सूची

1. दिवेकर, हरि रामचन्द्र (1950) संत तुकाराम, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या - 197
2. जैन, जवाहिर लाल (1958) संत तुकाराम की जीवनी, राजस्थान खादी संघ, जयपुर, पृष्ठ संख्या-2
3. गोपाल, कृष्ण, भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी ISBN: 978-81-920281-4-9, पृष्ठ संख्या - 323
4. तुकाराम-अभंगगाथा, द्वितीय खंड, अभंग-2766, पृष्ठ - 1112
5. चतुर्वेदी, परशुराम (2014) : उत्तरी भारत की संत परंपरा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ - 16
6. दिवेकर, हरि रामचन्द्र (1950) संत तुकाराम, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या - 55
7. आचार्य, पंडित श्रीराम शर्मा : सेवा और सहिष्णुता के उपासक - संत तुकाराम, गायत्री परिवार
8. श्री दासबोध - सातवाँ दशक, ब्रम्हिरूपण-24, पृष्ठ संख्या - 179-180
9. दिवेकर, हरि रामचन्द्र (1950) संत तुकाराम, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या - 113
10. वहीं, पृष्ठ संख्या - 56
11. आचार्य, पंडित श्रीराम शर्मा : सेवा और सहिष्णुता के उपासक-संत तुकाराम, गायत्री परिवार, पृष्ठ संख्या- 20
12. जैन, जवाहिर लाल (1958) संत तुकाराम की जीवनी, राजस्थान खादी संघ, जयपुर, पृष्ठ संख्या - 13
13. दिवेकर, हरि रामचन्द्र (1950) संत तुकाराम, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या - 185
14. वहीं, पृष्ठ संख्या - 197
15. वहीं, पृष्ठ संख्या - 197

संपर्क : सिद्धा टाऊन, फ्लैट नं. AU110, बेराबेरी, नारायणपुर, गोपालपुर, राजरहाट, कोलकाता - 136, मो० : 7004981616

## वैचारिक सार्थकता और सामाजिक अर्थवत्ता के संदर्भ में हरिशंकर परसाई के व्यंग्य

- संजय कुमार सेन

रचनाकार जब सुनिश्चित विचारधारा के माध्यम से रचना में अपनी सक्रिय हिस्सेदारी का निर्वाह करता है तो वह समाज के प्रति जिम्मेदार हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके अभिप्राय तथा उद्देश्य अराजक या विघटनकारी नहीं हो सकते और तभी सार्थकता का सवाल गंभीर होने लगता है। हरिशंकर परसाई का संपूर्ण लेखन इसका प्रमाण है। जहाँ समाज के निमित्त उनकी विचारधारा सक्रिय हिस्सेदारी करती मिल जाती है। उनके लेखन में एक ओर तो बुनियादी कारण स्पष्ट है जिससे संकट पैदा होता है, दूसरी ओर उस विकल्प को प्रतिपादित भी किया गया है जिससे मनुष्य को संकटों से मुक्ति मिलती है। तथा जीवन में रचनात्मक उत्साह बना रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में अनैतिक नहीं होने देता। परसाई जी का आलोचनात्मक विवेक सृजनशील है। उन्होंने पूँजीवादी समाज और संस्कृति के विघटनकारी तत्वों का विश्लेषण किया है और समाजवादी जीवन मूल्यों की पक्षधरता को स्पष्ट किया है। वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं। उनके व्यंग्य सोद्देश्य हैं, उन्होंने आधुनिक भारतीय समाज में बढ़ते हुए वर्ग-वैषम्य के स्तर-दर-स्तर की खोज की है। वे इतिहास, दर्शन, पुरातन, धर्मनीति और आचार मान्यताओं से परिचित थे। उन्हें भारतीय मन के ऐतिहासिक विकास की जानकारी थी। उन्होंने इतिहास के प्रत्येक युग के सामाजिक संबंधों का विश्लेषण किया है। इसलिए, परसाई जी आधुनिक समाज के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों को पकड़ने में सफल हुए हैं। “परसाई समाजवाद में विश्वास करते हैं वे वर्ग-विभक्त समाज में दूसरों का हक छीनकर सांसारिक सफलता प्राप्त करने की अमानवीयता एवं टुच्चेपन को समझते हैं। वे अमानुषिक यथा-स्थितिवादी एवं विकास-विरोधी रूढ़ियों को उद्घाटित करते हैं। वर्ग-विभक्त समाज की शोषक शक्तियों की ऐतिहासिक अशक्तता जानते हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया का तर्क उनका सुदृढ़ दुर्ग है। जहाँ वे सुरक्षित हैं, जहाँ से वे यथास्थितिवादियों को देखते हैं, उन पर प्रहार करते हैं।”<sup>1</sup> परसाई जी ने भारतीय समाज की वर्ग विसंगति को पहचानकर उसे अपने लेखन में अभिव्यक्त किया है। इस तरह उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन की मार्क्सवादी व्याख्या की है। धर्मशास्त्रों ने जिस तत्व और गुण, चरित्र और उसके आचरण को गौरवांविता किया है और जिस पर हमें बड़ा गर्व है। परसाई जी ने अपने इतिहास के तर्क से उस सब को उपहासास्पद बना दिया है तथा भारतीय जीवन की नूतन संभावनाओं के प्रति सावधान भी किया है। ऐसा करते समय परसाई जी आधुनिक युग के ज्ञान विज्ञान का सहारा लेते हैं तथा उसको विकृत करने वाले सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक षडयंत्रों पर आक्रमण करते हैं।

राजनीति परसाई जी के लेखन में केंद्रीय तत्व के रूप में है। परसाई जी आधुनिक युग में मनुष्य और समाज की नियति को निर्धारित करने वाली इस राजनीति के प्रति सजग हैं। इसके प्रति बेखबरी से ही अनेक प्रकार के छल, फरेब पैदा होते हैं। उनके व्यंग्य राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित हैं। उनके व्यंग्य का जन्म ही मनुष्य की रचनात्मक पक्षधरता से होता है। परसाई जी मनुष्यता के प्रति किए जाने वाले हर षडयंत्र के विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। वे इस प्रकार के व्यक्ति की नियति और अस्मिता के लेखक ही नहीं हैं, वे तो सामाजिक जीवन की विडंबनाओं के विश्लेषक हैं। परसाई के लेखन में

प्रेमचन्द की तरह विविधता और विस्तार है। लेकिन, अंतर यह है कि प्रेमचन्द ने मुख्य रूप से सामंतवादी सामाजिक संबंधों की जटिलता को अपनी रचना का विषय बनाया था, जबकि परसाई ने मुख्य रूप से पूंजीवादी सामाजिक संबंधों की जटिलता को अपने व्यंग्यों में उतारा है। “अपने जमाने में सत्याग्रह, हृदय परिवर्तन, ट्रस्टीशिप, सर्वोदय, अहिंसक मार्ग आदि की बड़ी-बड़ी बातें सुनी जाती हैं। एक लगभग संत राजनीतिज्ञ वर्ग-संघर्ष की भी बात करते हैं— मगर अहिंसक वर्ग-संघर्ष। अहिंसक वर्ग संघर्ष का एक ही छोटा नमूना वे पेश कर देते। इस सारे वितण्डवाद में मुझे चूहे का एक्शन प्रभावित कर गया—हिंसा, अहिंसा, हृदय परिवर्तन, ट्रस्टीशिप, सर्वोदय सब फालतू हैं। सिर पर चढ़कर, सिर को ढोंचकर रोटी ले सको तो ले लो, वरना भजन करते मर जाओ। गलत होऊँ या सही, पर इस स्पष्ट के बिंदु पर मैं आदमी को देखना चाहता हूँ।”<sup>2</sup>

वैसे परसाई किसी से व्यक्तिगत रूष्ट नहीं होते। कांति कुमार जैन के अनुसार परसाई लिखते हैं कि “व्यक्तिगत कारणों से मुझे गुस्सा कम आता है। व्यक्तिगत कारणों से वे किसी को नापसंद भी कम ही करते थे। यदि किसी की नाक मोटी है, आवाज भारी है, कोई सेंट लगाता है, कोई गाड़ी में घूमता है, शराब पीता है तो भी परसाई से उनकी पट सकती थी। मित्रता निभ सकती थी पर सामने वाले का वैचारिक छल, उसकी पुरोगामी वैचारिकता, लाभ अर्जित करने के लिए की गई चाटुकारिता उन्हें सहन नहीं होती थी।”<sup>3</sup> परसाई का विरोध लोगों की मानवीय दुर्बलताओं से नहीं, उनके छल से था। मित्रों की दुर्बलताओं को वे माफ कर देते पर उनका वैचारिक छल-वे न भूल पाते, न माफ कर पाते। उन्हें वही पीड़ा थी जो मुक्तिबोध को थी। परसाई मुक्तिबोध के पथ पर चले। एक ने पद्म का सहारा लिया तो दूसरे ने गद्ग का। हरिशंकर परसाई मुक्तिबोध के संघर्ष-पथ पर चलते रहे हैं। ‘स्वतंत्रता और न्याय’ के सामाजिक संघर्ष में परसाई के लेखन का महत्व कम नहीं है। ‘मुक्तिबोध एक संस्मरण’ लेख में परसाई ने व्यंग्य किया है, “जो प्रगतिवादी आंदोलन के कंधे पर चढ़कर ‘नया पथ’ में फ्रंटपेजित भी होते थे,

फिर पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र की ‘कृष्णायन’ का धूप-दीप के साथ पाठ करके फूलने लगे, अब जनसंघ राजमाता की जय बोलकर फल रहे हैं।”<sup>4</sup> मुक्तिबोध की तरह परसाई के लेखन में भी ‘गहरे अंतर्द्वंद्व और तीव्र सामाजिक अनुभूति है। उन्होंने निष्क्रिय ईमानदार और सक्रिय बेईमान के ‘षड़यंत्र’ को समझा। मुक्तिबोध की तरह परसाई को भी मालूम है कि लेखक यदि स्वतंत्रता का पक्षधर है तो फाँसीवादी ताकतें रूप बदल-बदलकर उस पर चोटें करेंगी। कभी लुक-छिपकर, कभी साथी-संगी बनकर और कभी सीधे दुश्मन बनकर सामने आएँगी। यहाँ यह कहाँ प्रासंगिक है कि मुक्तिबोध के संस्मरण में परसाई का तमतमाया हुआ बौद्धिक आक्रोश इसी समूची व्यवस्था के विरुद्ध है। “परसाई ने अपने हर व्यंग्य में लड़ाई लड़ी है। वे व्यक्ति, समाज और समूचे राष्ट्र की भीतरी कथाओं में घुसते हैं और गुँथी हुई, उलझी हुई, गाँठों भरी व्यवस्था में विद्रूपों विसंगतियों और विडंबनाओं को सामने लाते हैं। इस तरह परसाई ने समूची सांस्कृतिक अधिरचना को अपने व्यंग्य-लेखन का विषय बनाया है।”<sup>5</sup>

परसाई ने व्यंग्य के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया और उस शक्ति को पकड़ा जो सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष को रोकती है। यहीं पर परसाई जी ने सामंतवाद और पूँजीवाद की सांस्कृतिक शिक्षा-दीक्षा पर कड़े से कड़े प्रहार किए हैं। परसाई की प्रगतिशीलता के आयाम बहुमुखी हैं। वे मानते हैं कि सांस्कृतिक चिंतन और आचरण के पुराने पैमाने बेकार हो गए हैं। अब धर्म भी सामंतवादी गिरजाघरों, मंदिरों और मस्जिदों से बाहर निकल चुका है। उसमें बदले हुए समाज के अनुरूप काफी परिवर्तन हो गया है। यह बदला हुआ धर्म मनुष्य के द्वारा निर्मित समाज की भौतिक समृद्धि में बाधा उपस्थित नहीं करता। वह आधुनिक युग के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जगह पाने लायक बने रहने के लिए अपनी ऐतिहासिक विरासत को तेजी से बदल रहा है।

परसाई ने समय के परिवर्तन को बखूबी दर्शाया है। वे दिखाते हैं कि किस प्रकार समय के साथ आदमी की मानसिकता, उसकी सोच और कार्य करने की शैली बदलती रहती है, लेकिन मानव स्वभाव में कोई खास

अंतर नहीं आता। समय के साथ उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का प्रभाव न केवल समाज, बल्कि व्यक्ति पर भी पड़ता है। परसाई यह मानते हैं कि वक्त हमेशा कच्चा माल ही रहता है, क्योंकि व्यक्ति उसे अपने स्वार्थ और इच्छाओं के अनुसार ढालने की कोशिश करता है। वक्त के साथ विकसित होने वाली परिस्थितियों को स्वीकार करके और उनसे तालमेल बिठाने के बजाय, व्यक्ति अपने पुराने आदर्शों और मान्यताओं को थोपने की कोशिश करता है, जो कि समाज के लिए हानिकारक साबित होता है।

परसाई की लेखनी में व्यंग्य केवल एक साहित्यिक शैली नहीं है, बल्कि यह एक माध्यम है, जिससे वे समाज की बुराइयों, राजनीति की कुटिलताओं और जीवन की बेमानी आदतों पर प्रहार करते हैं। उनकी भाषा सरल और सहज होती है, लेकिन उनके शब्दों में एक तीखापन और गहरी सोच समाहित होती है। वे न केवल तात्कालिक परिस्थितियों पर, बल्कि सार्वभौमिक-समस्याओं पर भी व्यंग्य करते हैं। उदाहरण के तौर पर, वे अक्सर भारतीय राजनीति की विडंबनाओं पर लिखते हैं, जिसमें नेताओं के वादे और उनके वास्तविक कृत्य पर कटाक्ष किया जाता है। उनके व्यंग्य में समाज के 'सार्वभौमिक मूल्य' के खोने पर भी टिप्पणी की जाती है। वे यह दिखाते हैं कि कैसे समाज ने अपनी जड़ों से दूर होकर दिखाने और फिजूल के आदर्शों को अपनाया है। 'बदलाव का समय' में वे लिखते हैं : "तुम जितना दूसरों को बदलने की कोशिश करते हो, उतना ही खुद बदलने की जरूरत होती है।"<sup>6</sup>

वे मानते हैं कि आदमी अपनी परिस्थितियों में सक्षम नहीं है और वह हमेशा अपनी आदतों और मान्यताओं को बनाए रखने की कोशिश करता है। चाहे वह उसके सुख-समृद्धि के लिए कितना ही हानिकारक क्यों न हो। परसाई के व्यंग्य लेखों में यह स्पष्ट दिखता है कि वे समाज की उन आदतों और मूल्यों को चुनौती देते हैं, जो व्यक्ति की सोच को संकुचित और पराधीन बना देती है। उनके लेखों में व्यक्ति की मानसिकता, उसकी विचारधारा और उसके अस्तित्व के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रदर्शित होता

है जो समय के साथ अत्यधिक जटिल और भ्रमित हो चुका होता है। 'आत्मज्ञान का भ्रम' नामक लेख में परसाई जी कहते हैं— "जो आदमी दूसरों को सही रास्ता दिखाता है, वह खुद खोया हुआ होता है।"<sup>7</sup> यह उद्धरण उन लोगों की मानसिकता को व्यक्त करता है, जो दूसरों को सही रास्ता दिखाते हैं, लेकिन स्वयं अपनी जीवन यात्रा में उलझे होते हैं।

मनुष्य केवल बाह्य उपलब्धि से संतुष्ट नहीं होता उसे आंतरिक सुख की भी आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य मंगलमय जीवन-मूल्यों को ग्रहण करना चाहता है। वह आत्मा का उदात्तीकरण और उन्नत भी चाहता है। यही संस्कृति का रूप है। परसाई मानते हैं कि "संस्कृति एक अनवरत मूल्य धारा है। वह जातियों के आत्म सचेत अस्तित्व से आत्मबोध से आरंभ होती है। और मुख्य धारा में संस्कृति की दूसरी धाराएँ मिलती जाती हैं। उनका समन्वय होता जाता है, इसलिए किसी जाति की संस्कृति उसी मूलरूप में नहीं रहती, बल्कि समन्वय से वह अधिक व्यापक होती है।"<sup>8</sup>

परसाई जनता की संस्कृति को ही संस्कृति का वास्तविक रूप मानते हैं। "संस्कृति वास्तव में लोक संस्कृति है वह लोक से पैदा होती है, और लोक में व्याप्त होती है। सामान्यजन की संस्कृति होती है और अभिजात्य वर्ग की दिखावट नहीं होती।" पंडित नेहरू ने लिखा है कि "भारत की समन्वय संस्कृति है। यह समन्वय लोक जीवन में है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता है भारत तीर्थ अपनी आँखें खोलो यहाँ आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चीनी वंश के लोग भी हैं। शक, हूण, पठान और मुगल न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आए और सबसे सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गए।"<sup>9</sup>

परसाई अपनी संस्कृति की बड़ाई तो करते हैं, लेकिन उसकी मूल्यहीनता पर भी चोट करते हैं "साधो बात बहुत गंभीर है वो विदेशी भारत को अभी तक समझ ही नहीं पाए हैं, भूल जाते हैं कि हमारी हजारों साल की महान संस्कृति है और यह समन्वित संस्कृति यानी यह संस्कृति द्रविड़, आर्य, ग्रीक, मुस्लिम आदि संस्कृतियों के समन्वय से बनी है। इसलिए, इलायची में कचरे का

## शोधार्थी की कलम से

समन्वय करेंगे, गेहूँ में मिट्टी का, शक्कर में सफेद पत्थर का, मक्खन में स्याही सोख कागज का। जो हमारे माल में मिलावट की शिकायत करते हैं वे नहीं जानते हैं समन्वय है जो हमारी संस्कृति की आत्मा है। और चाहे कोई एक हमसे एक पान भी न खरीदे, पर हम अपनी प्यारी प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ सकते।”<sup>10</sup>

हरिशंकर परसाई व्यंग्य के माध्यम से समाज की कुरीतियों, राजनीतिक विषमताओं और मानवीय स्वभाव की गहरी समझ को प्रस्तुत करते हैं। उनकी लेखनी में हास्य, तल्ख व्यंग्य और सत्य का मिश्रण है, जो पाठक को न केवल व्यंग्य से सजीव करता है, बल्कि उसे समाज के प्रति जिम्मेदार भी बनाता है। प्रजातंत्र पर अपने विचार व्यक्त करते हुए वह कहते हैं कि प्रजातंत्र में सबसे बड़ा दोष है तो यह कि उसमें योग्यता को मान्यता नहीं मिलती,

लोकप्रियता को मिलती है। परसाई की दृष्टि समाज के सभी पहलुओं को न केवल सटीक रूप से पहचानने की है, बल्कि उन्हें सुधारने के लिए कुछ कर गुजरने की आवश्यकता को भी महसूस कराती है। परसाई का लेखन संपूर्ण भारतीय समाज का जीवित रूप है। जहाँ समाज का कोई कोना परसाई की समग्र दृष्टि से छूटा नहीं है। वे जीवन को सुधारने के लिए व्यक्ति को नहीं पूरी समाज व्यवस्था को बदलने की बात करते हैं। वे कल्पना जीवी नहीं यथार्थवादी रचनाकार थे। उन्होंने धर्म, राजनीति, शिक्षा, अर्थ, संस्कृति, साहित्य सभी क्षेत्रों की विद्रूपताओं पर अपनी लेखनी चलाई है। राजनीति के संबंध में परसाई ने अधिक व्यंग्य रचा है। क्योंकि, वे राजनीति को मनुष्य का नियंता मानते थे। परसाई के लेखन-संसार में विधाओं की विविधता के साथ विचारों की भी विविधता है।

### सन्दर्भ सूची

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, पृष्ठ - 18, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2024
2. हरिशंकर परसाई, वैष्णव की फिसलन, पृष्ठ - 37, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 1976
3. कांति कुमार जैन, तुम्हारा परसाई, पृष्ठ - 123, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2004
4. कमला प्रसाद (सं), आँखन देखी, पृष्ठ-265, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2023
5. वहीं, पृष्ठ - 266
6. प्रतिनिधि व्यंग्य: हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई, पृष्ठ - 32, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2006
7. वहीं, पृष्ठ - 35
8. हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड-5, सं- कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुंदर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप, पृष्ठ - 45, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2019
9. वहीं, पृष्ठ - 48
10. हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड-5, सं- कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, श्यामसुंदर मिश्र, मलय, श्याम कश्यप, पृष्ठ - 32, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2019

सह-लेखक / गाइड

डॉ० पी० राजारत्नम आचार्य, तमिलनाडु केंद्रीय विश्वविद्यालय  
ई-मेल : [rajaretnam@cutn.in](mailto:rajaretnam@cutn.in)

ग्राम-पोस्ट : बागनल, थाना : मसानजोड़, जिला : दुमका  
झारखंड - 814144, ई-मेल : [sanjay.rajbhasha@gmail.com](mailto:sanjay.rajbhasha@gmail.com)

## दर्दजा: स्त्री जीवन की त्रासदी

- आरती कुमारी (शोध छात्रा)

“नेक औरतें हमेशा अपने जिस्म से पाक रहती है।”<sup>1</sup>

जयश्री रॉय इस उपन्यास के माध्यम से स्त्री जीवन से जुड़े विभिन्न-पहलुओं को हमारे सामने एक व्यापक दृष्टिकोण लेकर प्रस्तुत होती हैं। ‘नेक औरतों हमेशा जिस्म से पाक रहती है’ यह एक पंक्ति विश्व की सभी स्त्रियों को एकाएक केंद्र में लाकर खड़ा कर देती है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में स्त्री को उसके जिस्म की कसौटी पर खड़ा करके देखा जाता है। स्त्री जिस्म की बात करें तो कह सकते हैं इसका संबंध यौन शुचिता से है। नेक औरत बने रहने के लिए न जाने उन्हें कितनी ही कसौटियों और यातनाओं से होकर गुजरना पड़ता है। जयश्री ने साहित्य के लगभग सभी विधाओं में रचनाएँ की हैं। अब तक इनके चार कहानी संग्रह ‘अनकहनी’, ‘तुम्हें छू लूँ जरा’, ‘खारा पानी’ और ‘कायांतर’ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके साथ-साथ इनके अब तक चार उपन्यास ‘औरत जो नदी है’, ‘साथ चलते हुए’, ‘इकबाल’, ‘ददजा’ और एक कविता संग्रह ‘तुम्हारे लिए’ प्रकाशित हो चुकी है। लेखिका स्वयं अपने बारे में कहती हैं कि— ‘मैं चुप रहकर किसी गुनाह का साथ नहीं देना चाहती।’

अफ्रीका महाद्वीप के देशों केनिया, इथोपिया और सोमालिया में प्रचलित कुप्रथा सुन्नत या कहें कि स्त्री सुन्नत को इस उपन्यास का केंद्र बनाया गया है। सुन्नत को आधार बनाकर धर्म और परंपरा की आड़ में स्त्री के ‘स्व’ का हनन किया जा रहा है। स्त्री के स्व का संबंध उसके अस्तित्व से है। उसका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। वह समाज के हाथों की कठपुतली मात्र बनकर रह गई है। उसका अपना कोई वजूद नहीं रह गया है न ही अस्तित्व। लेखिका ने इसे शोधपरख दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। स्त्री सुन्नत शब्द सुनते ही हमारे मन और मस्तिष्क में एकाएक एक प्रश्न उठता है कि यह क्या है? ऐसा क्यों किया जा रहा है? इसका उद्देश्य क्या है? अंग्रेजी में उसे फीमेल जेनिटलम्यूटेशन (एफजीएम) कहा जाता है। सीधे शब्दों में कहें तो उसे खतना कहा जा सकता है। एक रूढ़िवादी परंपरा है। धर्म और परंपरा की आड़ में इसे स्त्रियों पर थोपा जा रहा है। उपन्यास में उसे परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि स्त्री के यौनांग के बाहरी ओष्ठ को सिल दिया जाता है जिससे उसके नैसर्गिक कामेच्छा को नियंत्रित करके महज बच्चा पैदा करने वाली मशीन के रूप में बदलना। साजिश उनसे जिस्मानी जरूरतों या कहें कि उसके पूरे जिस्म पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से इस कुप्रथा को अपनाया गया है।

‘दर्दजा’ उपन्यास में सोमालिया प्रदेश में रह रहे बंजारन समुदाय की माहरा की कथा है जो इस पूरे उपन्यास के केंद्र में है और इस कुप्रथा की भोक्ता भी है। वह अपने आपको और अपनी छोटी बहन को तो इस कुप्रथा से नहीं बचा पाती है। लेकिन, अपनी बेटी मासा को बचाने के लिए अपने परिवार से या कहूँ कि पूरे समाज से संघर्ष करती है। अंततः अपनी बेटी मासा को बचा ही लेती है। अपनी बेटी को बचा लेना उसकी चेतनाशीलता का प्रमाण है। माहरा शुरू से लेकर अंत तक संघर्ष करती है।

उपन्यास के प्रारंभ में ही लेखिका कुछ ऐसी औरतों से परिचय करवाती है जो इस पितृसत्तात्मक समाज द्वारा पालित-पोषित हैं। इस व्यवस्था की जब भी बात होगी तो एक बात तो तय है कि यह समाज पुरुष प्रधान समाज है। आज भी स्त्रियों को स्वयं को पुरुषों के अनुरूप देखना कोई बड़ी बात नहीं है। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण ही उन्हीं के अनुसार हुआ है। प्रभा खेतान अपने उपन्यास ‘अपने अपने चेहरे’ में कहा है कि— “यह व्यवस्था पुरुष की बनाई हुई है, स्त्री की नहीं। इस व्यवस्था के साथ हजारों साल की परंपरा



जुड़ी हुई है।”<sup>2</sup> आज भी स्त्री उनके द्वारा निर्मित व्यवस्था में रहने को बाध्य है। लेखिका कुछ ऐसी औरतों से परिचय करवाती है, जिनके पास न चेतना है न ही कोई दृष्टि। इसका परिणाम यह है कि वह अपने अस्तित्व के बारे में न सोचकर सदियों से चली आ रही रूढ़िवादी परंपरा की कसीदें गढ़ती हैं। स्त्रियों को उनके दुख और दर्द पर गर्व करने की सलाह देती है। उपन्यास की एक पंक्ति है— “दुख तो अनगिनत हैं औरत के भाग्य में, मगर तीन दुख खास हैं— एक तो पहला सुन्ना, दूसरा जब शादी की रात उसे फिर संभोग के लिए काटकर खोला जाता है और तीसरा जब बच्चा जनने के लिए उसे प्रसव के समय काटा जाता है।”<sup>3</sup> ऐसा प्रतीत होता है मानो स्त्रियों के जीवन का आधार ही दर्द है। स्त्रियों का उनके शरीर पर कोई अधिकार ही नहीं है। वह पुरुषों द्वारा निर्मित व्यवस्था में रहने को अभ्यस्त है। उनके लिए समाज द्वारा निर्मित नियम ही श्रेष्ठ है।

चेतना व्यक्ति में सजगता उत्पन्न करती है। सही और गलत में फर्क करना सिखाती है। उपन्यास की प्रमुख पात्र माहरा के व्यक्तित्व में यही चेतना है। वह एक चेतनाशील स्त्री के रूप में हमारे समक्ष आती है। वह अपने आप को बचाने के लिए घर से ही भाग जाती है। वह विरोध करती है, परंतु जबरदस्ती उसका खतना कर दिया जाता है। माहरा का घर से भाग जाना ये दर्शाता है कि उसके अंदर चेतना का संचार हो चुका है। वह शायद अपने आपको तो इस कुप्रथा से न बचा सके, लेकिन अपनी आने वाली पीढ़ी को शायद बचा पाए। लेखिका माहरा के माध्यम से उन सभी स्त्रियों को एकाएक केंद्र में ला खड़ा कर देती है जिनका सदियों से शोषण होता चला आ रहा है। जिनके जीवन का परियाय ही दर्द है। उन तमाम स्त्रियों के दर्द को माहरा के दर्द से जोड़कर देख सकते हैं— “जाबरा के उठते गिरते हाथ के साथ मेरे शरीर में तेज पीड़ा की लहरें उठ रहीं थीं। विस्फोट से हो रहे थे। कभी जाबरा के हाथ में चाकू होता, कभी पत्थर के टुकड़े तो कभी ब्लेड... भय पीड़ा से आवेश होते हुए मैंने देखा था, उसने अपने दोनों गंदे हाथों के लंबे नाखूनों को मेरे भीतर खुबा दिये थे।”<sup>4</sup> जितना सजीव वर्णन वे करती हैं वह रूँह कँपा देने वाले दर्द का एहसास कराती है। माहरा स्वयं की तुलना जिबह किए गए पशु से करती हैं जिस प्रकार जिबह किए जाने वाले पशु की खूब सेवा की

जाती है ठीक वैसा ही किया जा रहा था। उपन्यास की एक पंक्ति है— “मगर आज मुझे एक तरह से जिंदा ही जिबह किया जा रहा था।”<sup>5</sup> जिबह करने वाले पशु से स्वयं की तुलना करना उसके चेतीत होने का प्रमाण है। जिस प्रकार जिबह में पशु को दर्द में तड़पते हुए छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार सुन्नत की गई स्त्री को।

विवाह एक लड़की के लिए नया जीवन और कुछ जिम्मेदारियाँ लेकर आता है। लेकिन, इस उपन्यास में विवाह को चुनौती के रूप में अंकित किया गया है। बेमेल विवाह की समस्या को उठाया गया है। माहरा का विवाह अधेड़ उम्र के जहीर मियाँ के साथ तय हो जाता है। इसका प्रमुख कारण है अभाव। अभाव भी बहुत प्रकार के हो सकते हैं लेकिन यहां अभाव के रूप में जीवनयापन के लिये जरूरत के साधनों का अभाव और दूसरा शिक्षा का अभाव। अधिकतर बेमेल विवाह का मूल कारण अभाव ही होता है। बंजारन समुदाय में गरीब परिवार की अधिकांश लड़कियों की शादी इसी तरह होती है। इसे शादी न कहकर सौदा कहें तो ज्यादा सही होगा। लड़के से ज्यादा महत्व तौफे के रूप में मिल रहे सामान और मवेशियों का होता है। लड़कियाँ अगर ऐसी शादी के लिए मना करती हैं तो उन्हें विभिन्न प्रकार के तर्क देकर चुप करा दिया जाता है। इस समुदाय की लड़कियों से न उनकी मर्जी के बारे में जाना जाता है न उनकी इच्छा का सम्मान किया जाता है। उन्हें पशु समान किसी अंजान के हाथों पैसे के लालच में बेच दिया जाता है। माहरा स्वयं की तुलना उस पशु से करती हैं जिसे पाला-पोषा जाता है और जरूरत के अनुसार उसका दाम लगाकर बेच दिया जाता है। उपन्यास की एक पंक्ति है— “गहनों की खनक में कहीं सांकल की आवाज भी होती है, हँसने-गाने के नीचे दबी कोई सिसकी भी।”<sup>6</sup> गहनों की खनक उस अदृश्य जंजीर की तरह होती है जिसे हम देख नहीं सकते और न जाने कितनी ही लड़कियों के चेहरे के हँसी के पीछे दुख शामिल हो। बेमेल विवाह से बचने के लिए न जाने कितनी लड़कियाँ घर से भाग जाया करती हैं और जंगली जानवरों के भेंट चढ़ जाती हैं और न ही कोई उनकी खोज लेता न खबर।

शिक्षा व्यक्ति में जहाँ जागरूकता उत्पन्न करती है, वहीं शिक्षा का अभाव व्यक्ति में धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास।

## शोधार्थी की कलम से

इस पूरे उपन्यास में दो ऐसे पात्र आते हैं जिनके पास किसी विषय को देखने का अपना एक नजरिया है। जिनके पास अपनी तार्किकता है। वह सही और गलत में फर्क कर सकते हैं। महमूद एक अदद ऐसा व्यक्ति है जो बंजारन समुदाय का तो जरूर है, लेकिन ईसाइयों के यहाँ रहकर आया है। उसके सोच में परिवर्तन तब देखने को मिलता है जब वह समाज के खिलाफ जाकर अपनी बेटी का सुन्नत नहीं करवाता है। उसे विभिन्न प्रकार के ताने सुनने पड़ते हैं। उसे समाज से बहिष्कृत किया जाता है फिर भी वह अपने लिए गए फैसले पर अडिग रहता है। उसके सोच में यह जो परिवर्तन आया है उसका प्रमुख कारण है शिक्षित लोगों के साथ बिताए कुछ समय। अंधविश्वास, पाखंड और रूढ़िवादी परंपरा से लड़ने के लिए शिक्षा ही सही रास्ता दिखा सकती है। वह एक जागरूक परंपरा से लड़ने के लिए शिक्षा ही सही रास्ता दिखा सकती है। वह एक जागरूक व्यक्ति बनकर आया है। उसी प्रकार मैरी भी एक ऐसी ईसाई महिला है जो एक शिक्षित महिला है। अपने पति के साथ मिलकर एक संगठन चलाती हैं। वहीं कुछ पात्र ऐसे भी हैं जिनमें धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास देखने को मिलता है। ऐसे लोग सुन्नत की गई स्त्री का रक्त स्नायु न रुकने पर उसे डायन कहकर पुकारते हैं। सुन्नत को धर्म से जोड़कर देखना। पीलिया, डायरिया, टेटनस और एड्स होने पर भी डॉक्टर के पास न जाकर ओझा के पास जाना उनकी अज्ञानता का प्रमाण है।

लेखिका एक व्यापक दृष्टिकोण लेकर हमारे सामने प्रस्तुत होती है। एक ओर स्त्री सुन्नत को यौन शुचिता से जोड़कर हमारे सामने प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर सोमालिया में रह रहे जनजातीय समुदाय के पिछड़ेपन को दिखाया गया है। सोमालिया में रह रहे बंजारन समुदाय का उल्लेख किया गया है। बंजारन ऐसे लोग होते हैं जिनका कोई निश्चित ठिकाना नहीं होता है। जलवायु में परिवर्तन के साथ-साथ इनके निवास स्थान में भी परिवर्तन होता रहता है। खाने की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान जाना। घर के मर्द का काम की तलाश में शहर जाना और घर की औरतों का घरों की चारदीवारी तक सीमित रहना। स्त्री-पुरुष में असमानता और समाज में स्त्रियों के प्रति भेदभाव पूर्ण व्यवहार को दर्शाता है।

यहाँ जयश्री राय ने 'दर्दजा' उपन्यास के माध्यम से स्त्री जीवन की दयनीय स्थिति को प्रस्तुत किया है। किस प्रकार धर्म और परंपरा की आड़ में सदियों से चली आ रही परंपरा में स्त्रियों को सुन्नत कर उनका शोषण किया जा रहा है। स्त्रियों के नैसर्गिक कामेच्छा को नियंत्रित करने के लिए साजिश किया जा रहा है। ऐसा आज से नहीं, बल्कि सदियों से होता चला आया है। स्त्रियों का स्वयं कोई वजूद नहीं है। समाज किस प्रकार स्त्री-पुरुष में असमानता का भाव रखता है, इसे यहाँ दिखाने का प्रयास किया गया है। बेमेल विवाह की समस्या को उठाया गया है। बंजारन समुदाय के दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है।

### सन्दर्भ सूची

1. राय जयश्री, दर्दजा, प्रथम संस्करण 2016, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं० 34
2. खेतान प्रभा, अपने-अपने चेहरे, प्रथम संस्करण 2021, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं० 122
3. राय जयश्री, दर्दजा, प्रथम संस्करण 2016, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सं० 32
4. वहीं, पृष्ठ सं० 15-16
5. वहीं, पृष्ठ सं० 15
6. वहीं, पृष्ठ सं० 58

शोध छात्रा, काजी नजरूल विश्वविद्यालय  
सांता 8नं० बस्ती-बर्नपुर, पिन -713325,  
पोस्ट - सांता, जिला - पश्चिम बर्द्धमान (पश्चिम बंगाल)  
मो० : 8943019499, ई-मेल : arti0933@gmail.com

## मार्क्सवादी चिंतन के परिप्रेक्ष्य में धूमिल की कविताओं का मूल्यांकन

- गौरव कुमार

सार :

“कवि धूमिल का काव्य शोषित वर्ग की मुक्ति का काव्य है। समाज के शोषित वर्ग की मुक्ति के लिए धूमिल विभिन्न तरह के सैद्धांतिक दर्शनों का अध्ययन करते हैं जिसमें एक महत्वपूर्ण दर्शन मार्क्सवाद है। धूमिल मार्क्सवाद की वैचारिक मान्यताओं से बहुत हद तक प्रभावित हैं क्योंकि मार्क्सवाद शोषित वर्ग की मुक्ति का मार्गदर्शन है तथा उनके ऊपर हो रहे अत्याचार व अन्याय के खिलाफ उठने वाली एक ताकतवर आवाज है। यही कारण है कि धूमिल और मार्क्सवाद के बीच अत्यधिक साम्यता दिखाई देती हैं। धूमिल की कविताओं में कई ऐसे वैचारिक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी कविता मार्क्सवादी चिंतन के आधार पर निर्मित हुई है। अतः उनकी कविताओं का मूल्यांकन मार्क्सवादी चिंतन के परिप्रेक्ष्य में करना हमारे लिए न्यायसंगत होगा, साथ ही इस बिन्दु पर विचार करना समीचीन होगा कि वे इस दर्शन से प्रभावित जरूर थे लेकिन उन्होंने इसका अंधानुकरण नहीं किया।”

**बीज शब्द :** पूंजीवाद, मार्क्सवाद, शोषित वर्ग, जनतंत्र, क्रांति, संसद, शोषण, व्यवस्था

**शोध विस्तार :** प्रस्तुत विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए सबसे पहले हमें यह समझने की आवश्यकता है कि **मार्क्सवाद क्या है ? और कवि धूमिल किस प्रकार मार्क्सवाद या मार्क्सवाद के वैचारिक बुनियाद से जुड़े हुए हैं एवं उनकी कविताओं में मार्क्सवादी तत्व किन-किन रूपों में विद्यमान है ?** इन्हीं मुख्य सवालों को ध्यान में रखकर इस महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला जाएगा। **‘मार्क्सवाद क्या है’** – वास्तव में मार्क्सवाद दो शब्दों के योग से बहना है **‘मार्क्स’** और **‘वाद’**, **‘मार्क्स’** से तात्पर्य कार्ल हेनरिख मार्क्स से है जो जर्मनी के एक क्रांतिकारी दार्शनिक, साम्यवादी चिंतक और वैज्ञानिक समाजवाद के प्रणेता थे। **‘वाद’** से तात्पर्य किसी विशिष्ट सिद्धांत या विचारधारा से है जो सामान्यतः प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है जैसे राष्ट्रवाद, मानवतावाद, नारीवाद आदि। अतः हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद यानी मार्क्स की विचारधारा या सिद्धांत या उनकी मान्यताएं, जो उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं उसे हम मार्क्सवाद की संज्ञा दे सकते हैं। मूलतः मार्क्सवाद के जनक कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स को माना जाता है क्योंकि मार्क्सवाद के निर्माण में मार्क्स के साथ-साथ उनके गहरे मित्र फ्रेडरिक एंगल्स का भी विशिष्ट योगदान है। इसी संदर्भ में डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखा है— **“मार्क्सवाद शब्द का व्यापक प्रयोग मानव इतिहास में ‘मार्क्स’ की युगांतकारी भूमिका की व्यापक स्वीकृति है। ‘मार्क्सवाद’ के निर्माण में एंगल्स का बहुत बड़ा हाथ है”**<sup>1</sup> मार्क्सवाद के अनुयायियों का मत है कि मार्क्सवाद कोई जड़ वस्तु नहीं है। वह जीवंत दर्शन है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के अनुसार— **“मार्क्सवाद जड़वाद नहीं, जो जिद्द से अपनी दृढ़ता प्रकट करता है, वह सतत विकासशील, खुला हुआ और खरा दर्शन है, जो लगातार विज्ञान और तथ्य तथा तर्क के बल पर विवेचना और विश्लेषण की ताकत**

## शोधार्थी की कलम से

**पर स्वपक्ष और प्रतिपक्ष की जिज्ञासाओं को संतुष्ट करने में संलग्न हैं।”<sup>2</sup>** मार्क्सवादी साहित्य चिंतन और उसकी काव्यपरंपरा एक लंबी अवधि से चली आ रही है। इस समयकाल अथवा परंपरा में कई विचारकों एवं दार्शनिकों का जन्म हुआ। कई आलोचकों तथा कवि-लेखकों ने मार्क्सवादी विचारधारा में प्रगतिशील तत्वों को देखकर उसे स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया। जिनमें हिंदी साहित्य जगत के समकालीन कविता के केंद्रीय कवि **सुदामा प्रसाद पाण्डेय ‘धूमिल’** का नाम विशेषकर उल्लेखनीय है। कवि धूमिल आधुनिक हिंदी साहित्य में साठोत्तरी कविता के एक सशक्त एवं महत्वपूर्ण कवि है। उन्होंने अपनी कविताओं में मुख्य रूप से आजादी से हुए मोहभंग का वर्णन किया है। उनकी रचनाओं में हमें तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का विरोध और सत्तातंत्र के खिलाफ बहुत ज्यादा विक्षोभ दिखाई देता है। धूमिल सामाजिक व्यवस्था के वास्तविक चरित्र का पर्दाफाश करने वाले संवेदनशील, जागरूक एवं विद्रोही कवि है।

वैसे तो धूमिल किसी वाद या सिद्धांत से पूर्णतः सहमत नहीं थे, किन्तु फिर भी उनके मनोजगत पर कई विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है। उन्होंने मार्क्स, ऐंगल्स, लेनिन, स्टालिन, गोर्की, गांधी, लोहिया प्रभृति चिंतकों का गंभीर अध्ययन किया, परंतु जितना गहरा प्रभाव मार्क्सवाद का उनके मनोविज्ञान पर पड़ा शायद उतना अन्य चिंतकों का नहीं। ऐसा इसलिए क्योंकि उनका पूरा जीवन गरीबी और आभाव के कारण संघर्षमय रहा। उनके जीवन में जो-जो घटनाएं घट रही थीं, वे जिन-जिन परिस्थितियों से गुजर रहे थे उसका वास्तविक कारण और निवारण उन्हें मार्क्सवाद के भीतर नजर आ रहा था। अपने जीवन की तमाम परिस्थितियों में उन्होंने पूंजीवाद के शोषण और अत्याचार को नजदीक से देखा और यह अनुभव किया कि जनता की गरीबी, मुखमरी का सबसे बड़ा कारण निजी मालिकाना और निजी मुनाफा पर आधारित यह पूंजीवादी व्यवस्था है जिसे कुछ मुट्ठीभर

लोग अपने निजी स्वार्थ हेतु चला रहे हैं। यही कारण है कि उनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर अधिक हुआ। धूमिल अपनी कविता **‘सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र-2’** में कहते हैं :-

**“न कोई प्रजा है  
न कोई तंत्र है  
यह आदमी के खिलाफ  
आदमी का खुलासा  
षड़यंत्र है”<sup>3</sup>**

प्रस्तुत काव्य पंक्ति में कवि धूमिल ने मौजूदा पूंजीवादी प्रजातांत्रिक व्यवस्था को एक ढकोसला मानते हैं। उनका कहना है कि जिसे प्रजातंत्र कहा जाता है वहाँ कोई प्रजा है ही नहीं, और न ही तंत्र है जिसे प्रजा या जनता कहा जाता है वह प्रजा या जनता है ही नहीं, वह तो विशुद्ध रूप से शोषित-वंचित वर्ग है और यह तंत्र यानि यह व्यवस्था भी उनकी नहीं है क्योंकि यह व्यवस्था उनका शोषण करता है। अतः यहाँ हम देखते हैं कि जिस, प्रकार मार्क्सवाद में शोषक और शोषित, इन दो वर्गों के चरित्र को खुले ढंग से उजागर किया गया है ठीक वैसे ही धूमिल अपनी इस काव्यपंक्ति में इन दो वर्गों की बात करते हैं। डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय के शब्दानुसार- **“धूमिल की कविता में पूंजीवादी व्यवस्था और लोकतंत्र की पहचान है उससे स्पष्ट विरोध का बोध भी है और उसके खिलाफ संघर्ष करने की आकांक्षा भी है।”<sup>4</sup>**

कवि धूमिल मार्क्सवादी प्रगतिशील चेतना के कवि हैं। वे अपने मार्क्सवादी साहित्यिक मित्रों के संपर्क में सदैव रहते थे। उनके मार्क्सवादी विचारधारणा के आलोचकों में चंद्रवली सिंह, नामवर सिंह, काशीनाथ सिंह, हनुमान सिंह आदि सम्मिलित हैं जिनसे धूमिल हमेशा मार्क्सवादी विचारधारा पर चर्चा व बहस करते थे। वैसे धूमिल के अंदर मार्क्सवाद का बीज बचपन से ही पनप रहा था। कवि धूमिल बचपन से ही अपने पिता की तरह पूजा-

## शोधार्थी की कलम से

पाठ, भूत-प्रेत तथा धार्मिक पाखंड आदि पर कोई विश्वास नहीं करते थे। धूमिल की इस नास्तिक प्रवृत्ति को देखकर राजशेखर लिखते हैं—

**“बचपन का जिद्दी धूमिल जांत-पांत, भूत-प्रेत और धार्मिक अंधविश्वासों में अपनी अनास्था के कारण पिता की दृष्टि में बराबर नास्तिक रहा है।”**<sup>5</sup> मार्क्सवाद में धर्म को जनता के लिए अफीम की तरह मादक बताया गया है। चूंकि धूमिल के मन पर धर्म के प्रति पहले से जो थोड़ी-बहुत अनास्था थी वह मार्क्सवादी आलोचकों के संपर्क में आने के फलस्वरूप और अधिक विकसित हो गयी। अपनी कविता की एक पंक्ति में धूमिल कहते हैं—

**“भूतकालीन क्रियाओं से**

**घिरे हुए लोग**

**समय की अर्थी उठाये चले जा रहे हैं”**<sup>6</sup>

अतः धर्म किस प्रकार आदमी को मदांध बनाते हुए आदमी को आदमी के साथ लड़वाकर धार्मिक हिंसा पैदा कर समय की अर्थी उठाने के लिए लोगों को विवश करता है। इसी का जीवंत चित्रण धूमिल ने किया है। धूमिल यह समझते हैं कि पूंजीवाद धर्म को अपने स्वार्थ में कैसे उपयोग करता है इसलिए वे धर्म के क्षेत्र में फैली कुरीतियाँ, आडम्बरों, संप्रदायिकता, भाग्यवाद आदि का विरोध कर उसे अवैज्ञानिक तथा प्रतिक्रियावादी मानते हैं। राहुल के शब्दों में— **“अपनी मार्क्सवादी वैचारिकता के कारण धूमिल धर्म और ईश्वर में आस्था को अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी मानते थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म मार्ग पर भाग्यवाद हलाहल और अंधविश्वास को बढ़ावा देता है। इससे जनता में और दबूपन की भावना बढ़ती है। कार्ल मार्क्स ने धर्म को जनता के लिए अफीम की तरह मादक बताया था। प्रगतिवागदी कवियों ने भी उसे उसी दृष्टि में चित्रित किया है।”**<sup>7</sup> वस्तुतः धूमिल की आस्था मार्क्सवाद की ओर रही है। वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित

वर्ग-संघर्ष की हिमायत करते हैं और अपने काव्य में वर्ग-संघर्ष का सजीव चित्रण भी करते हैं। वर्ग संघर्ष का मूल उद्देश्य वर्गहीन समाज व्यवस्था की स्थापना है ताकि असमानता को दूर कर समानता की स्थापना की जाए। धूमिल भी इस असमानता को दूर करना चाहते हैं। इसलिए धूमिल पूँजीपति वर्ग के शोषण को और उनकी कुटिलताओं का खुले शब्दों में पूरी निर्भीकता के साथ पर्दाफाश करते हैं। भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था ने यहाँ के सर्वहारा वर्ग के लोगों का अत्यधिक दमन किया है। राकेश कुमार ने उचित ही कहा है— **“राजनीतिक तंत्र और सामाजिक दोनों पाटों के मध्य यह वर्ग असुरक्षित शोषित जीवन व्यतीत कर रहा है। इस वर्ग का व्यवस्थित और असभ्य ढंग से रक्तपान किया जाता है। निम्नवर्ग की क्रांति को शमित करने के लिए व्यवस्था इन्हें निरंतर झूठे आश्वासन देती है।”**<sup>8</sup> यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि झूठे वादे और विश्वास के फेर में सर्वहारा वर्ग अपना अधिकार तक खो बैठता है। धीरे-धीरे इस वर्ग में अपने शोषण व अन्याय के खिलाफ क्रांति की भावना जन्म लेती है परंतु दुर्भाग्यवश पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था द्वारा इसे दबा दिया जाता है। कवि धूमिल ने एक स्थान पर सच ही कहा है—

**“रक्तपात/कहीं नहीं होगा/सिर्फ एक पत्ती टूटेगी/एक**

**कंधा झुक जाएगा/फड़कती भुजाओं/और सिसकती हुई**

**आँखों को/एक सथ लालफीते में लपेट कर/रख देंगे**

**काले दराजों के निश्चल एकांत में”**<sup>9</sup>

शोषित जीवन से मुक्ति पाने के लिए सर्वहारा वर्ग सदैव संघर्ष करता है। अपने आपको अधिकारवंचित वर्ग से अधिकार सम्पन्न वर्ग बनाने के लिए वर्ग संघर्ष की तरफ बढ़ता है परंतु उनका यह संघर्ष न ही एकताबद्ध

## शोधार्थी की कलम से

है और न ही सामूहिकता के धरातल पर होता है क्योंकि वे सभी इस बात से अवगत हैं कि उनकी गर्दनें प्रभु वर्ग के पावों तले दबी हैं। तनिक भी इधर-उधर की तो उनकी गर्दनें कसाई की तरह मरोड़ दी जाएगी। उन्हें बुरी तरह कुचल दिया जाएगा। इस पूंजीवादी जनतांत्रिक देश में उनकी इस विवशता को इंगित करते हुए धूमिल ने कहा है—

**“यहां एक ऐसा जनतंत्र है**

**जिसमें जिंदा रहने के लिए**

**घोड़े और घास को एक जैसी छूट है।”<sup>10</sup>**

इन पंक्तियों में कवि धूमिल ‘घोड़ा’ और ‘घास’ जैसे नवीन प्रतीकों के माध्यम से पूंजीवादी जनतंत्र के वास्तविक मुखौटे का पर्दाफाश करते हैं। यहाँ घोड़ा-प्रभु वर्ग अर्थात् शोषक वर्ग का प्रतीक है और घास से तात्पर्य वंचित वर्ग यानि शोषित आम सादारण जनता से है। इस देश में ऐसा जनतंत्र है जहां शोषक और शोषित वर्ग को एक जैसी छूट है। शोषक वर्ग को जहां शोषण करने की छूट है वही शोषित वर्ग को शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में रहने की छूट है। समानता के नाम पर ऐसे तमाम लोगों को एक साथ खड़ा कर दिया गया है जो सदियों से शोषक रहे और जो सदियों तक शोषित रहे हैं। इसी तरह और प्रतीकात्मक बिम्ब लेकर धूमिल कहते हैं—

**“लोहे का स्वाद/लोहार से मत पूछो**

**उस घोड़े से पूछो/जिसके मुँह में लगाम है।”<sup>11</sup>**

उपयुक्त पंक्ति का सटीक विश्लेषण कर राकेश कुमार ने लिखा है— **“आज निम्न वर्ग के मुँह में आर्थिक शोषण की लगाम है।”<sup>12</sup>** जिस प्रकार मार्क्सवाद में पूंजीवादी बुर्जुआ लोकतंत्र को एक झूठा लोकतंत्र माना जाता है क्योंकि इस लोकतंत्र में वास्तविक राजनीतिक शक्ति और वास्तविक आर्थिक शक्ति समाज के एक इकाई वर्ग के पास निहित होती है। उसी तरह धूमिल भी अपने देश के लोकतंत्र को एक ढकोसला मानते हैं तथा

आजादी पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हैं उनका मानना है कि हमारे यहाँ आजादी का अर्थ यह है कि औपनिवेशिक प्रभु वर्ग ने भारतीय प्रभु वर्ग को अपनी सत्ता सौंपा है। इसलिए वे **‘पटकथा’** कविता में कहते हैं—

**“कुर्सीयाँ वही है**

**टोपियाँ बदल गईं”<sup>13</sup>**

अर्थात् गोरे चले गए, उनकी जगह काले आ गए किन्तु व्यवस्था वही है केवल नेता और सरकार बदले हैं अतः जब तक व्यवस्था में बदलाव नहीं होगा, तबतक समाज और देश में बदलाव नहीं होगा। मार्क्स और लेनिन दोनों ने ही पूंजीवादी जनतंत्र की संसदीय व्यवस्था की घनघोर आलोचना की है। मार्क्स ने जहां संसद को बुर्जुआ राजनीतिज्ञों का वेश्यालय कहा, तो वही लेनिन ने सुअर का खोहार कहा है। वस्तुतः धूमिल, मार्क्स और लेनिन के इस विचार से पूरी तरह सहमत है इसलिए उन्होंने भी अपनी बहुचर्चित छोटी कविता **‘रोटी और संसद’** में पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था की व्यंग्यात्मक ढंग से तीखी आलोचना की है—

**एक आदमी**

**रोटी बेलता है**

**एक आदमी रोटी खाता है**

**एक तीसरा आदमी भी है**

**जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है**

**वह सिर्फ रोटी से खेलता है**

**मैं पूछता हूँ—**

**‘यह तीसरा आदमी कौन है ?**

**मेरे देश की संसद मौन है।’<sup>14</sup>**

प्रस्तुत कविता में **‘आदमी’** शब्द का प्रयोग तीन रूपों में किया गया है एक श्रमिक वर्ग है जो उत्पादन करता है अर्थात् रोटी बेलता है दूसरा प्रभु वर्ग है जो श्रम से पैदा हुए उत्पादन का उपभोग करता है अर्थात् रोटी खाता है और तीसरा, जो वर्ग है वह न तो श्रम करता है न ही श्रम का उपभोग करता है वह केवल श्रम से उत्पादित वस्तुओं



## शोधार्थी की कलम से

के साथ अर्थात् रोटी के साथ खेलता है। यह तीसरा वर्ग या आदमी न तो श्रमिक वर्ग है और न ही प्रभु वर्ग या पूंजीपति है यह तीसरा वर्ग या आदमी मूलतः हमारे देश के राजनेता है जिनके हाथों में राजनीतिक सत्ता की बागडोर है। अतः कवि ने उस तीसरे आदमी यानि हमारे देश की संसदीय व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

**“अपने यहाँ संसद तेली की वह घानी है  
जिसमें आधा तेल है,  
और आधा पानी है”<sup>15</sup>**

अर्थात् संसद में आधा सच और आधा झूठ चलता है। वस्तुतः धूमिल एक ऐसी व्यवस्था या प्रजातंत्र की तलाश करते हैं जो शोषणमुक्त हो। जहाँ असमानता, अत्याचार, गरीबी, भुखमरी, आभाव, दुख-कष्ट आदि न रहे अर्थात् वह मार्क्सवाद की तरह ही एक स्वस्थ वर्गमुक्त समाजव्यवस्था की कल्पना करते हैं। इसलिए वे अपनी चर्चित कविता ‘नक्सलवाड़ी’ में कहते हैं—

**“मुझे अपनी कविताओं के लिए  
दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है”<sup>16</sup>**

स्पष्ट है कि यहाँ ‘दूसरे प्रजातन्त्र’ से अभिप्राय एक नई जनवादी और समाजवादी व्यवस्था से है जो न्यायप्रिय हो, उन्नत हो, उज्ज्वल हो तथा सुखी व सुंदर हो। जहाँ मनुष्य के प्रति मनुष्य का कोई राग-द्वेष न रहे। यही धूमिल का सपना है। अपने सपने को साकार रूप देने की आशा में उन्होंने अपनी मशहूर कविता ‘पटकथा’ में एक स्थान पर कहा है—

**‘जो मैं चाहता हूँ...**

**वही होगा। आज नहीं तो कल  
मगर, सब कुछ सही होगा।’<sup>17</sup>**

यदि धूमिल की इन उपर्युक्त पंक्तियों पर विचार किया जाए तो इन पंक्तियों का मूल भाव है कि ‘**एक दिन सब कुछ सही हो जाएगा**’ आखिर यह विश्वास धूमिल को कैसे आता है कि ‘**एक दिन सब कुछ सही हो**

**जाएगा।’** इस विश्वास के पीछे का दर्शन मार्क्सवाद है क्योंकि मार्क्सवाद प्रकृति के वस्तुगत नियम को और उसमें होने वाले बदलाव को ठीक से समझता है। उसका मानना है कि संसार की प्रत्येक वस्तु गतिशील है वह स्थायी नहीं। इसलिए यह वर्ग व्यवस्था भी स्थायी नहीं रहेगी और अंततः एक नयी वर्गहीन व्यवस्था का जन्म होगा। यही प्रकृति व इतिहास की वस्तुगत सच्चाई है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। धूमिल मार्क्सवाद के अपने इसी समझ के कारण अपनी उपर्युक्त पंक्तियाँ पूरे विश्वास के साथ कहते हैं।

धूमिल अपनी बहुपठित कविता ‘मोचीराम’ में समतावादी दृष्टि का परिचय देते हुए वर्गहीन समाज का समर्थन करते हैं। मोचीराम के माध्यम से कवि धूमिल कहते हैं—

**“बाबूजी! सच कहूँ— मेरी निगाह में  
न कोई छोटा है  
न कोई बड़ा है  
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है  
जो मेरे सामने  
मरम्मत के लिए खड़ा है”<sup>18</sup>**

प्रस्तुत काव्य पंक्ति में ‘मोचीराम’ मुख्य पात्र है जिसकी दृष्टि में कोई छोटा या बड़ा नहीं है वह सबको एक समान मानता है। वह जाति, धर्म, अमीर, गरीब कुछ भी नहीं देखता। केवल आदमी देखता है और अपने कर्म पर बल देता है। अतः हम देखते हैं कि कैसे कवि ने मोचीराम जैसे एक सामान्य पात्र के माध्यम से हमारे मन में एक वैचारिक क्रांति पैदा कर दी और हमारे अंदर ऊँच-नीच, भेदभाव की मानसिकता को खत्म कर मानवता की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। कवि की इस समतावादी दृष्टि के पीछे निश्चित रूप से मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है।

**निष्कर्ष :** उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि निश्चय ही धूमिल मार्क्सवादी चिंतन के

## शोधार्थी की कलम से

कवि थे, किन्तु हर चीज को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने के न तो वे आदि थे और न ही मार्क्सवादी कीड़ा उनकी सोच में विद्यमान था। धूमिल तो मार्क्सवादी विचारधारा की कुछ बातों को अवश्य पसंद करते थे मगर वे कभी भी मार्क्सवाद के प्रचारक नहीं रहे। पटना युवा लेखन सम्मेलन में उन्होंने जोर देकर कहा- **“मैं मार्क्सवाद का रसोईया नहीं हूँ। अपनी रचनाओं में मार्क्सवाद का छौंका लगाने**

**का आग्रह मुझ से मत करो।”**<sup>19</sup> इसलिए साहित्य का कोई अध्येता या पाठक उन्हें मार्क्सवादी कवि कहने की भूल नहीं कर सकता क्योंकि किसी वाद से प्रभावित होना एक बात है और वादी हो जाना दूसरी बात है। अंततः हम कह सकते हैं कि उनकी कविताओं पर पड़े विभिन्न वैचारिक प्रभाव में से एक विशिष्ट प्रभाव मार्क्सवाद का है जिसे अस्वीकार बिल्कुल नहीं किया जा सकता।

### सन्दर्भ सूची

1. रामविलास शर्मा, मार्क्स त्रोट्सकी और एशियाई समाज-लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-211001, संस्करण-2007, पृष्ठ सं० - 153
2. उपाध्याय डॉ० विश्वम्भरनाथ, समकालीन मार्क्सवाद -पंचशील प्रकाशन, जयपुर-302003
3. धूमिल समग्र (खंड-1)- डॉ० रत्नशंकर पाण्डेय, पृष्ठ - 186
4. मैनेजर पाण्डेय-शब्द और कर्म, पृष्ठ - 84
5. राजशेखर, भूमिका-कल सुनना मुझे, पृष्ठ - 11
6. कल सुनना मुझे (मरणोत्तर धूमिल एक कथा यात्रा-राजशेखर), पृष्ठ - 8
7. राहुल-विपक्ष का कवि धूमिल, पृष्ठ - 101
8. राकेश कुमार - धूमिल की काव्य चेतना-विविध आयाम, पृष्ठ - 53
9. धूमिल-संसद से सड़क तक, पृष्ठ - 11
10. वही, पृष्ठ - 105
11. वही, पृष्ठ - 80
12. राकेश कुमार - धूमिल की काव्य चेतना-विविध आयाम, पृष्ठ - 53
13. धूमिल समग्र (खंड-1), डॉ० रत्नशंकर पाण्डेय, पृष्ठ - 135
14. वही, पृष्ठ - 156-57
15. वही, पृष्ठ - 138
16. वही, पृष्ठ - 89
17. वही, पृष्ठ - 116
18. वही, पृष्ठ - 66-67
19. डॉ० अरुण कुमार पांडेय - धूमिल की रचना प्रक्रिया और भाषा, पृष्ठ - 13

**सहलेखक / शोध-निर्देशक :** डॉ० विनोद कुमार मंगलम्  
वरिष्ठ प्राध्यापक, हिंदी विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना  
**संपर्क:** ग्राम : ग्यासपुर, थाना - सिसवन, जिला - सिवान, बिहार - 841210  
ई-मेल : gk7246325@gmail.com, मो० : 9330971495

## नई और पुरानी पीढ़ी का द्वंद्व (माई उपन्यास के विशेष संदर्भ में)

- कंचन रजक

इक्कसवीं सदी के प्रथम दशक में समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में जिन महिला कथाकारों ने अपनी अलग पहचान बनाई है, उनमें गीतांजलि श्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य की अप्रतिम रचनाकार गीतांजलि श्री ने अपनी सृजनात्मकता द्वारा कथा-साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान अर्जित किया है। उनका समस्त साहित्य जनसामान्य के बुनियादी अधिकारों के साथ-साथ स्त्री अधिकारों के सवाल को प्रमुखता से उठाता है।

गीतांजलि श्री के कथा-साहित्य का कथ्य एवं शिल्प दोनों ही पक्ष समुन्नत हैं। वे बेवाकी से अपनी बात कहती और लिखती हैं। अपने लेखन में उन्होंने किसी भी प्रकार के पारंपरिक विचारों को प्रश्रय नहीं दिया है। कहना न होगा, उनके लेखन में जनपक्षधर, मुक्तिकामी विचारधारा के आधार पर हाशियाई समाज के जीवन संघर्षों की अभिव्यक्ति मिलती है। यह भी उल्लेखनीय है कि गीतांजलि श्री सामाजिक प्रश्नों को प्रमुखता देते हुए व्यक्ति के अंतर्जगत, मनोभावों को बहुत सूक्ष्मता से पकड़ती हैं। उन्होंने सामाजिक सत्ता और व्यक्ति सत्ता को एक-दूसरे के विलोम के रूप में खड़ा करने की बजाए उनकी अर्थवत्ता को समझाने का प्रयास किया है। यही कारण है कि उनके कथा-साहित्य में स्त्री-जीवन तथा मध्यमवर्गीय समाज के जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक आयामों का सूक्ष्म चित्रण संभव हो सका है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उनके साहित्य में बदलते समय और समाज का प्रामाणिक चित्रण उपस्थित है।

गीतांजलि श्री हिंदी भाषा के साथ-साथ कई अन्य भाषाओं में भी समान रूप से अधिकार रखती हैं। बतौर पाठक व समीक्षक उनकी आवाजाही अन्य भाषाओं में तो होती ही रहती है, उनके लेखन का अनुवाद अंग्रेजी फ्रेंच आदि भाषाओं में भी हुआ है। उनकी वैश्विक ख्याति का यह भी एक कारण है।

गीतांजलि श्री की पहली रचना का प्रकाशन अस्सी के दशक में सन 1987 में हुआ। सर्वविदित है कि यह समय भारत और संपूर्ण विश्व के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। भूमंडलीकरण की ओट में नव-पूँजीवाद का उदय हुआ। भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अबाध प्रवेश होने लगा। इसके साथ ही पश्चिम की पतनोन्मुख संस्कृति का भी प्रवेश होने लगा। यहाँ के व्यापक जनसमाज की जीवन दृष्टि यूरोप केंद्रित होने लगी। साहित्य में अकेलापन और त्रासदी की अनुभूति का आधुनिकतावाद के साथ आगमन हुआ। गीतांजलि श्री की सृजन-भूमि इन्हीं राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच स्थित है। गीतांजलि श्री के पात्रों में आज की बदलती मानसिकता, परिवेश, आधुनिकता-वाद का प्रभाव प्रमुखता से दिखाई देता है। खासकर स्त्री पात्र के जीवन के विभिन्न पहलुओं को उन्होंने केंद्रीयता प्रदान की है। उनके स्त्री पात्र अपने जीवन-संघर्ष से जूझते हैं, लेकिन हार नहीं मानते। अपने जीवन को नए अर्थ देने के प्रयास में उनके स्त्री पात्र निरंतर संघर्ष करते हैं और नई चेतना से लैस होकर अपने लक्ष्य

को पा लेती हैं। गीतांजलि श्री ने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से समकालीन परिस्थितियों का सटीक चित्रण किया है। इन्होंने सांप्रदायिक घटना, पारिवारिक समस्या, मानवीय संवेदना, मध्य वर्ग की त्रासदी का प्रभावशाली चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त उनके कथा-संसार में स्त्री-पुरुष के बीच के संबंध, वृद्धावस्था की विवशताएँ, अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हैं और संघर्ष करते हुए आगे बढ़कर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाती स्त्री, पारंपरिक रूढ़िवादी छवियों को तोड़ती हुई स्त्री, जो घर के चार दिवारी से निकलकर देश-दुनिया से जुड़ने वाली स्त्रियों का जीवन बहुत ही सहजता से अभिव्यक्त हुआ है। गीतांजलि श्री की रचनाओं में पाँच उपन्यास और पाँच कहानी संग्रह हैं। 'माई', 'हमारा शहर उस बरस', 'तिरोहित', 'खाली जगह', 'रैत-समाधि' आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। हाल ही में 'रैत-समाधि' के अंग्रेजी अनुवाद 'टूम्ब ऑफ सैंड' को अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है।

गीतांजलि श्री का 'माई' उपन्यास सन 1993 ई० में प्रकाशित हुआ, जो बहुत चर्चित उपन्यास रहा है। 'माई' उपन्यास को 2002 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। 'माई' उपन्यास की पृष्ठभूमि उत्तर प्रदेश के किसी छोटे शहर की बड़ी-सी डचोढ़ी में बसे परिवार की कहानी है। कवर पेज में संकेत है कि "कहानी तो एक बहाना है। बड़ी-बड़ी कहानियों तक ले जाने का। माई में हर बात किसी संकेत से होती है और हर संकेत के आगे-पीछे भरी पूरी कहानी का आभास होता है।"<sup>1</sup> 'माई' उपन्यास में मध्यवर्गीय जमींदार परिवार की कहानी है, जो आजादी के बाद भी जमींदारी मूल्य के साथ जी रहा है। उपन्यास में संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियों के बीच पारस्परिक और असंतोष, विचारों एवं मूल्य की टकराहट, अतीत को वर्तमान में समेट लेने की आतुरता, नई पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी से मतभेद, आदि को दिखाया गया है। नई पीढ़ी की बेटी पुरानी पीढ़ी की माई को अपनी स्मृति के सहारे जीवित करती है। जहाँ माई का स्वानुशासन, सहिष्णुता और समर्पण से परे उसके

अंतर्मन को समझने की कोशिश की गई है।

'माई' उपन्यास की केंद्र बिंदु माई है। इसके माध्यम से संसार के सभी माई को समझने की कथा कही गई है, जो प्रायः हर मध्यवर्गीय स्त्री की कहानी है। माई शक्ति और संघर्ष का प्रतीक है। माई जो मौन और हमेशा झुकी रहती है। माई के चारों तरफ घूमता पूरा परिवार होता है। सब की सुख-सुविधाओं की ध्यान रखने वाली माई, जहाँ बाहर हुकुम चलाते जमींदार सोच के दादा, पुरुष वर्चस्व को मानने वाली अंदर राज करती हुई दादी। दादी के दुलारे और दादा से कतराने वाले पिता। परंपरा को छोड़ कर आधुनिकता को अपनाने वाले नई विचारधारा के सुबोध और सुनैना। जड़ों न्यूरोसिस की हद तक माई को चाहते हैं, जो माई को केवल बेचारी भर मानते हैं। माई को डचोढ़ी से बाहर निकाल देश-विदेश की भ्रमण और नई सोच के साथ ढालने की कोशिश करता है।

माई को परंपरा में रहना पसंद है। माई जो झुक-झुक कर घर का सारा काम करती और कम बोलती। डचोढ़ी के सारे धागों को समेटती-सुलझाती घूमती रहती। घर के सभी सदस्यों के सुख-सुविधाओं का ख्याल रखती। माई के लगातार झुके रहने के कारण माई की रीढ़ की हड्डी कमजोर हो चुकी थी। सुनैना कहती— "उसकी रीढ़ की हड्डी ही जब जवाब दे चुकी थी, डॉक्टर तक ने जवाब दे डाला कि अब दर्द होगा ही होगा। हम तो शुरू से ही जानते थे उसकी रीढ़ की हड्डियों के बारे में वह तो बाद में...।"<sup>2</sup>

डचोढ़ी में रहकर ही माई अपने आप को अस्तित्व में बनाए रखना चाहती है। सुनैना चाहती है कि माई डचोढ़ी से बाहर निकले, बाहर की दुनिया को देखे। सुनैना कहती है— "हमारी दोनों की एक ही धुन है कि माई को यहाँ से निकाल ले जाएंगे। पता नहीं कब से हमने यह ठाना था कि माई का जीवन खासकर उसका भविष्य हमारा है।"<sup>3</sup> सुनैना और सुबोध डचोढ़ी से विलायत तक का सफर तय कर चुके। माई को भी विलायत ले जाना चाहते थे। माई अपने आप को डचोढ़ी में ही समेटकर रखना चाहती थी। माई के जीवन में बिखराव

भी है, पिता के अन्य स्त्रियों के साथ संबंध रखना माई को अंदर तक अकेली कर देती है। सुनैना चाहती है कि माई कुछ बोले, अपने हक की लड़ाई खुद लड़े, लेकिन माई के लिए चुप्पी ही उसका हथियार है। माई अपने दुख को बाहर अभिव्यक्त नहीं होने देती। दादा-दादी के चल बसने के बाद घरों में भौतिक चीजों का आना अनिवार्य हो गया था। पिता जी अब घरों में अपने दोस्तों को भी लाने लगे थे। जिसके खाने-पीने, चाय-नाश्ता का सारा बंदोबस्त माई ही करती थी। सुनैना को माई का इस तरह से दूसरों के सुख-सुविधा का ध्यान रखना उसे बिलकुल भी पसंद नहीं। माई खुद के लिए जिए यही चाहती थी, सुनैना माई को समझना चाहती है। लेकिन, माई का यह जवाब रहता है— “हमने पूछा। तो चिढ़ भी गई। माई तुम समझती क्यों नहीं, मुझे मजा आता है, घर की चीजें हैं, सबको अच्छी लगती हैं, या न करूँ तो क्या स्कूल कॉलेज जाऊँगी?”<sup>4</sup> सच में नई पीढ़ी सभी कामों में समानता लाना चाहती है। उसके मन में प्रश्न उठते हैं कि क्यों घर के सारे काम माई ही करें?

बच्चों के भविष्य को संवारने में सबसे अधिक भूमिका माँ का ही होती है। माँ के त्याग और बलिदान से ही बच्चों के भविष्य बनते हैं। लेखिका इस उपन्यास में कहती है कि— “असर था मुझ पर माई का। पीढ़ियों की सारी माईयों का जिन्होंने दूसरों के लिए सहकर, उन्हें सफलता दिला के, वही अपनी सफलता जानी।”<sup>5</sup> माई की कोई इच्छा और आकांक्षा नहीं थी। वह अपने बच्चों की इच्छा और आकांक्षा को महत्व देती थी। लेखिका ने माई उपन्यास के माध्यम से संसार के सभी माई की अंतर्मन कथा कही है, जो हर मध्यवर्गीय स्त्री की कहानी है। माई घर परिवार की सेवा करना ही परम धर्म मानती है। जीवन की बहार के अनेक रंगों से माई कोई वास्ता रखना नहीं चाहती थी। सुनैना और सुबोध चाहते हैं माई खुद में बदलाव लाए, लेकिन माई खुद में कोई बदलाव नहीं लाना चाहती है। माई सुनैना से कहती है— “तुमसे तो नहीं कहते हमारे जैसे बनो, तुम क्यों जबरदस्ती हमें बदलना चाहते हो? हमारी दीवार रेत की भित्ति पर खड़ी

होगी, खुद ही टूट जाएगी, तुम क्यों लात जमते हो।”<sup>6</sup>

पिता जो साधु-संतों, ज्योतिषियों के चक्कर में, सामंतवादी दकियानुसी सिद्धांतों को मानते थे माई को अज्ञानी भी कहते थे। तो कभी माई को अपने दोस्तों के बीच क्लब में अनपढ़ बताते थे। पिता के द्वारा माँ के लिए इस प्रकार का संबोधन मिलना सुनैना और सुबोध को वेदना भरा प्रतीत होता था। सुनैना अपने पिता जी से भड़ककर बोलती है— “आप तो पढ़-लिखकर अज्ञानी, अंधविश्वासी हैं। और अंग्रेजी में ठोक दिया यू टॉक लाइक अ फूलिश इलिटरेट।”<sup>7</sup> पिता जी का इस प्रकार से अपमान करना माई को बिलकुल भी पसंद नहीं आया। माई ने सुनैना को ही डाँट दिया— “अंग्रेजी में अटर पटर कुछ भी कहने की छूट मिल गई है क्या। अपने पिता की इज्जत नहीं कर सकते हो तो यहाँ आने की कोई जरूरत नहीं। रहो इंग्लैंड में या जहाँ भी चाहो।”<sup>8</sup> सुनैना और सुबोध को एहसास होने लगा कि माई अपने बेड़ियों से खुद ही बंधे रहना चाहती है। माई हमेशा अपने बच्चों के लिए मध्यस्थ की भूमिका में रहती है।

नई पीढ़ी की सुनैना और सुबोध माई को नई चाल में ढालने की कोशिश करते हैं। सुनैना चाहती है कि माई बोले, अपने अनुसार जीवन जीए लेकिन, माई को पुराने परंपरा में कैद रहने में सुकून मिलता। सुबोध पढ़-लिखकर डचोढ़ी से निकल शहर जाता है। शहर से विदेश तक पहुँचता है। सुबोध, सुनैना को भी डचोढ़ी से बाहर निकाल विलायत तक का सफर तय करवाता है। सुबोध, सुनैना की शिक्षा को लेकर बहुत गंभीर रहता है, वह चाहता है कि सुनैना का जीवन माई की तरह न हो। सुबोध और सुनैना चाहते हैं कि अब माई भी डचोढ़ी से बाहर निकले, आजाद जीवन जिए, लेकिन डचोढ़ी ही उसकी विलायत थी। माई का इस तरह रहना बच्चों को पसंद नहीं आता। उनके नजर में माई बेचारी, लाचार-सी है, वह उन्हें मुक्ति दिलाना चाहते हैं। माई के आदर्शों को नहीं समझ पाता है आज की पीढ़ी। माई के लिए डचोढ़ी की रीति रिवाज, नीति-मूल्य, आजादी से कहीं ज्यादा जरूरी लगता है। माई के व्यक्तित्व को समझ पाना कठिन था,

इसलिए सुबोध माँ के व्यक्तित्व को समझ ही नहीं पाता है। अंत में सुनैना माई के आदर्श और त्याग को समझती है— “यह धुँआ था, आग का, माई की आग का... चिंगारियाँ अब भी सुलग रही थी, राख भी झर रही थी और जिसके धिरे हुए कुहासे में एक सिर था, एक धड़ था, जो माई ने भूल से फेंक दिए थे, जिन्हें खोजना था, जी-जी के, मर-मर के, कि कभी तो मिलेंगे और तब तो सिर धड़ पर लगा ही पाऊँगी।”<sup>9</sup>

सुनैना को गढ़ने में माई की पूरी भूमिका होती है। सुनैना को ऊँचाई तक पहुँचाने में माई हर वक्त एक सीढ़ी के समान काम करती है। सुनैना आगे की पढ़ाई के लिए शहर जाना चाहती है, वह अपने भाई के जैसे अंग्रेजी शिक्षा पाने की इच्छा रखती है। दादा उसके शहर जाकर पढ़ने के सख्त विरोध में हैं। माई को सुनैना को समझाने के लिए कहा जाता है, पर माई अपनी लड़की की इच्छा को दबाना नहीं चाहती, वह नहीं चाहती कि मेरी बेटी भी मुझ जैसे सामान जीवन व्यतीत करे। सुनैना के पिता माई पर दबाव डाल रहे थे, पर माई न उन्हें कुछ कहती न ही सुनैना को जाने से रोकती है। उसका मन एक तरह का सुनैना के जाने की मौन स्वीकृति ही थी। माई घर के परंपरा के विरुद्ध जाकर सुनैना को विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए मंजूरी देती है। माई हर वक्त सुनैना के भविष्य को तैयार करने में जुटी हुई रहती थी। सही अर्थ में हर माँ अपने बेटी के लिए मार्गदर्शक होती है। सुनैना के लिए माई ही मार्गदर्शक थी। माई की डोर सुनैना की डोर से जुड़ी हुई थी। सुनैना कहती है— “माई ने बचपन से हमें गड्ढे से निकलने के लिए उसमें सीढ़ी लटकाई थी, वह सीढ़ी जिस पर चढ़कर मैं उस तरफ पहुँच जाऊँगी। इस पर चढ़ती रहूँगी तब तक...”<sup>10</sup>

माई पुरानी रीति-रिवाज, रीति मूल्यों को मानती थी, लेकिन सुनैना और सुबोध को कभी भी यह परंपरा और रीति रिवाज अपनाने के लिए दबाव नहीं डाली। माई स्वयं पुरानी रीति-रिवाज, रीति-मूल्यों को अपनाते हुए, नई पीढ़ी के आधुनिक विचारधारा को सहज स्वीकार भी करती थी। यही कारण है कि माई सुबोध की म्लेच्छ

मंगेतर की आरती उतारी और सुनैना के लड़के दोस्त विक्रम को ड्योढ़ी में रहने देती है। माई के इस आधुनिक विचारधारा के कारण लेखिका कहती है— “माई कभी बापू की तरह सुबोध की पत्नी को शराब-सिगरेट पीने की वजह से चरित्रहीन नहीं कह पाई।”<sup>11</sup> मध्यवर्गीय परिवार की यह विशेषता रही है कि पिता ही घर के सारे फैसले करेंगे। माँ के फैसले का कोई महत्व नहीं रहता। माई कभी भी कुछ देखकर फैसला नहीं लेती थी। माई अपने बच्चों को हर परत-दर-परत खुलते देखती थी। जिस परत में माई अच्छी लगता थी वहीं प्यार, ममता छलकाती थी। माई का अटल विश्वास था अपने बच्चों पर। वही उपन्यास में दादा-दादी की परंपरा और रूढ़ी सोच को दर्शाया जाता है। सुनैना जब बड़ी हो रही थी तो कपड़े पहनने, उठने-बैठने की अनुशासन दी जाती थी। दादा को सुनैना का फ्रॉक और पैट-शर्ट आदि पश्चिमी लिबास पहनना पसंद नहीं था। पहली पीढ़ी की दादी गुस्सा से जवान होती सुनैना से कहती है— “ठीक से बैइठ, का बेहया जइसन गोड़ खोल के बइठल बाड़े?” वहीं तख्त पर लेट जाती तो फौरन दादी अपनी चादर से ढाँप देती। सीख उल्लू, आदमी का नजर गिद्ध जइसन होला, खुले में ऐसा मत रहु... अऊरी भेज अंग्रेजी इस्कूल में।”<sup>12</sup>

लेखिका मौन की भाषा का प्रयोग करते हुए संकेत में न जाने कितने ऐसे जीवंत प्रसंग इस उपन्यास में उकेर देती हैं, जो आज भी यथार्थ के रूप में हम मध्यवर्गीय परिवार में देख सकते हैं। जहाँ तीन पीढ़ियाँ एक साथ हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं। दादी की रोक-टोक, नीति-मूल्य तो माई तक ही सीमित रह जाती है। तीसरी पीढ़ी यह नीति-मूल्य को अपनाना ही नहीं चाहती है। वह आज के आधुनिक बदलते परिवेश में अपना भविष्य तलाशते हैं। यही कारण है कि सुनैना माई के त्याग, समर्पण, प्यार और जिम्मेदारी को बहुत देर से समझती है। माई की कमियाँ और सचाई को अपने अस्तित्व में खोजने की तलाश करती है। अंत में सुनैना माई के बलिदान को याद करते हुए समझ गई कि वह माई की



## शोधार्थी की कलम से

तरह कभी बन ही नहीं सकती है। माई की चुप्पी ही उनकी ताकत थी। नम्रता और उदारता ही माई की असली पहचान थी। फिर भी सुनैना अपने अस्तित्व में माई की झलक पाती है, लेकिन कहीं न कहीं माई के जैसी नहीं बन पाती है। क्योंकि, माई के त्याग का इतिहास बोझिल है। माई की नम्रता और उदारता सुनैना को अपराध सा लगता है। लेखिका भावी पीढ़ी की विचारधारा को सुनैना के माध्यम से कहती है— “मुझे माई नहीं बनना, माई-वाई वैसे भी नहीं बनेंगी, माई खुद मुझसे माई नहीं बनती, मैं चाहूँ भी तो माई नहीं बन सकती।”<sup>13</sup>

माई उपन्यास पीढ़ी-दर-पीढ़ी की उभरती हुई विचारधारा का गुथा हुआ संगम है, जहाँ पुरानी पीढ़ी के नैतिक मूल्यों को भावी पीढ़ी अपने जीवन में दरकिनार करती है। वहीं वे कहीं-न-कहीं अपने दादा-दादी, माता-पिता के जीवन से प्रभावित भी होते हैं। पुरानी पीढ़ी ही वह घोषाल है, जहाँ नई पीढ़ी ज्यादा सुरक्षित महसूस करती है। नई पीढ़ी नैतिक मूल्यों, जिम्मेदारी का एहसास कहीं-न-कहीं पुरानी पीढ़ी से प्राप्त करती है। पुरानी

पीढ़ी के द्वारा दिए गए संस्कार नई पीढ़ी के लिए वरदान सा है। यह उपन्यास माँ की घरेलू जीवन की अनुभूतियों, रोजमर्रा के जीवन के हर गतिविधियों को सूक्ष्म रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। वहीं दूसरी तरफ इस उपन्यास में नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच के द्वंद्व को भी दर्शाती हैं। माई उपन्यास में माँ और बेटी के बीच के आत्मीय संबंध को भी देख सकते हैं। बेटी जो हमेशा माँ की छाया ही बनती है। यहाँ कारण है कि सुनैना माई के संघर्ष, उसके त्याग को अपने लिए सबसे बड़ी बलिदान समझती है। माई उपन्यास नई और पुरानी पीढ़ी के बीच के विश्वास, जुड़ाव, विचार, मतभेद आदि को सूक्ष्म दृष्टि के पक्ष में एक संवेदनशील बयान है। पूर्ववर्ती पीढ़ी से टकराहट सहज बात है, वह नवाचारों के कारण हो सकता है। परंतु अलगाव की त्रासद स्थिति उत्पन्न न हो, उस दिशा में यह कृति जरूर कुछ प्रकाश डालती है। इसी नाते यह कृति वर्तमान युगीन की कई परिस्थितियों को संबोधित करते हुए परिवर्तन के संकेत भी प्रदान करती है।

### सन्दर्भ सूची

1. गीतांजलि श्री, माई, संस्करण-1993, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2. वहीं, पृष्ठ - 14
3. वहीं, पृष्ठ - 41
4. वहीं, पृष्ठ - 68
5. वहीं, पृष्ठ - 63
6. वहीं, पृष्ठ - 102-103
7. वहीं, पृष्ठ - 103
8. वहीं, पृष्ठ - 103
9. वहीं, पृष्ठ - 168
10. वहीं, पृष्ठ - 168
11. वहीं, पृष्ठ - 46
12. वहीं, पृष्ठ - 46-47
13. वहीं, पृष्ठ - 167

**संपर्क:** विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, मो० : 9123095399

## चलो मजाक कर लें

- हरिशंकर राढ़ी

गलती से किसी विद्वान को पढ़ते हुए एक वाक्य टकराया- जब स्थिति ज्यादा दुखद हो जाए तो थोड़ा हँस लेना चाहिए, थोड़ा मजाक कर लेना चाहिए। मैं स्तब्ध रह गया। एक बार तो संदेह हुआ कि यह कटुक्ति वाकई किसी विद्वान की है या मसखरे की। खैर, मसखरा भी किसी विद्वान से कम नहीं होता और विद्वान क्या जो अपने विचारों से स्तब्ध न कर दे! प्लैशबैक हुआ। तो क्या जब-जब मैं हँस रहा था या मजाक कर रहा था तो स्थिति दुखद थी? विद्वान को पढ़ना छोड़ दिया और बिना आदत के सोचने लगा। फिर तो आज की स्थिति देखें तो हमें बस मजाक में उतर जाना चाहिए। लेकिन, एक आम आदमी के मजाक और हँसी से क्या फर्क पड़ने वाला? अभी तो सारे बड़े-बड़े लोग मजाक में लगे हुए हैं। उनके मजाक का स्तर भी ऊँचा है। वे संविधान से, न्याय से, न्याय पालिका से, साहित्य से, संगीत से, फिल्मों से और गरीबों के जीवन से मजाक कर ले रहे हैं। जहाँ वे मजाक करते-करते पहुँच जाते हैं, वहाँ तो आम आदमी सारा जीवन रोते-रोते भी नहीं पहुँच सकता।

उनका मजाक चारों तरफ बड़ी संजीदगी से चल रहा है। हर बार जीतने के बाद वे शपथ ग्रहण करते हैं। यानी संविधान की कसमें खाते हैं। पहले वाली शपथ तब तक एक्सपायर हो गई होती है। कोई शपथ आजीवन प्रभावशाली नहीं रह गई है। उसका असर समाप्त हो गया होता है। मजाक में खाई गई चीज का असर इतना ही होता है। पान-गुटका, खैनी-तंबाकू बार-बार खाना पड़ता है। खाने के बाद उसका सत्त निचोड़कर बाकी थूक दिया जाता है। उन्होंने भी सत्त निचोड़ लिया है, शपथ थूक दी है। नई जीत के बाद नई शपथ खानी पड़ रही है। शपथ ग्रहण करने के बाद कैसा भी मजाक किया जाए, वह प्रश्नों के दायरे के बाहर हो जाता है।

मजाक अकेले में नहीं होता। उसके लिए दर्शक चाहिए, मजमा चाहिए। शपथ ग्रहण में भी जलसा होता है, मजमा लगता है। बहुतेरी संस्थाएँ भी शपथ ग्रहण का मजाक आजमाने लगी हैं। जब-तब इसका आयोजन हो जाता है। आयोजन के लिए किसी अच्छे दिन या मुहूर्त की आवश्यकता होती है। गांधी जयंती तमाम प्रकार के शपथ ग्रहणों के लिए सर्वतोभद्र दिवस है। जिस प्रकार सनातनी परंपरावाहक नौरात्रों में कोई भी शुभ काम शुरू कर देते हैं, उसी प्रकार गांधी जयंती कैसी भी शपथ लेने के लिए सर्वोत्तम दिन होता है। उस दिन आस-पास स्वच्छता व सफाई रखने, शराब न पीने, हिंसा न करने की शपथ ली जा सकती है। बस, थोड़े साफ-दाफ कपड़े पहनकर आना है। दाएँ हाथ को सीने के बराबर सीधा फैलाकर रखना है और कहना है कि मैं शपथ लेता हूँ/लेती हूँ कि...।

पर्यावरण को बचाने की शपथ सबसे जरूरी हो गई है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि पर्यावरण में अगर कुछ बचा रह गया है तो वह शपथ ग्रहण के कारण ही है। स्कूली बच्चे हाथ खैचकर शपथ ले रहे हैं कि वे आगे प्लास्टिक की थैलियों का प्रयोग न तो खुद करेंगे और न दूसरों को करने देंगे। गोया वे अर्जुन हों और अभिमन्यु वध के बाद शपथ ले रहे हों कि अगले दिन वे जयद्रथ को जरूर मार देंगे। ऐसे मजाक बहुत अच्छे लगते हैं। चोर से कहो लूटो, साह से कहो जागो। प्लास्टिक की थैलियों के उत्पादन पर रोक लगाए बिना उन्हें बंद करवा देना अपने देश में ही संभव है। उत्पादन हद से ज्यादा हो चुका है, इसलिए उसे बंद करने का मजाक ही कर लेते हैं। बहुत राहत मिलती है।

मजाक अच्छे दौर से गुजर रहा है। नेता और अफसर देश के भले की सोचने लगे हैं। ऑनलाइन पेमेंट से भ्रष्टाचार समूल नष्ट हो गया है। अब कोई दलाल या डीलर कमीशन न दे सकता और न लेने वाला ले सकता है। सारे कमीशनखोर भूखों मर रहे हैं। उनकी नौबत शरणार्थी बनने की आ गई है। घूस का अता-पता नहीं है।

घूस देने वाला थर-थर काँप रहा है। उस मूर्ख को समझ में इतना नहीं आ रहा है कि अपने खाते में से नकद निकालकर साहब को दे दे या कुछ हीरे-जवाहरात गिफ्ट कर दे। उसके दिमाग में इतना भी नहीं आ रहा कि सहबाइन को एक किता नेकलेस ही भेजवा दे। शासन ने व्यवस्था ही ऐसी कर दी है कि सारी सरकारी खरीद और ठेके व भुगतान ऑनलाइन हो गए हैं। ऑनलाइन भगवान की बनाई व्यवस्था है, उसमें हिंदुस्तानी आदमी छेद नहीं कर सकता।

संविधान खतरे में है। लोकतंत्र में संविधान प्रायः खतरे में पड़ जाता है। उसे बचाने की जिम्मेदारी विपक्ष की होती है और खतरे में डालने की सत्तापक्ष की। सत्तापक्ष और विपक्ष संविधान की रस्साकशी खेल रहे हैं। जोर लगाके हड़सा। अब वे साहित्य व धर्म के भी जानकार हो गए हैं। तुलसी, सूर, कबीर पर उन्होंने पीएच०डी० कर ली है। मेहनत करके पाँच-सात शेर दुष्यंत के याद कर लिए हैं। दुष्यंत परेशान हैं कि उनकी 'साये में धूप' इनके हाथ कैसे लग गई? जहाँ बुनियाद हिलनी चाहिए थी, वहाँ परदे हिल रहे हैं। पीर के पूरी तरह पिघल जाने के बाद भी गंगा नहीं निकल रही है। जहाँ निकलने की कोशिश करती है, वहीं ये अपनी राजनीति का लावा डालकर उसे सुखा देते हैं। बढ़िया से बढ़िया शायरी का ये बढ़िया मजाक कर ले रहे हैं।

पदवी से मनुष्य किसी विषय पर बोल सकता है। अब उन्हें तुलसी-सूर पर बोलने का अधिकार हो गया है। वे गीता मर्मज्ञ हो गए हैं। इन सबकी सारी कमियाँ इन्होंने पकड़ ली हैं। ये ग्रंथ बहुत गंभीर हैं। गंभीरता से जीवन में दुख पैदा होता है। इनका मजाक होना ही चाहिए। खबरदार जो आगे से इन्हें चिंतक, दार्शनिक और अध्येता नहीं समझा। जब ये क्षेत्र में नहीं होते तो पुस्तकालय में बैठे अध्यवसाय कर रहे होते हैं। जो ज्यादा पढ़ लेता है, उसे पुस्तकें जलाने का अधिकार हो जाता है। जब सारा पढ़ ही लिया तो उसे रखकर क्या करेगा?

तो मजाक ही मजाक चल रहा है। मजाकी परम सुखी हैं। कवि सम्मेलनों के मंच आकंठ मजाक बन चुके हैं। कविगण मंच से मंच का मजाक किए जा रहे हैं। कविता मजाक बन चुकी है या मजाक ही आज की कविता है। श्रोता भी मजाक

हैं और मजाक ही श्रोता है। गंभीर कवि तो माजक लायक भी नहीं रह गया है। वैसे उसने भी कविता के साथ कम मजाक नहीं किया है। कविता को पहली बनने के कारणों पर विमर्श होगा तो गंभीर कवि के योगदान को शीर्ष पर रखा जाएगा और उच्च शिक्षित पाठक के अनपढ़ होने को दूसरे नंबर पर। व्यंग्य साहित्य को तो वैसे भी मजाक का दत्तक पुत्र माना जाता है। अब यह पुत्र बड़ा होकर आवारागर्दी करने लगा है। ज्ञानी लोग आवारागर्दी और मजाक को वैसे ही गंभीर किस्म का मजाक मानते हैं। सो व्यंग्य में मजाक ही मजाक है। घटिया मजाक हो तो सहजता से समझ में आ जाता है।

साहित्य का मजाक पूरे शबाब पर है। लेखन के माध्यम से कुछ कमी रह गई है तो उसे सम्मान-पुरस्कार के माध्यम से पूरा कर दिया जाता है। सम्मान-पुरस्कार हर लेखक तो क्या, हर व्यक्ति के लिए सहज-सुलभ होना चाहिए। जब मजाक किसी एक के साथ हो तो उसे मजाक कहते हैं। सबके साथ हो तो वह परंपरा है। हमारे यहाँ मजाक की परंपरा बहुत पुरानी है, बस परंपरा का मजाक नहीं कर सकते। अगर कोई करता है तो वह अपने रिस्क पर कर सकता है।

सरकारें नए शोध, नई नीति के नाम पर शिक्षा और शिक्षार्थियों से मजाक कर रही हैं। शिक्षार्थी शिक्षक से मजाक कर रहे हैं। मजाक ही नहीं कर रहे, पूरी तरह मजाक में ले रहे। शिक्षाविद पाठ्यक्रम से मजाक कर रहे। शिक्षा बोर्ड परीक्षाओं से मजाक कर रहे और पेपर लीक विशेषज्ञ प्रश्नपत्रों से मजाक कर रहे हैं। सारे के सारे मजाकवीर खुश हैं।

जब चोरी, डकैती और बलात्कार होने पर एफआईआर के लिए पहुँच या पैसे का इस्तेमाल करना पड़े, जब अस्पताल से लाश के लिए मोटा बिल चुकाना पड़े, शिक्षा के लिए डॉलर में भुगतान करना पड़े, जब रोटी के लिए जेल होने लगे, जब इंसानों की बस्ती से जवान लड़की का निकलना मुश्किल हो जाए, जब जेल के अंदर से चुनाव लड़ने की आजादी हो और उसके मुकाबले निरपराध की जमानत जब्त हो जाए तो निःसंदेह माहौल मजाक का ही है। जैसा माहौल हो, बुद्धिमान आदमी वैसा ही करता है। इसलिए यदि मजाक आपको भी आता है तो कर लें, इससे बेहतर मौका और माहौल नहीं मिलेगा।

**संपर्क :** बी-335 (अपर ग्राउंड फ्लोर), वसंतकुंज एन्क्लेव, (बी-ब्लॉक),  
नई दिल्ली - 110070, मो० : 09654030701, E-mail : hsrarhi@gmail.com

## कथाकार सुरेश कांटक से बातचीत

- जितेन्द्र कुमार

**प्रश्न :** आपने हिंदी और भोजपुरी दोनों भाषाओं में प्रचुर लिखा है। कथा लेखन आपके लिए क्यों जरूरी है? आपकी बेचैनी क्या है? आप के लेखन के प्रेरक क्या हैं?

**सुरेश कांटक :** मैं जिस परिवेश में रहता हूँ, वहाँ ढेर सारी सामाजिक, आर्थिक समस्याएं विद्यमान हैं, जो पग-पग पर चुभती रहती हैं। जातिगत दबंगई भी अतिरिक्त दर्द देती है अन्याय और जिसकी लाठी उसकी भैंस की प्रवृत्तियाँ हर दिन देखने को मिलती हैं। यही मुझे बेचैन किये रहती है। यही सब मेरे लेखन के कारण हैं। जहाँ प्रतिरोध की आनवश्यकता होती है। पर अकेला चना भाँड़ नहीं फोड़ सकता। इसलिए आपलोगों तक अपनी सोच और चिंताओं को पहुँचाना जरूरी लगता है। कलम हाथ में आ जाती है।

**प्रश्न:** आपके लेखन में विधागत विविधता है। कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता, गीत, गजल आप लगाकार लिखते रहते हैं। अन्य भाषाओं से भोजपुरी में अनुवाद भी करते हैं। सबसे सहजता किसमें महसूस करते हैं?

**सुरेश कांटक :** मेरी मुख्य विधा हिंदी कहानी है। इससे ही साहित्य जगत में मेरी पहचान बनी। जो विषय कहानी में अँटने वाला नहीं लगा, उसके लिए उपन्यासों की रचना हुई। नाटकों की रचना तो आमजन के दबाव में हुई। मैं कालेज के दिनों में आरा की नाट्यसंस्था युवानीति के साथ था। जिस नाटक की प्रस्तुति वहाँ होती थी, उसे मैं अपने गाँव में अपनी नाट्यसंस्था 'आजाद हिंद क्लब' और 'कबीर कला मंच' के माध्यम से प्रस्तुत करता था। धीरे-धीरे गाँव जवार के लोगों की माँग भोजपुरी नाटकों के लिए होने लगी। फलस्वरूप मैंने भोजपुरी नाटक लिखना शुरू किया। कुछ मित्रों की माँग भी थी कि आपकी मातृभाषा भोजपुरी है, आप भोजपुरी में क्यों नहीं लिखते? इन्हीं सब कारणों से भोजपुरी भाषा में रचने और अनुवाद करने की प्रेरणा मिली। जहाँ तक सहजता की बात है, सारे लोग अपनी मातृभाषा में ही अधिक सहजता महसूस करते हैं। मैं कोई अपवाद तो हूँ नहीं।

**प्रश्न :** आपके पढ़ने-लिखने का क्या अनुपात है? आप दूसरे लेखकों को पढ़ते हैं कि नहीं? हाल फिलहाल में आपने किस लेखक की कौन सी किताब पढ़ी?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, जो लेखक पढ़ेगा नहीं, वह लिखेगा क्या खाक! हाँ इसमें अनुपात की बात घटती-बढ़ती रहती है। पहले मैं भुक्खड़ की तरह किताबें खोज-खोज कर और खरीद कर पढ़ता था। अब जरूरत के अनुसार पढ़ता हूँ। पत्रिकाएँ भी आती रहती हैं। उनमें भी कहानियाँ और कविताएँ खोज-खोज कर पढ़ता हूँ। कभी पढ़ने का क्रम महीनों चलता है तो कभी लिखने का। जो पुस्तकें चर्चा में होती हैं, उन्हें जरूर पढ़ता हूँ। हाल फिलहाल मैंने दो किताबें पढ़ी हैं। शिवमूर्ति का उपन्यास 'अगम बहै दरियाव' और मधु कांकरिया का उपन्यास 'ढलती साँझ का सूरज' दोनों अच्छे लगे। मगर 'रित' नहीं पढ़ सका। कुछ ही पृष्ठों के बाद मन ऊब गया तो रख दिया।

**प्रश्न :** बहुत से लेखक दूसरे लेखकों को नहीं पढ़ते हैं। उनका तर्क है कि दूसरों को पढ़ने से लेखन प्रभावित होने का खतरा रहता है। आपकी क्या राय है?

**सुरेश कांटक :** मेरे साथ ऐसा नहीं है। मैं दूसरों को भी पढ़ता हूँ। पढ़ना भी चाहिए। इसके भाषागत और शिल्पगत विशेषताओं का पता चलता है। उनके परिवेश और रचना की जमीन का पता

चलता है। सबकी अपनी-अपनी जमीन है। दृष्टि है। विषय है। खतरा कैसा? किस बात का खतरा?

**प्रश्न :** आपने हिंदी भोजपुरी दोनों भाषाओं में विपुल सृजन किया है। भोजपुरी नाट्य विधा को आपने समृद्ध किया है। आपके भोजपुरी नाटकों का मूल स्वर क्या है?

**सुरेश कांटक :** वर्तमान समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मुद्दों को मुखर करना मेरे भोजपुरी नाटकों का मूल स्वर है। इसमें पारिवारिक समस्याएँ भी शामिल हैं। आज का राजनीतिक छल छद्म किस तरह से हमारी सामाजिक संरचना को तार-तार कर रहा है, उस पर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें सोचने-समझने को विवश करना मेरे नाटकों का मूल उद्देश्य है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी हमारे समाज में बढ़ते भेद-भाव और फिर गुलामी की बढ़ती प्रवृत्तियाँ हमारे शहीदों के सपनों को तोड़ रही हैं। इसके लिए ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। ताकि युवावर्ग उस ओर आकृष्ट हो और अपनी धरती को तानाशाही शिकंजों से मुक्त करने के विचार मन में लाये।

**प्रश्न :** भोजपुरी नाटक लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली? आप सामाजिक और राजनीतिक-ऐतिहासिक दोनों तरह के नाटक लिखे हैं। ऐतिहासिक नाटक 'पहिला नायक' की कथावस्तु आपको कहाँ मिली?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, इस प्रश्न में दो-दो प्रश्न शामिल हैं। पहला प्रश्न है, भोजपुरी नाटक लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली? दूसरा 'पहिला नायक' की कथावस्तु कहाँ से मिली? दोनों प्रश्नों का उत्तर बारी-बारी से देना उचित होगा। जहाँ तक भोजपुरी नाटकों को लिखने की प्रेरणा की बात है, इसका सीधा सा जवाब है, लोक कलाकार भिखारी ठाकुर से। भिखारी ठाकुर हर वर्ष सावन महीने की सोमवारी कार्यक्रम में अपने दल-बल सहित ब्रह्मपुर धाम आते थे और अपने नाटकों का मुफ्त प्रदर्शन करते थे क्योंकि वे ब्रह्मपुर के एक पंडा बाबा हीरा पाण्डेय के यजमान हुआ करते थे। उनके नाटकों को देखने के लिए अपार भीड़ होती थी। जवार भर से गाँवों के लोग— 'भिखरिया के नाच-देखने टूट पड़ते थे।' मेरा गाँव ब्रह्मपुर के बगल में है। पारिवारिक

मनाही के बावजूद मैं नाटक देखने पहुँच जाता था। तब नाटक के बारे में इतनी समझ भी नहीं थी लेकिन भिखारी के गीत और कविताएं अनपढ़ और पढ़े सबके ओठों पर होते थे। चरवाहे भी राग अलापते थे— 'कहत भिखारी नाई, घर छपरा ह भाई।' बाद में समझ में आया, भिखारी ठाकुर के नाटकों में इतनी भीड़ का रहस्य। आम जीवन से जुड़ी विडम्बनाओं की प्रस्तुति। खास कर स्त्री समाज का दुख दर्द। नाटक देख अश्रु विगलित दर्शक और उनका आक्रोश। यह संस्कार तब से बैठा था मेरे मन में। बाद में जब मैं आरा जैन कॉलेज का छात्र हुआ, मेरा संपर्क युवनीति से हुआ। उसका पहला नाटक 'दुश्मन' जवाहर टोला आरा में हुआ। उसके हर नाटक के रिहर्सल का साक्षी बना। वहाँ एक बार और नाटकों के प्रभाव और गुणवत्ता का ज्ञान हुआ। अपने गाँव में भी वे नाटक मंचित करने लगा। फिर लोगों की माँग पर भोजपुरी नाटक लिखने को प्रेरित हुआ। 'हाथी के दाँत' नाटक लिखा। आस-पास के गाँव के युवा दर्शक देखने आये। उसकी लोकप्रियता बढ़ी। गाँव-गाँव में मेरे नाटक मंचित होने लगे। सिलसिला चल निकला। अब 'पहिला नायक' नाटक के विषय वस्तु की बात सुनिये। एक बार पटना के बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ भवन में डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय का व्याख्यान सुन रहा था। अपने व्याख्यान में उन्होंने फतह बहादुर शाही के संघर्ष की चर्चा करते हुए कहा, इतिहास में कहीं भी उनका नाम अंकित नहीं है। जबकि वे लगातार तेइस वर्षों तक अंग्रेजों के साथ गुरिल्ला लड़ाई रड़ते रहे। कभी उनके हाथ नहीं आये। उनकी यह बात सुनते ही मेरी बेचैनी बढ़ गई। मैं फतह बहादुर शाही की तलाश करने लगा। बाद में आदरणीय अक्षयवर दीक्षित जी से कुछ सामग्री मुझे प्राप्त हुई। उनसे बातचीत हुई और यह नाटक अस्तित्व में आया।

**प्रश्न :** पुरानी पीढ़ी के किस कथाकार ने आपको प्रभावित किया और क्यों?

**सुरेश कांटक :** मुझ पर सबसे अधिक और पहला प्रभाव प्रेमचंद का था। नवीं कक्षा का विद्यार्थी था और 'पंच परमेश्वर' कहानी पढ़ी थी। मुझे जुम्नन शेख का अपनी खाला के साथ किया गया व्यवहार नागवार लगा

था। मैं वैचारिक रूप से खाला जान के साथ हो गया था। उसी समय विरोध के अंकुर फूटे थे मेरे अंदर। उन्हीं दिनों अपने क्लास का मोनीटर होने के नाते देर से कक्षा में आने के कारण एक शिक्षक का विरोध किया था और मुझे खूब मार पड़ी थी। बाद में मैंने प्रेमचंद की कहानियाँ खोज-खोज कर पढ़ी। कॉलेज में जाने के बाद मैंने दूसरे लेखकों की कहानियाँ पढ़ी। मगर प्रेमचंद गहराई से मेरे अंदर बैठ गये थे। मैंने मानसरोवर के सभी खंडों की कहानियाँ पढ़ डाली। प्रेमचंद की कहानियों से मुझे न्याय के पक्ष में खड़े होने और बोलने का बल मिला।

**प्रश्न :** रचना करते समय आपका रचनाकार क्या किसी विचारधारा की रोशनी में रचना वस्तु को देखता है?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, इस प्रश्न का उत्तर मैं क्या दूँ। मेरी रचनाओं को पढ़कर आप इस सवाल का जवाब तो पा ही लिये होंगे। फिर भी इस संबंध में मेरी स्पष्ट राय है कि 'विचार हीनता रीढ़ हीनता के समान है।' पाठक को रुला देना या फिर सुला देना मेरी रचनाओं का उद्देश्य नहीं होता। पाठक को बेचैन कर देना, यथास्थिति भंजन हेतु आक्रोश या विचार पैदा कर देना मेरी समझ से साहित्य का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। ताकि वह एक बेहतर दुनिया का सपना देख सके।

**प्रश्न :** 'नरमेध' और 'जनगायक' के आपका तीसरा उपन्यास 'खेत' न्यू वर्ड पब्लिकेशन से 2023 में आया है। इस उपन्यास की रचना वस्तु कहाँ मिली? 'लेखन की इस लंबी अवधि में आपके तीन ही उपन्यास क्यों आये? 'कोड़ार' उपन्यास के प्रकाशन में क्या झमेला है?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, 'खेत' की रचना वस्तु मुझे अपने ग्रामीण परिवेश से ही मिली है। आप जानते हैं, रचनाकार जिस जमीन, सोच और परिवेश से जुड़ा होता है, वह उसे ही बारीकी से देखता है, विश्लेषण करता है और अंततः अपनी रचना में ढाल लेता है। मैं सुबह से शाम तक गाँव के किसानों और मजदूरों के बीच रहता हूँ। उनका संघर्ष और जद्दोजहद देखता हूँ। उनके बीच आपसी छल छद्मों को भी महसूस करता हूँ। जहाँ जरूरत हुई हस्तक्षेप भी करता हूँ। इसका खामियाजा भी

मुझे भुगतना पड़ता है। जातिवाद और जातिवादी प्रवृत्तियाँ परेशान और पराजित भी करती हैं। फिर भी जहाँ हूँ। वहाँ हूँ। अब सवाल है कि इतने लंबे अंतराल में तीन ही उपन्यास क्यों आये? तो भाई, लंबी रचना के लिए जो माहौल, इतमीनान, सुविधाएँ मिलनी चाहिए, वह मुझे नहीं मिलती। संयुक्त परिवार को लेकर चलना पड़ता है। पारिवारिक कलह और संघर्ष भी बाधित करते रहते हैं। समाज की समस्याओं से भी रू-ब-रू होना पड़ता है। इसलिए बड़ी रचना संभव नहीं हुई। 'कोड़ार' उपन्यास लिखने की योजना बहुत पहले बनी थी। अब तक संभव नहीं हो पाया। स्थितियाँ भी बहुत बदल गईं। इसलिए अब उसे लिख पाना संभव नहीं लगता। उसे बड़े आयाम पर समेटने का मन बना रहा हूँ। देखिए, कब तक संभव हो पाता है।

**प्रश्न :** आपने शेक्सपियर के मशहूर नाटक 'जूलियस सीजर' का भोजपुरी में अनुवाद किया है। क्या यह इंग्लिश से सीधे भोजपुरी में अनुवाद है? अनुवाद के लिए इस उपन्यास को चुनने का कारण?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, ईशा पूर्व १०१ ई० में जूलियस सीजर रोम का एक महत्वपूर्ण शासक था। उसकी लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। उसके इर्द-गिर्द रहने वाले उसकी लोकप्रियता देख जलने लगे। वे षडयंत्रकारी ईर्ष्यालु लोग सीजर के जिगरी और विश्वासी मित्र ब्रूटस को उल्टा सीधा समझा कर अपने षडयंत्र में शामिल कर लिये। ब्रूटस रोम का एक प्रतिष्ठित, ईमानदार और बुद्धिजीवी व्यक्ति था। सीजर उस पर बहुत विश्वास करता था। षडयंत्रकारियों ने ब्रूटस के हाथों ही सीजर की हत्या करवा दी। सीजर ने कभी सोचा भी नहीं था कि ब्रूटस ऐसा काम भी कर सकता है। वह विश्वासघात का शिकार हुआ। "ब्रूटस यू टू!" वाक्य के साथ सीजर का अंत हो गया। जबकि वह रोम के सर्वांगीण विकास का आकांक्षी था। छल छद्मों और ईर्ष्या द्वेष के कारण रोम का पतन हो गया। शेक्सपियर ने मानवीय कमजोरियों को बड़ी बारीकी से इस नाटक में चित्रित किया है। इसलिए यह नाटक मुझे अच्छा लगा और भोजपुरी अनुवाद के लिए प्रेरित किया। इसका अनुवाद करते समय मैंने



अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी अनुवाद का भी सहयोग लिया है। दोनों भाषाओं से भावों और स्थितियों को समझने की कोशिश की है।

**प्रश्न :** आपने दर्जन से अधिक देशी विदेशी भाषाओं की प्रसिद्ध कहानियों का भोजपुरी में अनुवाद किया है। किन देशी विदेशी कथाकारों ने आपको अधिक प्रभावित किया?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, अभी मैंने कहा है कि एक दौर में मैं भुक्खड़ की तरह कहानियाँ खोज-खोज कर पढ़ता था। उस समय जो कहानी मुझे अच्छी लगी, उसका मैंने भोजपुरी अनुवाद भी कर दिया। आज तो मुझे उन सबका नाम भी याद नहीं आ रहा है। हाँ, हिंदी में प्रेमचंद और गुलेरी जी हैं। उर्दू में मंटो और कृष्णचंद्र हैं। रूसी में गोर्की, चेखव और टाल्सटाय हैं। चीनी में लू शुन हैं। मराठी में वि०स० खांडेकर हैं। तमिल में शुभश्री की कहानी है। बंगला में रवींद्रनाथ टैगोर हैं। वियतनामी कहानी न्यूयेन क्वांग थान की कहानी 'ऊजर कबूतर' है। तेलगू में मु० बेंकट रमण की कहानी लहर है। फ्रांसीसी कथाकार मोपांसां की कहानी 'मेरा पहला प्रेम' है। एक जर्मन लेखक फ्रान इकेवन की कहानी 'इमानदारी की सजा' है। दो अमरीकी लेखकों, मार्क ट्वेन की कहानी 'झूठ का बोलबाला' और अर्नेस्ट हेमिंग्वे की कहानी 'पिगल' है। लू शुन की दो कहानियाँ 'फागल की डायरी' और 'दवा' का भी भोजपुरी अनुवाद किया हूँ। कुल मिलाकर बीस देशी विदेशी कहानियाँ हैं। सबकी सब हिंदी माध्यम से आयी हैं। इनमें कुछ प्रकाशित भी हो गई हैं।

**प्रश्न :** साहित्य में दलित विमर्श और स्त्री विमर्श के बारे में आपकी क्या राय है?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, ये दोनों ही विमर्श आज साहित्य जगत में चर्चा में हैं। यह विमर्श उचित भी है। हमारे परंपरागत साहित्य में कुछ उक्तियाँ रही हैं, जिनका प्रभाव आम जन जीवन पर भी पड़ा है। जैसे—“पूजिये विप्र सकल गुन हीना। शुद्र न पूजिये सकल प्रवीना।।” या “ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।” इसी के प्रक्षालन स्वरूप दलित विमर्श

का जन्म हुआ है। 1958 के पूर्व दलित साहित्य सम्मेलन, जिसके संस्थापक अन्नाभाऊ साठे थे, से लेकर 1914 में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' तक और ज्योतिबा फूले से लेकर भगवान दास का 'मैं भंगी हूँ', ओमप्रकाश बाल्मीकि का 'जूठन' तक कई किताबें इसके पक्ष में जाती हैं। अब तो यह एक मुख्य धारा का रूप धारण कर रहा है। दलित जो भोगता है, वह कोई दूसरा नहीं भोगता। वह अपने जीवनयथार्थ और संघर्ष को अभिव्यक्ति देता है। यह साहित्य की समृद्धि की बात है। छूटी हुई चीजें रिकार्ड में आ रही हैं। आनी भी चाहिए। इसके पैरोकार बाबा साहब अंबेडकर अब वर्गीय अवधारणा के सात जुड़ गये हैं। यह समाज और साहित्य दोनों के लिए भले की बात है। अतीत की भूलों को सुधार कर एक नई दुनिया की परिकल्पना सकारात्मक हैं। जहाँ तक स्त्री विमर्श की बात है यह है, वह भी जोरदार चर्चा में है। हमारा समाज अब तक स्त्री की अहमियत को नजरअंदाज करता रहा है। “नारी नरक का द्वार है।” (शंकराचार्य) दूसरा कहता है, “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।” (मनुस्मृति) इन दोनों मंत्रणाओं में स्त्री समाज भोगता भुगतता जिंदगी को ढोता आया है। आज भी सियासत दान “बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ” के नारे देते हैं मगर बेटीयों के यौन उत्पीड़न के अपराधियों का पोषण हैं। स्त्रियाँ इसके प्रतिरोध में सड़क पर आती हैं। साहित्य और राजनीति में आती हों। तो बुरा क्या है? सिमोन द बोउआ, वर्जीनिया वुल्फ, महादेवी वर्मा और प्रभा खेतान इस विमर्श में शामिल हैं। सक्रिय हैं। पुरुष रचनाकार भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर रहे हैं। किंतु इसका विस्तार अभी बाकी है। स्त्रियाँ कैदी जीवन से मुक्त हो रही हैं। अपनी व्यथथा कथा का बयान कर रही हैं। उस पर विचारमंथन भी चल रहा है। यह शुभ लक्षण है। मगर एक चेतावनी भी है। महज देह दर्शन और यौन स्वातंत्र्य ही स्त्री विमर्श नहीं है। यह एक तरह की यौन अराजकता है। अराजक समाज किसी का भी भला नहीं कर सकता। नैतिकता का पतन इसका अगला सोपान है। वृहत्तर चिंताओं के साथ स्त्री समाज का विकास, शिक्षा, समृद्धि और सामाजिक पारिवारिक दायित्वबोध इसे पुख्ता

आधार देंगे। यही मेरी अवधारणा है।

**प्रश्न :** आपने दो सौ से अधिक कहानियाँ लिखी है। क्या आपकी प्रारंभिक कहानियों और वर्तमान सदी के तीसरे दशक की कहानियों की कथावस्तु, शिल्प और कथा में कोई रचनात्मक बदलाव आया है?

**सुरेश कांटक :** इस सवाल का उत्तर तो मेरी तब और अब की कहानियों को पढ़कर पाया जा सकता है। फिर भी आपको बहता दूँ कि किसी भी रचनाकार की रचना पर उसके समय और स्थान का प्रभाव जरूर पड़ता है। मेरी प्रारंभिक कहानियों में तब भी सामाजिक, राजनीतिक हलचलें प्रमुखता से आती थीं। जीवन संघर्ष से जुड़े लोग-किसान, मजदूर, राजनीतिक कार्यकर्ता आदि अपने जुझारू रूप में प्रगट होते थे। क्योंकि हर ओर संघर्ष ही संघर्ष था। आंदोलनरत आम लोग नये समाज के निर्माण हेतु लड़ते जूझते दिखते थे। आज की कहानियाँ वैचारिक मसलें, बेचैनियाँ, नये समय की धड़कनों को सामने ला रही हैं। कथा तो गाँव समाज का ही है। मगर उसका शिल्प नये रूप में प्रस्तुत है।

**प्रश्न :** आपकी अपनी दस प्रतिनिधि कहानियाँ कौन हैं, जो आपके समग्र कथा लेखन का प्रतिनिधित्व करती हैं?

**सुरेश कांटक :** अपनी ही दो सौ कहानियों में से दस का चुनाव करना कठिन सा लगता है, जितेन्द्र जी। फिर भी आपने पूछ ही लिया तो कुछ नाम बताना तो लाजमी है। इन दस कहानियों में आप (1) एक बनिहार का आत्म निवेदन (2) सेमर का फूल (3) तीसरा तांडव (4) नाटक जारी है (5) जाग मुसाफिर भोर भयो (6) मोर्चे पर (7) अनावरण (8) किसान क्या करे (9) नगीना (10) फुटेहरी इत्यादि कहानियों को शामिल कर सकते हैं।

**प्रश्न :** आपकी रचना पढ़कर क्या पाठक आपसे संवाद करते हैं?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, प्रारंभिक दौर में मैं मुख्य रूप से छोटी पत्रिकाओं में ही लिखता छपता था। उन पत्रिकाओं की पहुँच सीमित होती थी। उनमें कहानियों पर पाठकों की प्रतिक्रियाएँ छपती थीं। बहुत बाद में कुछ

कहानियाँ बड़ी पत्रिकाओं में छपीं। उन पर पाठकों की प्रतिक्रियाएँ मिलीं। फोन भी आए। बधाई भी मिली। अब भी आती रहती हैं।

**प्रश्न :** 'खेत' उपन्यास की रचना प्रक्रिया क्या है?

**सुरेश कांटक :** 'खेत' उपन्यास में घटित तमाम घटनाएँ मेरे आसपास की हैं। मैं उन सबका साक्षी रहा हूँ। इसके तमाम चरित्र मेरे साथ रहे हैं। मेरे साथ सामाजिक कार्यों में हाथ बँटाते रहे हैं। इसलिए इस उपन्यास की रचना प्रक्रिया कुछ विशेष नहीं है। हाँ लिखते समय भाषा और शिल्प में एकाध बार परिवर्तन करना पड़ा है।

**प्रश्न :** 'नरमेघ' और 'जनगायक' के बाद अपना तीसरा उपन्यास 'खेत' एक लंबे अंतराल के बाद आया है। गाँव में रहकर आप लगातार निम्नवर्गीय किसानों की जद्दोजहद की मार्मिक कहानियाँ और नाटक लिखते रहे हैं। सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'खेत' के कथानक में खेत के प्रति किसान की लालसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मुखरित है। खेत और किसान का यह अटूट रिश्ता नया नहीं है, लेकिन आपका अंदाजेबयां नया है। इसकी प्रेरणा कैसे मिली?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, मैं जिस परिवेश में रहता हूँ, अर्थात् गाँव में रहता हूँ। हर क्षण किसान जीवन का संघर्ष और जीजिविषा को आत्मसात करता रहता हूँ। किसान जब भी किसी मुसीबत या गाढ़े संकट में होता है, पहले वह अपने नजदीकी हित मित्र से सहयोग के लिए हाथ पसारता है। लेकिन सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं। ईर्ष्या द्वेष भी होते हैं। उसकी जरूरत पूरी नहीं होती। फिर वह किसी महाजन के कर्ज लेता है। चूंकि उसके पास आय का कोई अन्य साधन नहीं होता, वह अपनी जमीन गिरवी रख कर जरूरत भर कर्ज प्राप्त कर लेता है। हालांकि पहले तो वह बिना अपना खेत रेहन या गिरवी रख अपना काम चला लेना चाहता है किंतु जब हर ओर से निराश हो जाता है, हार-पाछ कर वैसा करने को मजबूर हो जाता है। किंतु कार्य पूरा हो जाने के बाद उस खेत से उसका मोह बना रहता है। पैसा देने वाले भी इस लालच में पैसा देते हैं कि आज नहीं तो कल जमीन जरूर उसकी हो जायेगी। जिसके

पास आय का कोई अन्य साधन नहीं है, वह लिया हुआ पैसा लौटायेगा कहाँ से? जरूर अपना खेत मेरे नाम बयनामा लिख ही देगा। भले उसे कुछ पैसे और देने पड़ें। गाँवों में यह जद्दोजहद खूब चलती है। लोग सूँघते कि कौन किस मुसीबत में है? किसे पैसे की जरूरत है? कोई अन्य व्यक्ति किसी का खेत ले रहा होता है तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस पर चढ़ा-उपरी करता है। अधिक पैसे देने की लालच देता है और अपनी गोटी लाल कर लेता है। भगतू के साथ भी वैसा ही होता है। रमता भगतू का खेत लेता है मगर धनराज की नजर उस पर लगी होती है। वह रमता से दुश्मनी लेना भी नहीं चाहता मगर भीतर-भीतर अपना प्रयास जारी रखता है। भगतू भी अपना खेत बयनामे से बचाने के लिए खूब हेराफेरी करता है। इसी द्वंद्व और उठापटक में मामला आगे बढ़ता है। फलस्वरूप खेत उपन्यास के लिए एक अवसर मिल जाता है। इसमें कुछ बिचौलिये किस्म के लोग मजा लेना शुरू करते हैं तो कुछ लोग अपना उल्लू सीधा करने में लग जाते हैं। इसी तरह के लोग हैं, जीतू सिंह, बड़ाई जादो और भूतनाथ सिंह। भगतू साह की इसी मुसीबत ने मुझे यह उपन्यास लिखने को बाध्य किया।

**प्रश्न :** पिछले पाँच दशकों से तत्कालीन मध्य बिहार का का इलाका किसान आंदोलन का केंद्र रहा है। इस इलाके की अधिकांश कृषि भूमि पर पूर्व जमींदारों और दो-चार जाति विशेष के सामंतों का एकाधिकार था। किसान आंदोलन की आँच भी उनके खिलाफ रही। लेकिन कृति 'खेत' के मुख्य किरदार भगतू साह, रमता महतो, बड़ाई जादो, धनराज महतो और मुखिया मध्य जाति से आते हैं। सभी छोटे किसान हैं। भगतू साह का डेढ़ बिगहा खेत रमता महतो जोतता है और दबाव बना रहा है कि भगतू अपना खेत उसको बयनामा कर दे। द्वंद्व आरंभ हो जाता है। क्या मध्य बिहार के कृषि जीवन का नया यथार्थ यही है?

**सुरेश कांटक :** जितेन्द्र जी, उग्र किसान आंदोलन का वह संघर्षशील दौर समाप्त हो चुका है। जब सरकारी गैर मजदूरों जमीन से जमींदारों या दबंग सामंतों के कब्जे और एकाधिकार को समाप्त कर उस पर भूमिहीन

किसानों और मजदूरों का कब्जा दिलाने की लड़ाई लड़ी जाती थी। उस संघर्ष का परिणाम भी बहुत हद तक सकारात्मक रहा। कुछ जमीन किसानों के कब्जे में आई। किंतु पहला पक्ष भी होशियार हो गया। उसने सरकारी महकमे से तालमेल कर येन केन प्रकारेण उस जमीन पर अपना दावा मजबूत कर लिया। वह जमीन उसके खाते-खतियान में दर्ज हो गई। उसके नाम से जमाबंदी की सरकारी रसीद कट गई। कुछ दान दक्षिणा देकर बचा ली गई। कुछ सीलिंगएक्ट में हेराफेरी कर। सरकारी नीतियाँ भी उनके पक्ष में रहीं। प्रशासन भी किसान आंदोलन को दबाने के पक्ष में रहा। अपराधियों की मदद की और कार्यकर्ताओं की हत्याएँ भी बेसुमार हुई। आये दिन वह परिस्थिति बदल चुकी है। आंदोलन की रणनीतियाँ भी संशोधित हो गई हैं। जमीन वितरण की समस्या ज्यों की त्यों बरकरार है। कोई भी सरकार इसमें हाथ डालना नहीं चाहती। अब संघर्ष की प्राथमिकता सत्ता में भागीदारी की है। दूसरी तरफ आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण और विश्वबाजार के नाम पर देसी-विदेशी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियाँ सक्रिय हैं। सरकार भी उन्हीं के पक्ष में खड़ी है। अब तो छोटे मझोले किसान भी आपस में एक-दूसरे के शत्रु बना दिये गये हैं। असली दुश्मन अपना रूप बदल नेपथ्य में है या सत्ता में शामिल है। सत्ता के गलियारे में उसकी ही प्रधानता है। अपनी नयी-नयी नीतियों से वह उस जरूरी लड़ाई को गौण या अनावश्यक साबित कर दिया है। सबका ध्यान सत्ता की ओर है। किसान भी वर्गीय चेतना से गाफिल हैं। सतह पर आपसी द्वेष, ईर्ष्या, छल-कपट, प्रपंच जैसी ओछी प्रवृत्तियाँ, जो पहले भी थीं मगर वर्ग चेतना की आँच में झुलस सी गई थीं पुनः पुनः अंकुरित हो गई हैं। सत्ता भी जाति पाँति की राजनीति के जरिए वर्गीय एकता को बाँटने में सफल है। वह चट्टानी एकता अब दरक चुकी है। एक दूसरे को नीचा दिखाने और छलने के अवसर सभी ढूँढ़ते रहते हैं। यह आज के कृषि जीवन का नया यथार्थ है। बगल में एक खेत लहलहा रही है और दूसरे में दरारें फटी हुई हैं। सामूहिक जीवन व्यक्तिगत जीवन से आक्रांत है। जीवन के हर क्षेत्र में यही यथार्थ पुष्पित

पल्लिवत हो रहा है। मरे हुए भूत जी रहे हैं। फिर भी नरेश श्रीवास्तव जैसे पात्र अपने कार्यक्षेत्र में सक्रिय है। आगे की उम्मीद पर जी रहे हैं।

**प्रश्न :** छोटे कलेवर के उपन्यास 'खेत' में पारिवारिक जीवन गौण हैं। स्त्री चरित्र परदानसीन हैं। उपन्यास में मात्र दो स्त्री चरित्र हैं। वह भी इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक के उपन्यास में। कथानक में स्त्री जाति इतनी उपेक्षित क्यों है?

**सुरेश कांटक :** जितेंद्र जी, 'खेत' मुख्य रूप से एक सामाजिक समस्या प्रधान उपन्यास है। इसकी सारी घटनाएँ समाज में घटित होती हैं, परिवार में नहीं। रमता और भगतू का परिवार इससे प्रभावित अवश्य होता है। दोनों के वार्तालाप अपनी पत्नियों से अवश्य होते हैं। किंतु निर्णय रमता और भगतू ही लेते हैं। आपने सही सवाल किया है। इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में स्त्री जीवन गौण दिखता है। ऐसा स्त्री के प्रति उपेक्षाभाव से नहीं हुआ है। उनकी गौण सामाजिक क्रियाकलापों के कारण हुआ है। आज ढेर सारी स्त्रियाँ मुखिया पद पर निर्वाचित हुई हैं। फिर भी समाज में उनकी क्रियाशीलता नगण्य है। सारे निर्णय उनके पति (मुखियापति) ही लेते हैं। वह मात्र अँगूठा लगाती हैं या मिला-मिला कर अपना नाम भर लिख लेती हैं। इसके अपवाद भी एकाध जरूर हैं। हाँ, दलित और निम्नवर्गीय स्त्रियाँ मुखर अवश्य हैं। श्रम से जुड़ी हुई हैं। सामाजिक क्रियाओं में उनका भी योगदान सीमित है। उच्च और मध्यवर्गीय स्त्रियाँ आज भी परदानशील हैं। जो स्त्रियाँ शिक्षित और नौकरीपेशा हैं उनमें खुलापन परिलक्षित अवश्य होता है। मगर उनकी उनकी भी सीमाएँ हैं। खेत उपन्यास की स्त्रियाँ इस वर्ग में भी नहीं हैं।

**प्रश्न :** उपन्यास का जबरदस्त चरित्र है नरेश श्रीवास्तव। बी०ए० पास। गाँव की हर गतिविधि में भाग लेनेवाला, जागरूक और सतर्क, गरीब आदमी का पक्षधर। मार्क्स और लेनिन को अपना आदर्श पुरुष मानने वाला। मुखिया उनके विचारों से सहमत हैं। जीतू सिंह और पूर्व जमींदार भूतनाथ सिंह उसके वर्गीय शत्रु हैं। वहीं नरेश श्रीवास्तव गाँव के गरीबों की एकता को वर्गीय आधार पर पुख्ता करने में सफल रहते हैं। आजकल जब

विचारधारा की लड़ाई कमजोर पड़ती दिखती है, आप नरेश श्रीवास्तव जैसा दृढ़ और समर्पित चरित्र गढ़ते हैं। यह नरेश श्रीवास्तव कितना यथार्थ कितना काल्पनिक है?

**सुरेश कांटक :** 'खेत' उपन्यास का चरित्र नरेश श्रीवास्तव पूर्णतः यथार्थ चरित्र है, जितेंद्र जी। उसके पास अपने अतीत और वर्तमान की सामाजिक स्थितियों का भोगा हुआ अनुभव है। वह एक तरफ वैचारिक समृद्धि के लिए काफी अध्ययनशील है तो दूसरी तरफ समाज के हर वर्ग के जीवन संघर्ष का भी बारीक निरीक्षण करता है। समाज के हर वर्ग के अंदर बैठी मानवीय प्रवृत्तियों का भी मूल्यांकन और विश्लेषण करता हुआ आगे बढ़ता है। आज यदि विचारधारा की लड़ाई कमजोर पड़ती दिखती है तो इसका मतलब यह नहीं कि विचारधारा ही समाप्त हो गई या लोगों के जीवन स्तर में सुधार हो गया है। मूल समस्याओं का सामना तो समाज के तमाम लोगों का रोजमर्रा का जीवन है। हाँ, एक बात जरूर है, जातिवादी रुझान, जो बीच के दौर में कुंद सी हो गई थी, अब तल्व हो गई है। बल्कि हावी है। ऊपर-ऊपर नहीं तो अंदर से। नरेश श्रीवास्तव को वहाँ दो कदम आगे और एक कदम पीछे की रणनीति अपनानी पड़ती है। कभी-कभी तो उन्हें जातिवादी दबाव के सामने खामोश हो जाना पड़ता है। निर्धनता के मुद्दे पर एक हो जाना है, उन्हें यह पता है। मुखिया भी अंदर से जातिवादी प्रवृत्तियों से बुरी तरह आक्रांत हैं। किंतु उन्हें पता है कि वे किसी खास जाति की पक्षधरता से आगे नहीं बढ़ सकते। इसलिए नरेश श्रीवास्तव के विचारों से सहमति रखते हैं। जीतू सिंह भी अपने जातीय गुणों से लबालब हैं। लेकिन बाहरी तौर पर नरेश के विचारों से प्रभावित दिखते हैं। उसी के बल पर वे पूरे गाँव में सम्मानित व्यक्ति हैं। इस तरह से नरेश श्रीवास्तव का दृढ़ और समर्पित चरित्र सबको प्रभावित करता है और अंततः वह अपने मिशन में सफल भी रहता है। यहाँ नरेश का व्यावहारिक और मिलनसार होना भी कमजोर पड़ती लड़ाई को पुख्ता करने में सफल होता है। पाठक को लग सकता है कि नरेश श्रीवास्तव एक काल्पनिक चरित्र है, किंतु वह काल्पनिक है नहीं। हमारे समाज में आज भी आपको ऐसे दृढ़ चरित्र मिल

जायेंगे मगर कुछ मामलों में सुधार उनकी भी जरूरत पड़ जाती है।

**प्रश्न :** उपन्यास में सामाजिक एक्सीविस्ट नरेश श्रीवास्तव का वारिस मुखिया का दुबला पतला भतीजा पूर्व जमींदार की दबंगई को चुनौती देनेवाला, भगतू साह को रस्सी के बंधन से मुक्त कराने वाला उदल कोई जादुई फैंटेसी है या समकालीन समय का नया यथार्थ?

**सुरेश कांटक :** पूर्व जमींदार भूतनाथ सिंह की दबंगई को चुनौती देनेवाला और भगतू साह को रस्सी के बंधन से मुक्त करने वाला मुखिया का दुबला-पतला भतीजा नरेश श्रीवास्तव का वारिस ही है जितेन्द्र जदी, वह कोई जादुई फैंटेसी नहीं है। वह समकालीन समय का यथार्थ ही है। आये दिन समाज में ऐसे चरित्र पैदा हो रहे हैं और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में चिंतन रत हैं। वे इस दिशा में सक्रिय भी हैं मगर समय के साथ उनका मंच बदला है। वे समय का रुख देखकर अपना निर्णय ले रहे हैं मगर जिस वैचारिकधारा से उनका आविर्भाव हुआ है, उसे संभालने, संगठित करने और शिक्षित-प्रशिक्षित करने का समय नहीं है। तात्कालिक लाभ की चिंता से ग्रस्त हैं। वह धारा भी अब येन-केन-प्रकारेण सत्ता की राजनीति को अपना अंतिम लक्ष्य मान कर काम करने लगी है। उसकी रणनीतियाँ भी समय के साथ बदली हैं और समीकरण भी। उधर भूतनाथ की संततियाँ भी नये समय में इतिहास से सबक लेने लगी हैं। यह परिघटना दोनों तरफ घटित हो रही है। मगर विशेष जरूरत है मुखिया के भतीजे जैसे लोगों को प्रशिक्षित सुसंगठित करने की।

**प्रश्न :** उपन्यास के अंत में आप बटाईदारों को भूतनाथ सिंह से डरा-सहमा क्यों दिखाते हैं? बटाईदारों से खेत छीनकर क्या भूतनाथ अपने खेत को परती रखेगा?

**सुरेश कांटक :** आज की खेती का परिदृश्य भी बदला है, जितेन्द्रजी! आज भूतनाथ सिंह सदृश सामंत या जमींदार बटाईदारी के बदले नकदी मालगुजारी पर अपने खेतों की बंदोबस्ती करने को प्राथमिकता दे रहे हैं। बटाईदारी में आधा खर्च खेत मालिक को देना पड़ता

है। आधा खर्च खेती करनेवाला अपनी ओर से लगाता है। जहाँ बटाईदार आर्थिक रूप से कमजोर है, और अधिकांश बटाईदार हैं ही, उनके पास श्रम करने के लिए अपना और अपने बाल बच्चे परिवार का शारीरिक श्रम तो है मगर पूँजी नहीं है। जबकि आज की खेती श्रम प्रधान नहीं पूँजी प्रधान हो गई है। खेत जोतवाने से लेकर फसल लगाने, सिंचाई (कई बार) करने के लिए उसे हर जगह पूँजी की जरूरत है। इसलिए खेत मालिक को अपने व्यवहार से खुश रखना उसकी बाध्यता है। वरना खेत मालिक को नकदी मालगुजारी लेकर खेत बंदोबस्त करते देर नहीं लगती। यह बंदोबस्ती की दर भी अब काफी महँगी हो गई है। क्योंकि इसके लिए भी आपसी होड़ और प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है और आधिकाधिक मालगुजारी देने वालों को खेत दे दी जाती है। इसलिए बटाईदारी पर खेती करने वाले डरे सहमें रहते हैं और कभी-कभी उन्हीं से कर्ज लेकर भी खेती करने को बाध्य होते हैं, भले ही उपज तैयार होने पर पूरी की पूरी उपज खेत के मालिक ले लें। यह है आज की खेती का खेतिहर और खेत मालिक का अंतर्संबंध। देखने में तो यह भी आता है कि खेत मालिक खेती करते ही नहीं। सारी सरकारी सुविधाएँ बिना खेती किये ही वे प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि खेत का खाता खतियान, सरकारी लगान की रसीद सब उनके नाम और उनके पास होता है। खेती करने वाले के पास उसका कोई सबूत होती ही नहीं, जिसकी जरूरत सरकारी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। फिर तो भूतनाथ सिंह जैसों का बाग-बाग होता है। वे पॉकेट में धोती की खूँट डालकर घूमते हैं या किसी अन्य व्यापार में अपना समय और पैसा इन्वेस्ट करते हैं। हाँ, किसान संघर्ष के दौरान खेत को कई-कई वर्षों तक परती रखने की परिघटना भी देखी जा चुकी है। इसे नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि उनके पास उत्पादन के अन्य साधन भी उपलब्ध होते हैं। खाने-पीने-पहनने की कोई समस्या नहीं होती। सूद-ब्याज का धंधा भी होता ही है। गोजर का एक पैर टूट जाए तो क्या फर्क पड़ता है। उसकी गति अबाधित ही रहती है।

**संपर्क :** सुरेश कांटक, बहलपुर, बक्सर, बिहार- 802112, मो० : 9931837620  
जितेन्द्र कुमार, महाराजा, हाता, कतिरा आरा, बिहार



## बुद्ध का विहार (बिहार)

- विनोद साव

दोस्तों... मैं पहली बार बिहार जा रहा हूँ... पटना... इस घटना पर आप कुछ कहेंगे?

बस... फेसबुक मित्रों को उकसाने के लिए इतना काफी था। फिर क्या था सब अपनी प्रतुत्पन्नमती से चौंकाने में लग गए - सर जी! तबियत हरी हो जाएगी आपकी... हर जगह बस बस व्यंग्य ही व्यंग्य! व्यंग्य से भरपूर यात्रा शुभ हो, लौटने तक इन्तजार रहेगा आदरणीय। कुशल व्यंग्यकार का बिहार प्रवास। कोई भी कह सकता है कि अभूतपूर्व रचनात्मक सिद्ध होगा यह। शरद जोशी ने लिखा था “बिहार जाकर नरभसा गए थे।” आप अपना ख्याल रखिएगा। पटना में किसे से पटिएगा नहीं। वैसे बिहारी स्वभाव से विनोदी होते हैं। आपसे खूब जमेगी तब लौटेंगे आप वहां से विनोद बिहारी बन कर।

अरे! वहां तो मुख्यमंत्री ही चारा चर जाते हैं जो लोहिया और जयप्रकाश को अपना प्रेरणा-स्तम्भ बताते हैं। अब वहाँ एवरी टाइम पाला बदल की सत्ता है नीतीश कुमार की। हाँ! आप पटना साहिब के दर्शन जरूर करते आइएगा।

फिर किसी जागृत जन ने कहा गौरवशाली इतिहास समेटे धरती पर पदार्पण का सुअवसर प्राप्त करने के लिए बधाई और शुभकामनाएं। यात्रा के बाद पुराने मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में हुए अपने अनुभवों को साझा करेंगे। कई ऐतिहासिक घटनाओं और पुरातन इतिहास को समेटे शहर की यात्रा यादगार बने। भारत देश के ज्यादातर विद्वान बिहार प्रदेश से ही निकले हैं उम्मीद है वहां से आप अपना ज्ञान विस्तृत करके आएंगे। लेखन के लिए बिहार से बेहतर जमीन नहीं है। कुछ धारणाएँ हैं कुछ मिथक फिर भी उड़ान को पंख के साथ धरातल पर मिल सकता है।

अनुभव कीजिए बिहार को... घबराने की बात नहीं। सकुशल लौटें। बस इतना ध्यान रखिए कि बिहार की बदहाल दशा के बारे में, राजनीति और नक्सलियों के बारे में ट्रेन में बात करने से परहेज करें। उनसे लड़ाई करने से वह मारेगा, काटेगा, लूटेगा और नहीं तो बिहारी से अच्छा इन्सान कहीं नहीं मिलेगा। होटल में रुके हैं तो सत्तू पराठा और दही का ब्रेकफास्ट कीजिए और किसी गुमटी में खा रहे हैं तो लिट्टी चोखा का आनंद लीजिए। आपकी मंगलमय यात्रा के लिए शुभकामनाएं...।

साउथ-बिहार एक्सप्रेस दुर्ग से सही समय पर छूट कर पटना आठ घंटे विलंब से पहुँच गई थी। मैंने दूसरी पोस्ट में कहा- दोस्तो... आप लोगों की शुभकामनाओं के लिए धन्यवाद...

पटना आने के लगभग दो-तीन घंटे पहले से ही छोटे स्टेशनों में स्थानीय जन ए०सी० क्लास में बेधड़क घुसकर बैठ रहे थे और उनकी बातचीत भी बेधड़क होती थी। हिंदी भाषी राज्यों में बिहार और अहिन्दी भाषी प्रदेशों में बंगाल, ये दोनों राज्य पड़ोसी हैं और आपस में एकदम मिलजुल गए हैं। इन राज्यों में राजनीतिक चेतना कूट-कूट कर भरी है। शिक्षा, साहित्य और प्रतिबद्ध विचारधाराओं की गूंज भी यहां खूब है। खासकर बिहार में राजनीति का नशा तो बारहों माह और चौबीसों घंटे है। अपनी कैब में गैस या पेट्रोल भरवाते हुए भी यहां देख सकते हैं कि भरने वाला सहायक भी आज की राजनीति पर कैसी ठसक से बातें करता है। जितनी ठसक जानकारी होने की है उतनी ही ठसक जानकारी न होने के बाद भी है। यह मानी हुई बात है कि बिहार का “कॉन्फिडेंस लेवल” कभी कम नहीं होता, इसलिए हल्ला है “एक बिहारी सब पर भारी...”

...और ऑटो ड्राइवर ने सचमुच भारी काम करवा दिया। लघुशंका के लिए एक घर के सामने



दोस्तों... मैं पहली बार बिहार जा रहा हूँ... पटना... इस घटना पर आप कुछ कहेंगे?

बस... फेसबुक मित्रों को उकसाने के लिए इतना काफी था। फिर क्या था सब अपनी प्रतुत्पन्नमती से चौंकाने में लग गए - सर जी! तबियत हरी हो जाएगी आपकी... हर जगह बस बस व्यंग्य ही व्यंग्य! व्यंग्य से भरपूर यात्रा शुभ हो, लौटने तक इन्तजार रहेगा आदरणीय। कुशल व्यंग्यकार का बिहार प्रवास। कोई भी कह सकता है कि अभूतपूर्व रचनात्मक सिद्ध होगा यह। शरद जोशी ने लिखा था “बिहार जाकर नरभसा गए थे।” आप अपना ख्याल रखिएगा। पटना में किसे से पटिएगा नहीं। वैसे बिहारी स्वभाव से विनोदी होते हैं। आपसे खूब जमेगी तब लौटेंगे आप वहां से विनोद बिहारी बन कर।

अरे! वहां तो मुख्यमंत्री ही चारा चर जाते हैं जो लोहिया और जयप्रकाश को अपना प्रेरणा-स्तम्भ बताते हैं। अब वहाँ एवरी टाइम पाला बदल की सत्ता है नीतीश कुमार की। हाँ! आप पटना साहिब के दर्शन जरूर करते आइएगा।

फिर किसी जागृत जन ने कहा गौरवशाली इतिहास समेटे धरती पर पदार्पण का सुअवसर प्राप्त करने के लिए बधाई और शुभकामनाएं। यात्रा के बाद पुराने मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में हुए अपने अनुभवों को साझा करेंगे। कई ऐतिहासिक घटनाओं और पुरातन इतिहास को समेटे शहर की यात्रा यादगार बने। भारत देश के ज्यादातर विद्वान बिहार प्रदेश से ही निकले हैं उम्मीद है वहां से आप अपना ज्ञान विस्तृत करके आएं। लेखन के लिए बिहार से बेहतर जमीन नहीं है। कुछ धारणाएँ हैं कुछ मिथक फिर भी उड़ान को पंख के साथ धरातल पर मिल सकता है।

अनुभव कीजिए बिहार को... घबराने की बात नहीं। सकुशल लौटें। बस इतना ध्यान रखिए कि बिहार की बदहाल दशा के बारे में, राजनीति और नक्सलियों के बारे में ट्रेन में बात करने से परहेज करें। उनसे लड़ाई करने से वह मारेगा, काटेगा, लूटेगा और नहीं तो बिहारी से अच्छा इन्सान कहीं नहीं मिलेगा। होटल में रुके हैं तो सत्तू पराठा और दही का ब्रेकफास्ट कीजिए और किसी गुमटी में खा रहे हैं तो लिट्टी चोखा का आनंद लीजिए।

आपकी मंगलमय यात्रा के लिए शुभकामनाएं...

साउथ-बिहार एक्सप्रेस दुर्ग से सही समय पर छूट कर पटना आठ घंटे विलंब से पहुँच गई थी। मैंने दूसरी पोस्ट में कहा- दोस्तो... आप लोगों की शुभकामनाओं के लिए धन्यवाद...

पटना आने के लगभग दो-तीन घंटे पहले से ही छोटे स्टेशनों में स्थानीय जन ए०सी० क्लास में बेधड़क घुसकर बैठ रहे थे और उनकी बातचीत भी बेधड़क होती थी। हिंदी भाषी राज्यों में बिहार और अहिन्दी भाषी प्रदेशों में बंगाल, ये दोनों राज्य पड़ोसी हैं और आपस में एकदम मिलजुल गए हैं। इन राज्यों में राजनीतिक चेतना कूट-कूट कर भरी है। शिक्षा, साहित्य और प्रतिबद्ध विचारधाराओं की गूँज भी यहां खूब है। खासकर बिहार में राजनीति का नशा तो बारहों माह और चौबीसों घंटे है। अपनी कैब में गैस या पेट्रोल भरवाते हुए भी यहां देख सकते हैं कि भरने वाला सहायक भी आज की राजनीति पर कैसी ठसक से बातें करता है। जितनी ठसक जानकारी होने की है उतनी ही ठसक जानकारी न होने के बाद भी है। यह मानी हुई बात है कि बिहार का “कॉन्फिडेंस लेवल” कभी कम नहीं होता, इसलिए हल्ला है “एक बिहारी सब पर भारी...”

...और ऑटो ड्राइवर ने सचमुच भारी काम करवा दिया। लघुशंका के लिए एक घर के सामने ऑटो रोक दी। घर के आंगन में संडास बने थे। वहां से निकलने के बाद आंगन में खड़ी महिला ने दस रुपए ले लिए। यह शौचालय का कुटीर उद्योग था।

ए०सी० बोगी में अनधिकृत चढ़े हुए नौजवानों से बीतचीत मजेदार थी। वे बिहार और उसकी गरम राजनीति पर ही बातें कर रहे थे। माथे पर टीका होने के बाद भी वे भगवा राजनीति के विरोधी थे और बोले कि “यह दुर्भाग्य जनक है कि देश की राजनीति को धर्म से जोड़ दिया गया है। मैंने कहा कि बिहार के नेताओं ने यहां की राजनीति को जात-पांत से जोड़ा तो केंद्र की सत्ता ने देश की राजनीति को धर्म और सम्प्रदाय से जोड़ा। उन्होंने मुझसे पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं? मैंने कहा छत्तीसगढ़, तब वे हंसते हुए उतर पड़े कि सबले सबसे बढ़िया..., छत्तीसगढ़िया।”

फिर वे अपना स्टेशन आने पर खड़े होते हुए बोले कि आप पटना में कहीं भी घूमें पर यहां का बिरयानी महल जरूर जाइएगा।

बिहार और बंगाल का विरोधाभासी हल्लाबोल सारे देश की राजनीति को गरमाए रखता है। इन राज्यों में केंद्र विरोधी सरकार ही होती है। इसलिए अपने दम खम के बाद भी इन्हें नुकसान उठाना पड़ता है और प्रतिभाओं का गढ़ होने के बाद भी इन राज्यों के विकास का ग्राफ़ ऊपर चढ़ नहीं पाता है। इसलिए भी यहाँ से पलायन अधिक करते हुए वे हमें कहीं भी मिल जाते हैं। अपने हुनर के जरिए दुकानों की कारीगरी से लेकर ऊँचे प्रशासनिक पदों तक और नेता मंत्री बन जाने तक वे कहीं भी दिख जाते हैं। हर कहीं काबिज हो जाने की योग्यता और क्षमता इनमें भरपूर है।

हम आए तो थे एक साहित्य सम्मेलन में जिसके किन्हीं अपरिहार्य कारणों से स्थगित हो जाने की सूचना तो मिल गई थी पर हमें लगा कि कदमकुआं-पटना में आयोजित कार्यक्रम से समय निकालकर जो नालन्दा राजगीर देखने की लालसा हमारी थी वह ललक कहीं रह न जाए। फिर हम पहली बार बिहार जा रहे थे अब कब जाएंगे यह कहना मुश्किल था। इसलिए हमारी यायावरी ने उफान मारा और हमने टिकट निरस्त कराए बिना यहां पहुंचना ही श्रेयस्कर समझा... और बाद में यह लगा भी कि हमने सही निर्णय लिया है। साहित्यिक कार्यक्रम तो कहीं भी होते रहते हैं पर पटना, नालन्दा-राजगीर और बौद्ध गया की समृद्ध थाती हमें हर कहीं थोड़े ही मिलेगी।

हमारी ट्रेन लेट होने के कारण हम सबेरे सात बजे के बदले दोपहर तीन बजे पटना पहुंचे थे अब हमारे पास आज के भ्रमण के लिए चार-पांच घंटे ही शेष रह गए थे।

मेरे साथ पड़ोसी शहर के एक जनवादी कवि मित्र थे। कदमकुआं के आवास एवं भोजन व्यवस्था के हाथ से निकल जाने के बाद हमने रेलवे रिटायरिंग रूप का सहारा लिया था। पर इसे खोजने में बड़ी मशक्कत लगी। पुराना रिटायरिंग रूम प्लेटफार्म क्रमांक-1 पर है तो उसका विस्तारित भवन प्लेटफार्म-10 पर है जिसकी जानकारी रेलवे स्टाफ को ठीक से नहीं थी। पटना का

स्टेशन विशाल है और यहां पुरुष स्वर में यह उद्घोषणा कर्कश और भारी लग रही थी जिसके कारण आपसी बातचीत और पूछताछ भी स्पष्ट हो नहीं पा रही थी। हमने उतरते ही रेलवे विभाग को पहले इसकी शिकायत कर दी कि “महिलाओं द्वारा उद्घोषणा की जाना चाहिए ताकि शान्ति थोड़ी बनी रहे।”

शान्ति बुद्ध के पास मिलती है। पाटलिपुत्र करुणा स्तूप। यह “बुद्ध स्मृति पार्क” स्टेशन के करीब ही है। हमने नब्बे रुपये के टिकट यहां कटाए थे। जिनमें स्तूपों के अतिरिक्त संग्रहालय और ज्ञानवर्धक फिल्म देखने की भी व्यवस्था थी। बाइस एकड़ ज़मीन पर यह सवा सौ करोड़ रुपये की लागत से बना उद्यान है। हम प्रवेश करते हैं तो सामने लगभग दो सौ फुट ऊंचा एक स्तूप दिखता है। इसमें छह देशों से लाए गए “बुद्ध अस्थि अवशेष” की मंजुषाएं रखी गई हैं। किसी बुद्ध पूर्णिमा के दिन धर्मगुरु दलाई लामा ने इसे जनता को समर्पित किया था। उन्होंने ही इस स्तूप को “पाटलिपुत्र करुणा स्तूप” कहा था।

यहां पहले एक जेल थी ब्रिटिश काल की। जेल जब पटना के बाहरी इलाके में नये भवन में स्थानांतरित हो गई तब इसे बुद्ध पार्क बना दिया गया और कैदियों के स्थान को एक शांति स्थल में बदल दिया गया। बुद्ध के एक देश जापान के बारे में सुनते थे कि युद्ध के समय में उन्होंने बुद्ध के पीतल की मूर्तियों को पिघलाकर बंदूक की नली बना ली थी पर यह हमारा देश है जहाँ हमने यातना केंद्र जेल को बुद्ध के शांति स्थल में बदल दिया। यह है हमारी भारतीयता जहाँ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर हमारा विश्वास है जिसे खंडित करने की सियासती चाल चल रही होती है।

जब हम अगले पड़ाव के लिए ऑटो में आकर बैठे तब ड्राइवर कह उठता है कि अपराधियों के कारण पटना का जो विकास होना चाहिए था, वह नहीं हो सका... लेकिन अब पहले से ठीक है। सहयात्री कवि मित्र बोल पड़ते हैं कि मैं पटना दूसरी बार आया हूँ। पहली बार हम नालन्दा राजगीर देखने ट्रेन से जा रहे थे तब पता चला कि वहां अपहरण भी हो जाता है तब हम उल्टे पांव लौट आए थे। बिहार पर्यटन मंजल की भी एक पुरानी निर्देशिका में यह इशारा था कि “किसी भी पर्यटन स्थल के सन्नाटे

स्थान की ओर न जाएं।” लेकिन अब जैसे यू०पी० के मथुरा बनारस में पुराने ज़माने जैसे ठग और लूटने वाले पंडा नहीं रहे वैसे ही बिहार के सन्नाटे स्टेशनों में छीनाझपटी करने वाले अब लोग नहीं रहे। यह शिक्षा और आधुनिकता की देन है जिसमें नयी पीढ़ी की समझ बढ़ी हुई है और वह अपने कैरियर के प्रति ज्यादा सजग है। बिहार की विशेषज्ञता अब अपने राज्य में न सही बाहर हर कहीं काम आ रही है। शिक्षा, नौकरी, मीडिया और रोजगार-धंधे में हर कहीं वे लोग अपनी पकड़ बनाए हुए हैं। बिहारी युवाओंको हाथ में लपेटी हुई प्रतियोगी परीक्षा की पुस्तिकाओं के साथ कहीं भी देखा जा सकता है। पढ़ने की लत यहां खूब है और इसलिए भी पटना में पुस्तकालय खूब हैं... हिंदी साहित्य का तो गढ़ है बिहार।

...लो पुस्तकालय का नाम लिया और बहुत दूर तक फैले आम्रकुंजों में डॉ० राजेंद्र प्रसाद का स्मृति भवन सदाकत आश्रम दिख गया। भोजपुरी में बोल भी पड़ते हैं कि “राजेन्द्र बाबू लखिया हो।” (उनके जैसे लाखों हों)। आज, यह आश्रम बिहार विद्यापीठ, एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय और बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी का मुख्यालय है। लगभग बीस एकड़ में फैली। आश्रम की जमीन उनके करीबी सहयोगी मौलाना मजहरुल हक के दोस्त खैरुन मियां ने राष्ट्रीय आंदोलन को दान कर दी थी।

आश्रम में अब एक संग्रहालय है, राजेंद्र स्मृति संग्रहालय, राजेन्द्र बाबू बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे इसलिए पुस्तकें बहुत रखी हैं। यहां एक सहायक ने बताया कि बाबूजी के राष्ट्रपति बनने के पहले और बाद के दिन यहीं बीते थे अपनी अंतिम साँस तक। बीसवीं सदी के चौथे दशक में बंगाल के भीषण अकाल से भी वे जूझे जिसमें कोई पचास लाख लोगों की मृत्यु हुई थी। माताएं अर्धमृत शिशुओं के मांस भक्षण करने को बाध्य हुई थीं।

राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षता में संविधान निर्माण का कार्य पूरा हुआ था। वे न केवल भारत के पहले राष्ट्रपति थे बल्कि वे तीन बार राष्ट्रपति बनने वाले अकेले थे। अपनी लंबी जेल यात्रा में उन्होंने भी पुस्तकें लिखीं जिसका शीर्षक था “इंडिया डिवाइडेड” उन्होंने हिंदी-अंग्रेजी में पांच किताबें लिखीं थीं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इन्हें डॉक्टरेट की उपाधि दी थी। दुबारा राष्ट्रपति चुने

जाने पर चुटकी लेते हुए वे बोले कि आजकल देश में बहुत लोगों को डॉक्टरेट की उपाधि मिल रही है। लेकिन सच पूछा जाए तो सबसे बड़ा भाग्यशाली मैं हूँ कि मेरी ही डॉक्टरी बहुत चली है।

राजेन्द्र बाबू पारम्परिक भारतीय जीवनशैली को जीते थे। कहते हैं कि राष्ट्रपति भवन में रहते हुए वे सबेरे उठकर भीगे चने खाते थे, नहाने से पहले तख्त पर बैठकर सरसों तेल से बदन को मालिश करवाते थे। राष्ट्रपति भवन में सत्य नारायण की कथा कहवाते थे। अपने अंतिम समय में वे पटना के सदाकत आश्रम में आ गए थे। उन्हें भारत रत्न से अलंकृत किया गया था। पारंपरिक जीवन जीने वाले इस देशज व्यक्ति की टकराहट अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नेहरू से हो जाती थी। पर नेहरू भी उनकी सूझ-बूझ के कायल थे और जब भारत चीन युद्ध छिड़ा तब अव्यवस्थित नेहरू राजेंद्र बाबू से आवश्यक परामर्श के लिए सदाकत आश्रम पटना पहुंच गए थे, जिसके हम सामने खड़े हैं।

मैंने अपने भिलाई कार्यकाल के उन दिनों को याद किया जब भिलाई इस्पात संयंत्र की पहली धमनभट्टी का उद्घाटन करते हुए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के चित्र हम इस्पात भवन में देखा करते थे।

पटना शुरू से ही शिक्षा साहित्य का केंद्र रहा है इसलिए यहां कई पुस्तकालय हैं। इनमें 1891 से खुली है “खुदा बख्श पुस्तकालय”। इसे ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी कहा है, जिसमें अरबी व फारसी की हजारों पांडुलिपियाँ, लाखों किताबें सुरक्षित रखी हुई हैं। बिहार में मुसलमानों ने शिक्षा के लिए बड़े काम किए और दान दिए हैं। इनमें एक सरकारी अधिकारी खुदा बख्श थे जिन्होंने अपने पिता से मिली पांडुलिपियों को सहेजा और इस लाइब्रेरी को जनता के लिए खोला। इसका भवन भव्य है और यहां पढ़ने-लिखने की अनेक सुविधाएँ हैं। यह देश का पहला कंप्यूटराइज्ड लाइब्रेरी है जो अपने संग्रहों को कंप्यूटर में अंकित करता चलता है। पुस्तक प्रेमी, लिक्खाड़ और पढ़ाकू प्रधानमंत्री नेहरू ने जब इसे देखा तो वे चकित और अभिभूत हो गए और उन्होंने लिखा— “I should like to see them reproduced by the latest techniques, so that others can see them and share in this joy.”

सही अर्थों में कहें, तो महात्मा गांधी भी भले ही गुजरात की मिट्टी की उपज रहे लेकिन मोहनदास करमचंद गांधी को महात्मा गाँधी और अन्ततः राष्ट्र को विदेशी शासन से मुक्ति प्रदायक, बिहार ने ही बनाया। अगर चम्पारण की धरती पर उन्होंने नीलहों के विरुद्ध अपना प्रथम एवं सफल आन्दोलन नहीं चलाया होता तो शायद ही वह सत्याग्रह एवं अहिंसा का वह पाठ पढ़ते जिसके बल पर बापू ने स्वतंत्रता का युद्ध जीता। बिहार की मिट्टी उर्वरा है और इसके निवासियों की मेधा प्रखर।

हम ऑटो में ही घूम रहे हैं इस शहर को और ट्रेन के लेट होने के कारण हमारे पास समय कम है। अपनी कुछ विसंगतियों के बाद भी यह व्यस्त शहर पूर्वी भारत का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह शहर अपने में अनेक शौर्यगाथाओं और धरोहरों को समेटे हुए हैं। अंधेरा होने को आया है। इसके कलात्मक बिहार संग्रहालय को देख लिए हैं... यहां सिखों के दसवें गुरु श्री गोबिन्द सिंह का जन्मस्थान है। उनकी स्मृति में हरमंदिर जी पटना साहिब है जो रात की रंगीन रोशनी से झिलमिल है। गुरुद्वारा से जुड़ा रेलवे स्टेशन का नाम है पटना साहिब। यह पटना का व्यस्त पुराना इलाका है इसलिए ट्रैफिक जाम भी है। इसके प्रसाद में हमने “पिन्नी” प्राप्त कर लिया था। आमतौर पर पंजाबियों की कोई मिठाई देखने में नहीं आई पर पिन्नी एक है। गोल लड्डू के समान। हमारे एक मित्र भाटिया जी बताते हैं कि “पिन्नी” गोलाकार वृत्त को कहते हैं यह धागे की पिन्नी भी हो सकती है। पर यह उड़द दाल और से बनने वाली पिन्नी है। हम इसे घर के लिए लेते आए थे फिर इसे कई दिनों तक खाए और बांटे। प्रसाद तो है पर पौष्टिक आहार भी है।

बिहार के खानपान में सादगी और मितव्ययता है। जैसे महाराष्ट्र की ट्रेन में चिवड़ा सूजी-लड्डू खाते हुए लोग दिखते हैं वैसे ही यहां झालमुड़ी-ठेकुआ या सत्तू खाते हुए बिहारी जन दिख जाते हैं। मुंबई धारी महाराष्ट्र तो फिर भी एक आर्थिक दृष्टि से एक समृद्ध राज्य है पर झारखण्ड के निकल जाने के बाद मध्यप्रदेश का तीन चौथाई राजस्व चला गया मानते हैं। इसलिए भी छत्तीसगढ़ के पड़ोसी राज्यों- मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और

बिहार को सरकारी भाषा में बीमार राज्य भी कह दिया जाता है। बिहार के सारे औद्योगिक केंद्र- जमशेदपुर, बोकारो, रांची, धनबाद सब झारखण्ड के हिस्से में आ गए हैं। वर्ष 2000 में जब दोनों राज्य अलग हुए तब मैं जमशेदपुर में था तो झारखण्ड में लोग हंसी-ठट्ठा करते हुए बोल भी रहे थे कि बिहार में बच गया है बस अब आलू और लालू। कभी गया में रहे एक व्यंग्यकार मित्र का एक व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है “बिहार पर मत हंसो”।

लेकिन पटना शहर समृद्ध है। नदियों ने इसे हर दृष्टि से समृद्ध कर दिया है। हम इसके सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र पर खड़े हैं जो एन०आई०टी० के पास गांधी घाट है। यहा गंगा में सोन, गंडक और पुनपुन नदी ने मिलकर इसके पाट को बहुत विस्तृत कर दिया है। गहरी नदी और लगभग मील भर से अधिक चौड़ा पाट अगाध जलराशि से भरा हुआ। हम सूर्यास्त के समय यहां उपस्थित थे। तब नाव और माझी जैसे गीतमय दृश्य हमारे सम्मुख थे। इस तरह के दृश्य कोलकाता में बंगाल की खाड़ी में विलीन होने से पहले हुगली में दिखाई दे जाते हैं। पटना की यही गंगा है जो बंगाल आकर हुगली भी कहलाती है और गंगा भी।

शहर के मध्य में स्थित कुम्हार का पार्क शहर का प्राचीन हृदय स्थल है। हम ईसा शताब्दी छह सौ वर्षों पूर्व के युग में प्रवेश करते हुए कुम्हार में खड़े थे जहाँ आजातशत्रु ने किला बनवाया था और पाटलिपुत्र का जन्म हुआ था। पटना के आसपास खुदाई में प्राचीन शहर पाटलिपुत्र के अवशेष खुले में पड़े हैं- और सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष कुम्हार में हैं, जहां लकड़ी के मंच और मठ के साथ एक अस्सी स्तम्भ आधारित सभा कक्ष के अवशेष को हम देख रहे हैं। यह अशोक के समय में निर्मित बौद्धों के लिए एक सभा कक्ष था।

नालंदा जाते हुए- बिहार शरीफ की बड़ी दरगाह महान सूफी सज़रत मखदूम शेख की है। हमारी कैब का ड्राइवर युवा लड़का झा है वह यहां उतारने से परहेज करता है। हम हंसते हुए दबावपूर्वक दरगाह की दिशा में उसे कैब मोड़ने को कहते हैं। हज़रत मखदूम के नाम से गया के पहले एक स्टेशन भी है मखदूमपुर स्टेशन।

यह 650 साल पुरानी दरगाह है। यहां ईदगाह, करबला, मजार के कुछ दृश्य हम अपने कैमरे में उतारते हैं। बड़े दिनों बाद अच्छा खिला हुआ लाल कनेर का पौधा देखने को मिला तो मन प्रफुल्लित हो उठा।

जल मंदिर पावापुरी जहां जैनियों के 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने अपना अंतिम उपदेश दिया था फिर उनका अग्नि संस्कार हुआ था, उन्होंने समाधि ली थी। उनकी स्मृति में यह विशाल जलाशय और उसके बीच बना हुआ मंदिर है जो तालाब में तैरते मंदिर के समान लगता है इसलिए जलमंदिर नाम है। यहां जल की सतह पर दूर तक दिखते कमल-पुष्प मनोहारी लगते हैं।

अप्रैल के पहले दिन दोपहर बारह बजे थे और तब राजगीर की पहाड़ी तपने लगी थी। इसका वास्तविक नाम राजगृह था। यहां भी जैनियों के मंदिर और बौद्धों के कई मठ हैं। इन मठों में जापान और थाइलैंड के बनवाए हुए प्रमुख हैं। यह पहाड़ियों से घिरा क्षेत्र है। इसकी रत्नगिरि पहाड़ी पर जापान द्वारा विश्वशांति स्तूप का निर्माण हुआ है। यहां हम रोपवे से गए। पहली बार सिंगल रोपवे उज्बेकिस्तान के हिल स्टेशन में चढ़ा था। आज केबिन रोपवे अपने देश में चढ़ा। याद आई 1970 में बनी सदाबहार हीरो देवानंद और निर्देशक विजय आनंद की फिल्म “जॉनी मेरा नाम” की, जिसकी शूटिंग यहां रोपवे में हुई थी। राजगीर के कई लोकेशन को उन्होंने बड़ी प्रमुखता से उभारे थे और शूटिंग के दौरान भीड़ के द्वारा घेर ली गई स्वप्न सुन्दरी को पब्लिक से बचाया था।

धूप चढ़ रही थी और साथ ही सैलानियों का उत्साह भी उठान पर था। राजगीर मगध की राजधानी था जहाँ बिम्बसार और उनके पुत्र अजातशत्रु राजा थे। भारतीय इतिहास में राजगीर को पहली रिकार्डेड राजधानी माना जाता है। इस राज्य में जैन और बौद्ध धर्म दोनों का इतना अधिक प्रभाव था कि इन धर्मों के बीच आवाजाही होती रहती थी। बिम्बसार और अजातशत्रु बौद्ध धर्म के मानने वाले थे। उनकी भेंट भी यहां बुद्ध से हुई थी पर वे बाद में अपने परिजनों सहित जैन धर्म में धर्मान्तरित हो गए थे। इसी मगध के महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म स्वीकार और अपने अंतिम समय में भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोला चले गए थे जबकि उनके पौत्र सम्राट

अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकारा और अपने बेटे महेंद्र और बेटी संघमित्रा को प्रचार के लिए लंका तक भेजा था।

बुद्ध और महावीर के कारण यहां आध्यात्मिक चिंतन इस ऊंचाई पर रहा कि विहारशरीफ के मुस्लिम संत मकदूम शाह भी राजगीर के जंगलों में बारह सालों तक ध्यान लगाने के लिए घूम रहे थे। गुरुनानक देव ने भी यहां की यात्रा की और इसके उष्ण जल के स्रोतों में स्नान किया। बिहार में जातिवाद का रूप चाहे जैसे भी हो पर यह राज्य हर युग में सांप्रदायिक सद्भाव का मरकज रहा है। एक बात यह भी गौरतलब है कि पटना और उसके आसपास के इस पूरे इलाके में ईसाई धर्म का कोई प्रभाव नहीं दिखता न ही उनके चर्च दिखते न उनके मिशन कार्यों का कोई हल्ला है। शायद इसका कारण यह हो कि ईसाइयों के गुरु ईसामसीह बड़े प्रेरक और प्रभावशाली धर्माचार्य थे। ईसा भी बुद्ध के समान करुणा और समानता के भाव से भरे गुरु थे। इन दोनों गुरुओं के अनुयायियों ने इस समानता और प्रभाव के कारण एक दूसरे के प्रभाव में आना संभवतः आवश्यक न समझा हो।

राजगीर में एक सोनभंडार दरवाजा है। यह छोटा है पर अजंता की गुफा के समान दिखता है। गुफाओं का भीतरी स्थल किसी तिलस्म की तरह स्वर्णिम चमक लिए है। इसकी दीवार पर शंख लिपि अभिलिखित है। ऐसा माना जाता है कि यहां मगध के एक राजा का सोना व अन्य खजाना छिपा हुआ है लेकिन जो कोई इसके शिलालेखों के संकेतों को समझ पाएगा, वह सोने के खजाने के दरवाजे को खोल सकेगा।

सड़कों पर ट्रैफिक अधिक है। कारें कम दिखती हैं पर ट्रक, बाइक अधिक हैं। सौ किलोमीटर की दूरी को कैब से जाते हुए इन सड़कों पर लगभग ढाई घंटे लग जाते हैं। देश में यू०पी० और बिहार इन दोनों राज्यों की आबादी अधिक है और इसलिए लोकसभा में इनके सांसद अधिक हैं और इसलिए केंद्र में सरकारें किसी की भी रहे पर कुछ महत्वपूर्ण मंत्री इन्हीं राज्यों से बनते हैं और वे भी रेलवे, कोयला, गैस जैसे महत्वपूर्ण पोर्टफोलियो वाले। पटना स्टेशन की विशालता और गाड़ियों की संख्या गवाह होती है कि यहां हर दिशा में जाने वाली रेलगाड़ियाँ



खूब हैं... और भीड़ भी खूब हैं। पर राजनीतिक प्रतिनिधित्व में आगे होने के बावजूद विकास के नाम पर पटना शहर से बाहर व्यवस्था ठप्प है। पैसा नहीं है हाथ में। बख्तियारपुर की गुमटी में लिट्टी खिलाते हुए गुमटी वाले ने हँसते हुए कहा कि “इहाँ गियान देने वाले बहुत हैं पइसा देने वाले नहीं।”

बख्तियारपुर नाम अब तक बरकरार है वह भी नाम बदलने में माहिर केंद्र सरकार के बखत में। इस नाम से एक स्टेशन भी है। बिहार सरकार ने अपनी सद्भाव नीति में इस कस्बे के नाम को बदलना न चाहा हो। इस इलाके में बख्तियार खिलजी हुए जो खिलजी वंश में कुतुबुद्दीन ऐबक के प्रधान सेनापति थे जो बाद में अल्पकालीन बादशाह भी हो गए थे। तुर्कों ने नालन्दा पर जो आक्रमण किया उसका नेतृत्व बख्तियार खिलजी ने किया था। कहते हैं उसने बीमार पड़ने पर अपने हकीमों की तुलना में हिन्दुस्तानी हकीमों को श्रेष्ठ पाया जो नालन्दा आयुर्वेद विभाग के वैद्य थे। उसने ईर्ष्याग्रस्त होकर 12वीं सदी में नालन्दा के विशाल पुस्तकालयों में आग लगवा दी। नालन्दा को कोई बड़ा गढ़ समझ कर उसे घेर लिया और आक्रमण किया। यह विध्वंस इतना प्रलयकारी और भयावह सिद्ध हुआ कि इसके बाद नालन्दा फिर संभल न सका।

हम उसी वैभवशाली युग में आ खड़े हुए हैं जहाँ ज्ञान की विश्व-विख्यात ज्योति जला करती थी। बौद्धकाल में नालन्दा एवं तक्षशिला विश्व-विद्यालय विख्यात रहे हैं। नालन्दा भारत में है, तक्षशिला पाकिस्तान के प्राचीन गांधार (अब रावलपिंडी) में है। तक्षशिला अधिक पुराना है। चाणक्य वहीं के स्नातक और अध्यापक थे। नालन्दा जहाँ बसा है उस गाँव का नाम बड़गाँव है। सूर्यपीठ बड़गाँव सूर्योपासना और छठ पूजा का बड़ा केंद्र है। इसके आसपास तालाबों में कमल खिले मिलते हैं। पाली भाषा के विद्वान बुद्धघोष के अनुसार “जहाँ कमल के नाल पाए जाएं वह नालन्दा है।” यहाँ दस हजार विद्यार्थी और डेढ़ हजार अध्यापक थे। हम टिकट घर की खिड़की पर खड़े हैं जहाँ भारतीय नागरिक के लिए शुल्क रु. 40 और विदेशी नागरिक के लिए रु. 640 है। हम चालीस रुपये का टिकट कटाकर उसके प्रवेशद्वार से चलना आरंभ

करते हैं। कहते हैं कि यहाँ के द्वारपाल प्रवेशार्थियों की ज्ञान परीक्षा लेते थे, और तब उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलता था। आज ऐसा कोई द्वार पंडित यहाँ नहीं है अन्यथा कई लोगों का प्रवेश निषेध होता। पंडित केनसांग ने कहा भी है कि कोई झूठमूठ में भी अपने को नालन्दा में पढ़ा बतला देता था तो भी उसे हर जगह सम्मान मिल जाता था।

हम प्रवेशद्वार से मील भर सीधे चलने के बाद इसका केवल आधा परिसर ही देख पाते हैं। भट्टों के लाल ईंटों से बने फिर आक्रान्ताओं द्वारा खंडित किए इसके भव्य और विशाल परिसर में हम चलते जाते हैं। इन खंडहरों के साये में घूमते हुए हम अनायास ही 5वीं से 12वीं सदी के उस काल में पहुँच जाते हैं जिस काल में यह उच्चतर शिक्षा और ज्ञान का अद्भुत केंद्र था। यहाँ ग्यारह विहार थे जिन्हें “संगाराम” कहा जाता था। महायान संप्रदाय के प्रसिद्ध दार्शनिक और रसायन विशेषज्ञ नागार्जुन ने यहाँ शिक्षा ली थी, पश्चात यहाँ के प्रधानाचार्य भी बने थे। चयनित विद्यार्थियों के लिए रहने, खाने, गणवेश, पठन-पाठन सामग्री का निःशुल्क प्रावधान था। इस स्थान ने अनेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। हर्षवर्धन ने इसे बढ़ाया, कुमारगुप्त ने यहाँ फाइनआर्ट के एक कॉलेज की स्थापना की थी। यहाँ बुद्ध के अनुयायी समस्त देशों के छात्र पढ़ने आते थे। यहाँ के पुस्तकालय अत्यंत समृद्ध थे। पुस्तकालय भवन नौ मंजिलों का था। लेकिन 12वीं सदी में तुर्कों के आक्रमण ने शिक्षा के इस केंद्र को बुरी तरह नष्ट कर डाला और एक भरपूर समृद्ध नगर खंडहर में बदल गया। ब्रिटिशकाल में यहाँ खुदाई करने से इसके अवशेष निकले हैं। इसके छात्रावास के कमरे आज भी सुरक्षित हैं जिनकी पांच-पांच फीट चौड़ी दीवारें अचंभित करती हैं। इसके नष्ट हो जाने के पश्चात “नव नालन्दा महाविहार” स्थापित किया गया है। यहाँ पाली भाषा के विस्तार की प्राचीन परंपरा को जीवित रखने के उद्देश्य से प्रसिद्ध “कमल तालाब” के बगल में खंडहर के अवशेषों ने निकट ही इसे स्थापित किया गया है। यहाँ रह कर देश-विदेश के छात्र पाली भाषा और बौद्धदर्शन पर शोध का काम करते हैं। अमर्त्य सेन जैसे विद्वानों की समिति ने नए नालन्दा विश्वविद्यालय का गठन किया। यह



## यात्रा वृत्तांत

केन्द्रीय विश्वविद्यालय है जो राजगीर में स्थित है। राष्ट्रपति इसके कुलाध्यक्ष होते हैं।

नालन्दा के मुख्य परिसर से बाहर कुछ वर्षों पूर्व चीनी वास्तुकला का एक बड़ा सुन्दर और सुसज्जित भवन बनवाया गया है जो ह्वेनसांग (हुवेनसांग) का स्मृति भवन है, जिसमें उनके यात्रा वृत्तांतों के चित्र हैं और उन्होंने इन वृत्तांतों में नालन्दा के समय और परिवेश को व्यक्त किया है। वे नालन्दा में पांच साल शिष्य और एक साल शिक्षक रहते हुए कुल बारह साल बिताए थे। आज हम नालन्दा के विषय में जो कुछ भी जानते हैं उन शिष्यों के जरिए ही जानते हैं जो यहां से दक्ष होकर अपने देशों में ज्ञान-विज्ञान से समृद्धि ला रहे थे। इनमें चीनी यात्री ह्वेनसांग, फाहियान और इत्सिंग प्रमुख थे। ये विद्वान नालन्दा के सात सौ वर्षों की वैभवशाली गाथा को अपने में समेटे थे और नालन्दा के सर्जनात्मक सांस्कृतिक वैभव से पूरी दुनिया को अवगत करवा रहे थे। इनका अध्ययन आज भी इस काल की प्रामाणिक जानकारी देता है। नालन्दा की सबसे बड़ी देन भारतीय शास्त्र तथा प्रमाण शास्त्र है। कहते हैं जिसकी ऊंचाई तक पश्चिम के दार्शनिक आज भी नहीं पहुँच सके हैं।

बुद्ध और महावीर के शिष्यों, अनुयायी राजाओं द्वारा निर्मित विश्वविद्यालय के विहारों में शिक्षण कक्ष, छात्रावास, स्नानागार, अनाज भंडारण, स्तूप, प्रार्थना स्थल की अनेक संरचनाएं हैं। ये विलक्षण निर्माण हैं। यह नालन्दा ही था जिसने समूचे एशिया महाद्वीप में सांस्कृतिक एकता को स्थापित किया और बुद्ध को विश्वगुरु मनवाया। यहां ब्राह्मण धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त छात्रों की योग्यता विश्व-स्तर पर मानी गई थी। इन्हें देखते समय और उन स्मृतियों में जाते हुए दिल में धड़कन होती है। लगता है कि हम कितने सौभाग्यशाली हैं जो इस ज्ञान पुंज के स्थल पर खड़े हैं और कितने दुर्भाग्यशाली हैं जो उस परिवेश से वंचित हो रहे हैं जिनके लिए यह विख्यात था। कहाँ बुद्ध ईसापूर्व पांच सौ वर्षों में जन्मे थे और कहाँ यह नालन्दा ईसा के पांच सौ बरस बाद अपनी ख्याति में आया यानी एक हजार साल बाद। यह बुद्ध का महाप्रभाव है कि एक हजार साल बाद उनके अनुयायियों ने नालन्दा को निर्मित

कर एशिया का “लाइट ऑफ़ हाइस” बन दिखाया।

हम परिसर से बाहर निकलकर एक बैटरी कार में बैठते हैं और एक ब्लैक बुद्ध को देखते हैं— काले रंग की यह मूर्ति नालन्दा के उत्खनन से प्राप्त हुई बताते हैं। स्थानीय जनों द्वारा अलग से मन्दिर बनाकर इसकी प्राण प्रतिष्ठा कर दी गई है। किसी परिवार में सूखा रोग ग्रस्त सदस्यों के ठीक हो जाने पर यहां तेल चढ़ाया जाता है इसलिए इस बुद्ध को तेलिया बाबा कहते हैं। बुद्ध की मूर्तियों वाले स्थान व मंदिर भी कई स्थानों पर हिन्दू मंदिरों की तरह खाने-कमाने के अड्डे हो गए हैं। ब्राह्मण परिवारों के कब्जे में आ गए हैं। आरती होती है जयकारा होता है घंटे बजाए जाते हैं और रुपये चढ़ाए जाते हैं, जिसे वहां उपस्थित पंडित तत्काल उठा लेते हैं।

तेलिया बाबा से कुछ दूर आगे एक दूसरी विशाल बुद्ध प्रतिमा पाई गई थी। इसका स्थानीय नाम ढेलवा बाबा है। स्थानीय पुरोहितों ने ऐसे विश्वास का प्रचार कर दिया था कि यह देवता ढेला मारने से प्रसन्न होते हैं। फलतः अंध-जनता ढेले-पत्थर मार कर इसकी पूजा करती थी और इसी में पुण्य मानती थी। इतिहास के पुरातत्वों के साथ सांप्रदायिक कटुता के अवशेष भी हमारे सामने होते हैं।

नालन्दा से लौटते समय थोड़ी दूर पर बड़गांव के पास ही एक स्थान सिलाव जो “खाजा” मिठाई के लिए प्रसिद्ध है। ताम्बई रंग की बड़े आकार और वजन में एकदम हल्के रेशम के गोले सरीखे दिखने वाली खाजा मिठाई की इतनी दुकानों यहां क्रमवार खड़ी हैं कि एकबारगी यह रत्नगिरि पहाड़ी जैसी खाजा की कोई पहाड़ी दिखाई देती है। हम उसे लेते आए थे। होली में हमारी अम्मा जब खाजा-बीड़िया बनाती थीं तो वह झक्क सफ़ेद दिखाई देता था पर यहां शायद जलेबी रंग का कमाल था। आकार में बड़ा होने के बाद भी यह इतना हल्का और रेशेदार था कि इसे कई नगर खाया जा सकता था।

हम देर रात तक नालन्दा से पटना लौट आए थे। तीसरे दिन सुबह तड़के ही पटना से जनशताब्दी एक्सप्रेस में बैठकर गया निकल गए। यहां स्टेशन पर उतरते ही पण्डे ने पकड़ लिया था। हमने पूछा था बौद्ध गया के

लिए ऑटो कहाँ मिलेगी? तब उसने हमसे पूछा था कि सनातन के तरफ नहीं जाएँगे? पुरखों को तारने वाला गया बनारस का छोटा रूप है जहाँ पिंडदान होता है। एक कथा यहां प्रचलित है कि “सीता जी ने यहां अपने ससुर राजा दशरथ का पिंडदान किया था।” हम इस सनातन परंपरा वाले नगर और उसके विष्णु मंदिर को देखते हुए बढ़ रहे थे। हम फल्गु नदी के किनारे चल रहे थे जिसमें एक भी बूंद पानी दिखाई नहीं देता। कहते हैं कि पानी इसके भीतर है... गड्ढा खोदने से निकलता है। इस तरह के उद्गम स्रोतों को झिरिया कहते हैं जब गर्मी के दिनों में सूख गए तालाब से झिरिया खोदकर जल निकाला जाता है। फिर भी यहां पिंडदान आदि के लिए एक जगह जल-संग्रह कर सीतकुंड का निर्माण किया गया है।

गया से पंद्रह किलोमीटर दूर हम बौद्ध गया पहुंच गए थे। बुद्ध की यथार्थ लीला और उनकी तपोभूमियों की कलात्मकता का कोई ओर-छोर नहीं है। बौद्ध गया का यह वही स्थान है जहां वट वृक्ष के नीचे गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। स्वर्णिम प्रतिमा यहां उतनी ही सुंदर है जितनी सौंदर्य शास्त्रियों ने उन्हें प्रमाणित किया था। इस जापानी मूर्ति पर उनकी आँखें तो देखते बनती हैं। इस मूर्ति में हिन्दुस्तानी नहीं कोरियन सौंदर्य भरा है। बुद्ध लुम्बिनी नेपाल में जन्मे थे। नेपाली चेहरा चीनी जापानी व कोरियन चेहरों से मिलता है। भीतर मोबाइल लाने की अनुमति नहीं है इसलिए कुछ चित्र बाहर से ही हम ले पाए थे। हम परिक्रमा करते हुए उस पीपल के पेड़ यानी बोधि वृक्ष के पास पहुंचते हैं जिसकी सघन हरियाली ने युवा गौतम को छत्र-छाया दी थी। उसे बुद्ध बनाया था। इस वृक्ष के नीचे उन्होंने अछूत कन्या के द्वारा खीर स्वीकार किया था। वृक्ष की प्राचीनता को लेकर अनेक

धारणाएँ और विचार यहां भंतों और भगिनियों के हैं। कहते हैं कि यही पेड़ है जो वंशज वृक्ष है। वे सब बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर किसी आध्यात्मिक क्रिया में लगे हुए थे। यहां चीन, तिब्बत, बर्मा, जापान और कम्बोडिया देशों के बौद्धमठ हैं। इनमें कम्बोडिया का मठ सबसे सुन्दर है।

हम दुर्ग से पटना जब आए थे तब ट्रेन आठ घंटे विलम्ब से आई थी। जाते समय भी वैसा ही कुछ हो रहा था। बहरहाल, हम बाहर से खूबसूरत दिखने वाले पटना जंक्शन का दीदार कर रहे हैं, जिसकी दीवार पर मौर्यकाल व बुद्ध कालीन इतिहास को चित्रित किया गया है। एक ही युग में बुद्ध, महावीर, चाणक्य और चन्द्रगुप्त, मिथिला के भाष्यकार वात्स्यायन और न्याय सूत्रकार गौतम जैसी मनीषा की यह कर्मस्थली थी। इनके बीच शास्त्रार्थ की उद्भट परंपरा थी।

यहां हम लौटते हैं उस बिहार से जिसके बौद्धिक संघर्ष का इतिहास समृद्ध है और वर्तमान घनघोर यथार्थ की चुनौतियों से घिरा है। यह सच है कि बिहार की प्रति-व्यक्ति आय साठ हजार सलाना से भी कम है और मानव विकास के तमाम अन्य पैरामीटर्स पर भी वह पीछे है लेकिन सर्वाधिक आबादी वृद्धि दर और आबादी घनत्व में आगे है। औद्योगीकरण शहरीकरण का न होना भी इसके विकास में अड़ंगा डाला है। प्रति परिवार आधा हेक्टर जमीन राष्ट्रीय औसत से भी कम है। इसलिए इसे विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग जब तब उठती रहती है। यह बुद्ध का विहार था जो भाषा के अपभ्रंश में “बिहार” कहलाया। यह बिहार की बड़ी विशेषता है कि वह अपने समृद्ध अतीत के साथ वर्तमान को अपने ठेठपन के अपभ्रंश में भी जीता है।

संपर्क : मुक्तनगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़) 491001,  
मो० : 9009884014

## देह दान

- हरभजन सिंह मेहरोत्रा

पूरब में भोर की कालिमा छटते देख शंकुतला फिर नहीं रुकी। दुष्यंत के रक्तिम कणिकाओं को अपने अधरों से मरु बना कर, तड़ाग से बाहर आ गई किंतु कुछ पग ही चली होगी कि दुष्यंत की भुजाओं पर अंकित लाल रेखाओं के स्मरण मात्र से वह सिहर गई।

“कितनी निर्मोही हो गई हूँ।” कदाचित्त उसका यह कृत्य सर्वथा नोदनीय है। उसने स्वयं से अपनी भर्त्सना की। किन्तु अब कोई मार्ग भी नहीं था। हाँ उसके चुम्बनों ने अवश्य ही खुरची हुई भुजा पर स्नेह लेप सा कार्य किया था। शंकुतला को ढाँढ़स मिला। वह उससे अपने किये कृत्य पर क्षमा भी नहीं मांग पायी थी। वह अजन्मी पीड़ा से उद्वेलित हो गई।

मन में विचार आया कि वह पुनः उसके समीप जा कर उसके अंक से लगी सिसकती पड़ी रहे। दुष्यंत उसे अवश्य क्षमा कर देगा। किंतु उसका मिलना अभी संभव नहीं हो पायेगा। वह तड़ाग से निकल कर अपने शिविर पहुँच गया होगा। उसे रात्रि तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। किंतु आने वाली रात्रि में वहाँ मिलने के विषय में कोई निश्चित वार्ता उनके मध्य नहीं हुई थी। उसका अभीष्ट भी पूर्ण हो चुका है। वह अपने नगर के लिये कभी भी प्रस्थान कर सकता है। हाँ यह अवश्य उनमें निश्चित हुआ था कि वे अपने नियत स्थान एवं आकाश मंडल पर चन्द्रमा के प्रकट होते ही आ जाया करेंगे। इसी से आश्वस्त हुई वह मौनता से आगे बढ़ने लगीं।

राह में उसे सिरों पर गगरियां उठाये गुनगुनाती पनिहारने मिलीं। उनका समूह गान शब्द रहित एक नाद का स्वरूप था जो उच्च तथा अवरोह क्रम में पवन संग प्रतिध्वनित हो रहा था। मंथर गति से चल रहे मेघ और झूमती शाखाएं ताल से ताल मिलाते दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह कुछ और आगे बढ़ी तो ऋषि, मुनि पूजा-अर्चना में मग्न स्रोत का गायन करते दिखे। पक्षियों के कलरव से संपूर्ण आश्रम गुंजित हो रहा था जबकि गायें रंभाती, जुगाली करने में लगीं हुई थीं तो अश्व हिनहिनाते और चिंघाढ़ते गज मदमस्त झूमते घूम रहे थे। निःसंदेह ऐसी अवर्णनीय प्रकृति की लीला क्या किसी स्वर्ग से कम होगी।

प्रकृति की अनुपम छटा देख शंकुतला को कतई माता गौतमी, प्रियंवदा, अनुसूया, नेत्रिका, स्वप्निका आदि का स्मरण नहीं रहा। सबको भूल चुकी थी। स्मृति में कुछ था तो मात्र रात्रि मिलन यामिनी के स्वार्गिक आनंद की अनुभूति से संबंधित वे अह्लादपूर्ण घड़ियां जो उसके अंतस को अब गुदगुदा रहीं थी। वह अचरज में थीं। अभिसार का मद इतनी घड़ियाँ व्यतीत हो जाने के पश्चात इस समय तक उसके सिर पर चढ़ कर वार्ता करता दिखाई दे रहा था। अंततः ऐसा क्यों। इसका उत्तर उसके पास भी नहीं था।

यह मद मंथर गति से उसकी रक्त वाहिकताओं में प्रविष्ट होकर उसके प्रत्येक अंग को मतवाला बना रहा था। बारंबार उसके जी में आ रहा था मालिनी के शीतल जल में डुबकियां लगायें। किंतु गौतमी माता का ध्यान आते ही वह इस विचार को ही जल में प्रवाहित कर देती।

कुटिया पर जब पहुँची वहाँ कोई नहीं था। कुछ दिवस पूर्व से माता ने उसकी देख-रेख हेतु एक परिचारिका नियुक्त कर दी थी। सुनंदा... जो स्वयं महाराज दुष्यंत के एक द्वारपाल के संग प्रेम के हिंडोले में बैठ पींगे भर रही थी। अर्थात् कुटिया में कोई नहीं था। वैसे भी ऊषाकाल में माता पूजा पाठ में व्यस्त

रहती है। किंतु माता की पूजा-अर्चना अब किसी घड़ी भी समाप्त हो सकती थी। संभवतः वह शकुंतला से रात्रि के संपूर्ण प्रहर तक कुटी से बाहर क्या करती रही। इस पर वह शकुंतला से उसके क्रियाकलापों पर आक्षेप खड़े कर सकती है। इससे पूर्व ऐसा कभी नहीं हुआ कि शकुंतला आठवें प्रहर कुटिया में आयी हो। वैसे माता ने कभी उससे यह नहीं पूछा कि वह रात्रि को महाराज दुष्यंत से मिलने क्यों जाती है।

शकुंतला भलीभाँति समझती है कि माता से उसकी कोई चेष्टा छिपी नहीं है। मात्र उसके मौन से ही शकुंतला के दुस्साहस को बढ़ावा मिला था। यदि गौतमी माता उस पर पूर्व में ही अंकुश लगाती तो संभव है बात यहाँ तक न पहुँचती। हाँ... यह अवश्य ही एक विराट सत्य है कि माता की सदाशयता से वह उपकृत है। किंतु बाबा के आगमन पर इस रहस्य से अवश्य ही गांठ खुलेगी। उस घड़ी इसका सामना वह कैसे करेगी।

इस गन्धर्व विवाह का उसका निर्णय अवश्यम्भावी प्रलयकारी होगा। जो संभवतः कण्वाश्रम की पवित्रता को कलुषित कर देगा। शकुंतला भयभीत हो गई। वास्तविकता की अनुभूति ने उसके मुख को क्षण भर में मलिन कर दिया। निढाल हो कर वह धरती पर लेट गई। रात्रि की जगी कब निद्रा के आवेग में बह गई। उसके संज्ञान में भी नहीं था। यह भी विदित नहीं था कि कमल के कुछ पुष्प लेकर नन्ही रेवा उसके पास आयी थी। परंतु उसे निद्रित अवस्था में देख पुष्प उसकी देह पर रख कर चली गई। वह तो स्वप्नलोक में विचरण कर रही थी। हिम से ढकी गगन चुंबी पर्वत की चोटियों से घिरी खड़ी है। इतना ही नहीं वृहद आकृतियों के सूढ़ उठाये पाषाण के गज जिनकी चिंघाड़ वह भलीभाँति सुन रही है। मालिनी की उताल लहरें तटों से अपना भाल फोड़ते चिल्ला रही हैं। समीप ही एक ऊँचे पर्वत शिखर से विशालकाय जबड़ा फैलाये एक झरना नदी में समाने के लिए उसकी गहराई में धंसता जा रहा है। मानव विहीन निर्जन स्थल में उसे भलीभाँति स्मरण है कि उसका हृदय थामें दुष्यंत उसे वहाँ लेकर आया था। किंतु अब वह कहीं भी नहीं दिख रहा था। वह आकुलता से दुष्यंत को पुकारने की चेष्टा कर रही है। किंतु

उसके वाक कोशों से मात्र वायु बाहर निकल कर फैल रही थी।

निस्पंद होती जा रही देह में न जाने कैसा झटका लगा कि उसने पीछे मुड़ कर देखा। अचीन्हा सा आकार उससे कुछ अक्षांस पूर्व खड़ा था। चेतना लौटी तो यह प्रियंवदा थी। उसके कांधे से लगी किंतु उचकते हुए अनुसूया दृष्टिगत हुई। वह शकुंतला को ही देखे जा रही थी। उठी नहीं, शकुंतला। दोनों को निहारती रही। मन में विचार तो कई थे। लेकिन कहने भर की शक्ति शेष नहीं थी, उसमें।

प्रियंवदा कमल के कुम्लाये और काले पड़ गये पुष्प जो शकुंतला की सांसों के उतार-चढ़ाव से ऊपर-नीचे उठ रहे थे। उन्हें पकड़ने के लिये उसी ओर झुकी तो यकायक प्रियंवदा का हाथ उसकी बांह से स्पर्श कर गया। तप रही थी, शकुंतला की काया, “ओह... महारानी को प्रियतम के वियोग के कुछ काल की प्रतीक्षा ने अग्नि की भाँति तपा दिया है... देखो तो तनिक अनुसूया... कैसे कमल पुष्प भी प्रिये की देह से लग कर सूख गये हैं।” हास की स्मिति प्रियंवदा के मुख पर छायी हुई थी। अनुसूया भी हंस पड़ी।

“भला मैं क्यों किसी के वियोग से जलूंगी।” शकुंतला ने मुख बिचकाया।

“सत्य वचन...। रात्रि को शाकुंतलम् रनिवास तो दुष्यंत की प्रेयसी जायेगी नहीं।”

प्रियंवदा के शब्दों से शकुंतला के कपोलों पर इंद्रधनुषी रंग बिखर गये।

कुछ समय तक वहाँ अविराम हँसी-कलोल चलता रहा। थमा तो तभी, जब माता गौतमी ने कुटिया में प्रवेश किया। प्रथम उसकी दृष्टि शकुंतला पर गयी। उज्ज्वल-सुफलाम सी शकुंतला उसे बिलकुल अलग-थलग दिखी। समीप आयी तो उसके ज्वर की सूचना से उसे अवगत कराया अनुसूया ने। माता ने शकुंतला के मस्तक पर हथेली से स्पर्श किया। माथा तप रहा था। उसे बाल्यावस्था की शकुंतला स्मरण हो आयी जब उसे अरण्य में ज्वर हो आया था। बेसुध-सी हुई शकुंतला माँ का स्मरण कर रही थी। कण्व ऋषि ने देवी मेनका का आह्वान किया था। यदि उस घड़ी माँ का आश्रय कन्या को न मिलता तो अवश्य

कोई अनहोनी घट सकती थी।

अभी तो महर्षि ही आश्रम में नहीं है। तीर्थस्थलों से कब प्रस्थान करेंगे। कुछ भी कह सकना कठिन है। माता की चिंता का एक कारण महाराज दुष्यंत भी थे। जिसके बारे में गौतमी माता ने शकुंतला से वार्ता भी की थी।

यह शकुंतला की प्रतीति थी दुष्यंत के लिए कि वह अब एक घड़ी भी उसके बिना नहीं रह सकती थी। ऐसी दृष्टि कि बिना दुष्यंत की छवि के उसे अपने आस-पास किसी अन्य का आभास भी ना होता। स्वप्न में भी अपना आधिपत्य जमा लिया। स्वप्न न हुआ कोई राज्य-प्रांत हो गया। मीठी मुस्कान से उसका पोर-पोर खिल उठा। तभी माता ने उसके वल्कल के घेरे को सरका कर अपने हाथ से औषधि का लेप उसकी टांगों में लगाने लगी। किंतु माता के हस्थ से गुदगुदी से एक विचित्र सी उलझन हो रही है। वहीं दुष्यंत के हाथों से उसकी धमनियों में बहते रक्त में ऊष्णता आ गई थी। संपूर्ण देह में विद्युत की किरणें तरंगित होने लगीं थी।

प्रेम में देह आत्मा तक पहुँचने की कुंजी है और दो आत्माओं का मिलन परमात्मा के समीप होना माना जाता है। शकुंतला का दुष्यंत के लिए स्नेह निस्वार्थ और निष्कलंक है। अनायास किसी सखा के विचार उसकी स्मृति में अकाशवाणी की भाँति गूँज गये।

“देवी मेनका और ब्रह्मऋषि विश्वामित्र की पुत्री को तो कोई राजा-महाराजा ही मिलेगा। हम निर्धन को हमारा प्रारब्ध बूझेगा...” उस युवती का तर्क शकुंतला को भीतर तक आहत कर गया था। सत्यता थी उसके कथन में। राजवंशियों का विवाह राजपरिवार की कन्याओं के संग सम्पन्न होता है। किसी दरिद्र स्त्री से नहीं। लेकिन प्रियंवदा ने उस ब्राह्मण कन्या के विचार का खण्डन करते हुए कहा था, “कंदमूल का सेवन करने वाले ऋषि-मुनियों को कैसे राजकन्याएँ मिल जाती हैं। तिस पर वही राजमहलों की निवासनी अरण्य के कठोर जीवन को सहर्ष अपनाती भी है। अतः अपने भाग्य को दोष देना निरर्थक है। मिथला नरेश की राजकुमारी

अयोध्या के युवराज संग ब्याह के चौदह वर्ष वन में भटकती रही... क्या यह विडंबना नहीं है।”

शकुंतला ब्राह्मण युवती से प्रियंवदा के प्रतिवाद को सुनकर कर आश्चस्त हो आई थी। क्योंकि उसे यह भय भी सता रहा था कि कहीं दुष्यंत के साथ उसका प्रेम प्रकरण किसी घटना का प्रत्यदर्शी तो नहीं बन गया है। यद्यपि प्रियंवदा तथा अनुसूया के अतिरिक्त कोई अन्य साक्षी नहीं था दोनों के प्रेम प्रसंग का। लेकिन अब... जबकि दोनों किसी भी साक्ष्यों की अनुपस्थिति में विवाह सूत्र से बंध गये हैं। वे कैसे अनावृत होकर शकुंतला को चरित्रहीन के पारितोष से मुक्त करेंगे।

‘इसका निर्णय तो स्वयं कण्व महर्षि ही लेंगे। आह... कदाचित् दुष्यंत मेरा भाग्य विधाता है।’ परंतु शकुंतला का स्वयं को चरित्रहीन जैसी संज्ञाओं से विश्लेषित करना कहाँ तक उचित है यह भी विचारणीय तथ्य है। परंतु उसके मन में पैठ चुका दोषारोपित बीज अनवरत फलित-पोषित हो रहा है। इस सत्यता से वह भलीभाँति परिचित है। किंतु उसके संस्कार उसे बारंबार नेपथ्य में धकेल देते हैं।

किसी से कुछ कह भी नहीं सकती। प्रेमपाश में बंधी दुष्यंत की किसी बात का विरोध ही नहीं कर पायी थी। शास्त्रानुसार गंधर्व विवाह भले उचित हो परंतु उसने इस परंपरा के निर्वाहन में अपने सतीत्व को दांव में लगा कर इतिहास में क्षत्रिय कुल को शर्मिन्दा कर दिया है। क्या काल उसके कृत्य को क्षमा कर पायेगा। यही सोच उसे भीतर ही भीतर कुदेर रही है।

माता गौतमी जब तक उसके समीप रही उसकी मौनता निरीह-सी किसी हिंस्र पशु के जबड़ों में फंसी दम तोड़ती दिखाई पड़ रही थी। अंततः माता उसे विश्राम के लिये कह कर चली गई थी। एकांत का अवसर पा कर विचारों के सर्प मस्तिष्क से निकल कर उसके हृदय में लोटने लगे। उसकी फुत्कारों से उसके अंतस का पटल काला पड़ गया। शकुंतला अंधेरी पगडंडियों से भागते हुए अंततः औंधे मुख गिर पड़ी। (निर्वासिनी उपन्यास का एक अंश)

संपर्क : 390/3, शास्त्री नगर, कानपुर  
मो० : 9839101647

## समीक्ष्य पुस्तक - ठलुआ चिंतन (कहानी संग्रह) समीक्षा आलेख - ठलुआ चिंतन नहीं गहन चिंतन

- सुषमा मुनीन्द्र

सुपिरिचित कथाकार राम नगीना मौर्य के मैंने अब तक सॉफ्ट कॉर्नर, यात्रीगण कृपया ध्यान दें, खूबसूरत मोड़ आदि जितने भी कहानी संग्रह पढ़े हैं उस आधार पर कह सकती हूँ वे टटकापन या अनोखापन लाने के मोह या दबाव से मुक्त एकदम सहज भाव में पूरे मन से कहानियाँ लिखते हैं। कहानियों में ट्राइड एण्ड टेस्टेड फार्मूला या फैटसी नहीं रहती बल्कि जन, जीवन, जगत, जरूरत, जागरूकता पर जोर देते हुए कहानी प्रबल प्रवाह की तरह मार्ग ढूँढ़ते हुए ऐसे अंत पर पहुँचती हैं जहाँ पारिवारिक-सामाजिक संरचना को मजबूती देने वाला निर्णय मिलता है।

राम नगीना मौर्य रोजमर्रा के छोटे-छोटे प्रसंग, अनुभव, स्मृति, धरातल, परिवेश, सरोकार, उपादान, मनोदशा, गली कूचे, चौराहे, नुक्कड़ यहाँ तक कि ग्लोब, रैक, यूरोपियन स्टाइल कमोड, गड्ढा जैसे जड़ पदार्थ में भी कहानी की सम्भावना देख लेते हैं। वे बिंदु तलाशते हैं जहाँ आमतौर पर कथाकारों की दृष्टि नहीं जाती है। मौर्य में दार्शनिक दृष्टि, चिंतन प्रक्रिया, मनोवैज्ञानिक पकड़ है इसलिये वे घर, बाहर, बाजार, दफ्तर, सफर हर कहीं कहानी ढूँढ़ लेते हैं और भाषायी कौशल, कलात्मक अभिव्यक्ति, अनुकूल संवाद, मुहावरों, उक्तियों के प्रयोग से ऐसी कहानियाँ सिरजते हैं जिनमें जीवन के नौ रस का समावेश होता है।

समीक्ष्य कहानी संग्रह “ठलुआ चिंतन” में चौदह कहानियाँ हैं। कहानियाँ ऐसी सादगी से आरम्भ होती हैं मानो पाठकों से संवाद कर रही हैं। कहानी ग्लोब, गड्ढा, नई रैक, ऑफ स्पिंग्स के केन्द्र में जड़ पदार्थ है। ये जड़ पदार्थ कहानियों में इस तरह मौजूद हैं कि प्रमुख चरित्र बन गये हैं। कहानी को वस्तु के इर्द-गिर्द इस तरह गुँथा गया है कि सरोकार स्पष्ट होते चलते हैं। “मुझे तो लगता है कि जिम्मेदार लोगों को लगातार देखते रहना चाहिये कि शहर की गली कूचों और कॉलोनियों आदि की सड़कों पर समय के साथ दुर्घटना को आमंत्रित करता कोई छोटा या बड़ा गड्ढा तो नहीं बन गया है... इसे बनने में महीनों लगे होंगे (कहानी गड्ढा)।” ये पंक्तियाँ गड्ढे से होने वाली दिक्कतों के साथ शासन-प्रशासन की निरपेक्षता और आम नागरिकों की नजरअंदाज करने की प्रवृत्ति को भी इंगित करती हैं। कहानी “ग्लोब” का ग्लोब कभी विद्यार्थियों की जरूरत था अब साइबर एज में गूगल जैसी बड़ी लाइब्रेरी है जहाँ हर प्रश्न का उत्तर मौजूद है। कहानी रिवर्स मेन्टोरिंग का संदेश भी देती है कि बड़ों को छोटों से सीखना चाहिये। कहानी ऑफ स्पिंग्स के केन्द्र में यूरोपियन स्टाइल कमोड है। संकेत इस ओर भी है कि प्रकृति से दूर होते हुए लोग जो कृत्रिम जीवन जीने लगे हैं उनके शरीर के जोड़ टफ होते जा रहे हैं। नी प्राब्लम के कारण कमोड जरूरी हो चला है। “नई रैक” की कहानी रैक के इर्द-गिर्द बुनी गई है। रैक वाला बनवाई उचित ही बता रहा है पर रैक बनवाने वाला सौ, दो सौ रुपिया कम कराने पर अड़ा है। रैक के माध्यम से त्फुटपाथ, ठेलों, गुमटी में फल, सब्जी, छोटे-छोटे सामान बेचने वालों की जरूरतें-जहमतें भी बताई गई हैं कि यह हमारे समाज के लिये जरूरी वर्ग है, इन्हें इनके श्रम का वाजिब मूल्य मिलना चाहिये कि अपना जीवन सुचारू चला सकें। लेकिन लोग ब्रैण्डेड शॉप में दो-तीन गुना अधिक मूल्य दे देते हैं पर छोटे सामान विक्रेताओं से मोल-भाव करते हैं। लोगों के लिये वह सिर्फ एक फल वाला है। उसका श्रम, संघर्ष, अभाव, खटाराग, असमंजस क्या हैं कोई



नहीं समझना चाहता। “नई रैक” बताती है यदि ये शून्य से आरम्भ कर थोड़े-बहुत उत्थान तक पहुँचते हैं तो उस उत्थान में लम्बा समय और श्रम लगा है। यदि इनके श्रम का मूल्य नहीं मिलेगा तो छोटे धंधे खत्म होते जायेंगे और बहुत कुछ बाजारवाद की भेंट चढ़ जायेगा। इन कहानियों में यह खूबी है कि इन छोटे धंधे वालों को निरीह निराश नहीं स्वाभिमानि दिखाया गया है।

“मैं इधर जाऊँ या उधर जाऊँ, मच्छर महात्म्य, उसकी तैयारी आदि कहानियों के विषय भी ऐसे हैं जिन पर आमतौर पर कहानियाँ नहीं लिखी गई हैं।” “मैं इधर जाऊँ...” में मुद्दा सिर्फ इतना नहीं है कि कहानी का शीर्षक क्या रखा जाए। यहाँ साहित्य में होती खेमेबाजी, गुटबाजी और साहित्य के नाम पर धन कमाने जैसे खुलासे हुए हैं। “आजकल तो रचनात्मक लेखन के लिये क्लासेज चलने लगी हैं। लेखक बनें सिर्फ नब्बे घंटों में या राइटर्स इन ट्वेन्टी डेज टाइप क्रैश कोर्स चलने लगे हैं। क्रिएटिव राइटिंग से जुड़े ढेरों एप आ गये हैं। डाउन लोड कीजिये (पृष्ठ संख्या 74)।” जैसे पंक्तियाँ बताती हैं रचनाकर्म जैसे गुरु गंभीर काम को खिलवाड़ बना दिया जा रहा है। “मच्छर महात्म्य” के केन्द्र में मच्छर हैं लेकिन दवा उद्योग की चालाकियाँ भी मालूम होती चलती है। “अब तो इस पावन धरा धाम पर यही ख्वाब है कि जिस तरह बाज मौके सरकारें बनाने-गिराने का श्रेय प्याज-टमाटर आदि को मिलता रहा है, बाज दफे वही सौभाग्य हमें भी मिले। (122)।” यह संकेत है जरूरी मुद्दों से ध्यान भटका कर प्याज, टमाटर की बढ़ती कीमत का अरण्य रोदन कर किस तरह सत्ता परिवर्तन की कुचेष्टा की जाती

है। “उनकी तैयारियाँ” में गृहणी के कभी समाप्त न होने वाले कामों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिसकी कोई नोटिस नहीं लेता कि गृहस्थी के काम करना उल्लेखनीय बात नहीं है। “फैशन के इस नाजुक दौर में” के कन्हैया लाल कार से खास मौके पर सपरिवार जाते हुए अधबीच बंद हो गई कार की अड़चन से जिस तरह जूझ रहे हैं उन अड़चन से हम सभी कभी न कभी जूझ चुके हैं। “हस्बे मामूल” में रेल यात्रा का दृश्य है। कुछ सहयात्री देर रात तक लाइट जला कर, मोबाइल में तेज आवाज में बात कर, आपस में वार्ता कर अन्य यात्रियों की असुविधा की फिक्र नहीं करते हैं। इस अड़चन से भी जूझ चुके हैं।

कहानी “हाई लेवल मीटिंग” बताती है ऐसी बैठकें खाना पूर्ति होती हैं इसीलिए एजेण्डा का क्रियान्वयन नहीं होता। अधिकतर कहानियों में दम्पति मौजूद हैं। ये शिकायतें, गलतियाँ, अनियमितताएं बताते हुए एक दूसरे को कोसते नहीं हैं बल्कि कौतूहल बनाते हैं।

कुल मिलाकर कहूँगी कि कहानियों के विषय बड़े नहीं हैं, पर बड़ा फलक बनाते हैं। कहानी कहीं भी विषय से नहीं हटती है। भाषा में माधुरी, पुलक और कौतुक है। देशज स्पर्श भाषा को प्रभावी बनाता है। पति-पत्नी के संवाद ऐसे सटीक हैं कि जिन्हें मुकाबले का जवाब कहा जा सकता है। कहानियों का भावपक्ष, भाषापक्ष, विचार पक्ष समृद्ध है जो साबित करता है कि कहानी-संग्रह का शीर्षक यद्यपि “ठलुआ चिंतन” हैं पर यहाँ गहन चिंतन हुआ है। आशा है पुस्तक का साहित्य जगत में स्वागत होगा।

पुस्तक : ठलुआ चिंतन (कहानी संग्रह)  
लेखक : राम नगीना मौर्य  
प्रकाशक : रश्मि प्रकाशन  
महाराजापुरम, केसरी खेड़ा  
रेलवे क्रॉसिंग के पास,  
वृष्णा नगर - 485001  
लखनऊ - 226011  
प्रकाशन वर्ष : 2024  
मूल : 300/-

द्वारा श्री एम० के० मिश्र  
जीवन विहार अपार्टमेंट्स, द्वितीय तल, फ्लैट नं० 7  
महेश्वरी स्वीट्स के पीछे, रीवा रोड, सतना (म०प्र०)  
मो० : 8269895950

## भाव एवं शिल्प के सहज कवि : कमर मेवाड़ी

- पंकज साहा

‘संबोधन’ के सफल संपादक, चर्चित कवि, लेखक श्री कमर मेवाड़ी को हिंदी साहित्य के मौन साधकों की अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है। ‘कमर मेवाड़ी की कविताएँ’ उनका सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह है। इसमें उनकी उनसठ कविताएँ संगृहीत हैं, जो विभिन्न समयों में देश के अनेक स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। इनमें शहरों की महत्वाकांक्षी भीड़ में अस्तित्व को बचाने की छोटपटाहट है, तो कस्बाई मनोवृत्ति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। इनमें जन-चेतना है, तो मानवीय संवेदना भी है। इनमें प्रेम की मीठी खुशबू है, तो पाखंडियों के प्रति तीव्र तिरस्कार भी है। प्रेमचंद ने अपने ‘साहित्य का उद्देश्य’ निबंध में स्पष्ट रूप से कहा है कि साहित्यकार जो कुछ ‘असुंदर’ ‘अभद्र’ और ‘मनुष्यता से रहित’ होता है, उन पर शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। इस संग्रह की अनेक कविताओं में हम मेवाड़ी जी को श्री केदारनाथ अग्रवाल के शब्दों में शब्दों और भावों के ‘हरी घास का बल्लेम’ लेकर ‘युद्ध देहि’ की मुद्रा में पाते हैं।

मेवाड़ी जी जिन दिनों कविताएँ लिख रहे थे, उन दिनों साहित्य में, विशेषकर कविताओं में, ‘कलावाद’, ‘प्रतीकवाद’, ‘प्रयोगवाद’, ‘स्वप्नवाद’ जैसे कुछ वाद प्रचलित हो चुके थे, परंतु जन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के कारण वे इन वादों की ओर आकृष्ट न होकर प्रगतिवाद और जनवाद के रास्ते पर चले। प्रगतिवाद और जनवाद मार्क्सवाद का ही साहित्यिक संस्करण है। मेवाड़ी जी घोषित मार्क्सवादी नहीं हैं, परंतु वे उस अर्थ में मार्क्सवादी अवश्य हैं, जिसके बारे में बाबा नागार्जुन ने लिखा है—

‘रोजी-रोटी हक की बातें जो भी मुँह पर लाएगा/कोई भी हो निश्चय ही वो कम्युनिस्ट कहलाएगा।’

मेवाड़ी जी की सहानुभूति सदा मेहनतकशों के प्रति रही है। ‘सुना तुमने’ कविता में वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

“उदयपुर की सड़कों पर सरपट भागता/श्रीमाली हाकर/और ऐसे असंख्य लोग/जो पानी से नहीं पसीने से फसल तैयार करते हैं/मुझे प्यारे लगते हैं।” (पृ० 39)

इसमें कोई संदेह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण कर सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर विचार करने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की है। समाजार्थिक विषमताओं को खत्म करने के लिए उन्होंने दुनिया के मजदूरों को एक होने का आह्वान किया था। मार्क्सवाद से प्रभावित कवि मेवाड़ी की दृष्टि के सामाजिक, आर्थिक वैषम्य पर बनी हुई थी। मजदूरों की तरफदारी करते हुए वे ‘मजदूर’ कविता में लिखते हैं—

‘इन्हीं के श्रम से रची है यह दुनिया/इन्हीं के श्रम से खड़ी है अट्टालिकाएँ/इन्हीं के श्रम से भरी हैं तिजोरियाँ/इन्हीं के श्रम से सीना तानकर चलते हो तुम।’ (पृ०-29)

परिश्रम करने वाले मजदूरों की दारुण दशा को देखकर कवि का हृदय अत्यंत द्रवित होता है। अभावों से जूझते, संघर्ष करते मजदूरों पर जब प्रशासनिक अत्याचार होता है, तब कवि का गुस्सा फूट पड़ता है—

“वे लोग अभावों से जूझते/जिंदा रहने के लिए संघर्ष कर रहे थे/सिर्फ इस बात को लेकर/वहाँ आँसू गैस के गोले छोड़े गये/और गोलियाँ चलीं/क्योंकि बादशाह का यही हुक्म था।” (हुक्म बादशाह का पृ० 36)

प्रशासन को भले ही मजलूमों पर कोड़े बरसाने की, बंदूकों से गोलियाँ चलाने की जिद हो, कवि को भी जिद है नया इतिहास बनाने की—

“फिर भी/हमें तो निर्मित करना ही है/एक शानदार इतिहास/कल के लिए।” (कल के लिए, पृ० 40)

कवि को पूरा भरोसा है कि एक-न-एक दिन मजदूरों की खुशियों का सूरज अवश्य निकलेगा—

‘मैं यह सच कह रहा हूँ दोस्त/यह हकीकत है/एक दिन/मजदूरों की खुशियों का सूरज/जरूर निकलेगा।’ (मजदूर, पृ० 30)

कभी प्रेमचंद ने सोवियत क्रांति के उपरांत एक नई सभ्यता के सूरज को उगते देख अपनी खुशी इन शब्दों में जाहिर की थी— ‘अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़

खोदकर फेंक दी हैं।' (महाजनी सभ्यता, प्रेमचंद रचनावली, खंड-7, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं०-1996, पृ० 515) दुर्भाग्यवश सोवियत संघ टूटकर बिखर गया और उस सूर्य की रोशनी को पूँजीवादी काले बादलों ने सारे विश्व में फैलने से रोक दिया।

वर्षों से सैनिक तानाशाहों के अत्याचारों से पीड़ित पूर्व पाकिस्तान की जनता ने शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में भारतीय मुक्ति सेना के सहयोग से मुक्ति की साँस ली, तो वहाँ की जनता के साथ-साथ भारत के लोग भी खुशी से झूम उठे। संवेदनशील कवि मेवाड़ी ने अपनी खुशी इन शब्दों में व्यक्त की—

“बांग्लादेश की धरती पर/कोई नहीं कर सकता/उल्टे हस्ताक्षर/क्योंकि वहाँ/कुछ क्षण के लिए/जो उजाला भटक गया था/वह फिर से/एक नये सूरज के रूप में/बांग्लादेश के आकाश पर/तन गया है।” (नया सूरज, पृ० 34)

परंतु समय का यह क्रूर सत्य है कि बांग्लादेश के उस नये सूरज को कट्टरपंथी राहु-केतुओं ने ग्रस लिया है।

कवि को जितनी चिढ़ शोषकों, तानाशाहों, कट्टरवादियों से है, उतनी ही चिढ़ पाखंडियों के प्रति भी है। समाज में अनेक लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं को प्रगतिवादी, जनवादी, सेक्युलर आदि कहते थकते नहीं हैं। परंतु वे होते हैं अवसरवादी। उनकी नजरें सदा हवा के रूख पर रहती हैं। वे लोग सत्ता-परिवर्तन होते ही अपना मुखौटा बदल लेते हैं। वैसे शांतिर लोगों पर तंज करते हुए वे कहते हैं—

“जो प्रगतिशीलता और जनवाद पर/विचार करते-करते/आसमान के कुलाबे तक मिला देते थे/उनकी कमीज़ का रंग/अचानक बदल जाएगा।” (सुनो लोगो, पृ०-126)

ऐसा नहीं है कि कवि की दृष्टि सामाजिक-आर्थिक विषमताओं, पूँजीवाद की विकृतियों, तानाशाहों एवं प्रशासन की क्रूरताओं के कारण उत्पन्न मानव की त्रासदियों की ओर ही गयी है। प्रकृति प्रदत्त त्रासदियों को मानव अनंत काल से भोगता आया है। बाढ़-भूकंप, सूनामी, बवंडर, अतिवृष्टि, अकाल आदि अनेक उत्पाती प्राकृतिक विपदाएँ हैं। बाढ़ कभी-कभी अप्राकृतिक कारणों से भी आती है। कारण चाहे जो हो, बाढ़ के कारण

जन-धन, पशु-धन आदि की बहुत हानि होती है। राजस्थान में आयी एक बाढ़ की विभीषिका का अत्यंत मार्मिक चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है—

‘गाँव-के-गाँव/बह गये पानी में/खेत-खलिहान/ढोर-डंगर/और अनेक नर-नारी/बाढ़ की भेंट चढ़ गये हैं।

x x x

और इधर नन्हे का पूरा परिवार/सात दिनों से भूखा-प्यासा बैठा है/पेट की अंतड़ियाँ सिकुड़कर/एक जगह इकट्ठा हो गयी हैं/सहायता के लिए बाट जोहती/उसकी आँखें/अब पथराने लगी हैं।” (बाढ़, पृ० 43-44)

प्रेम मानव की आदिम चाह है। साहित्य में प्रेम का महत्व पहले भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा, भले ही उसका स्वरूप बदल जाए। परिस्थितिवश कवि नागार्जुन को प्रवासी जीवन व्यतीत करते हुए माथे पर सिंदूर की बिंदी लगायी हुई प्रियतमा की याद आती है। डॉ० धर्मवीर भारती प्रियतमा के फिरोजी होंठों का स्मरण करते हुए लिखते हैं—

“इन फिरोजी होंठों पर/बरबाद मेरी जिंदगी।”

पचास की उम्र के आसपास पहुँचे मेवाड़ी जी भी अपनी प्रियतमा को इन शब्दों में याद करते हैं—

“पर हरी दूब का स्पर्श/वर्षा की शीतल फुहार/और/शरीर को गुदगुदा देने वाली/रोमांचकारी हवा भी/सुकून नहीं बख्शाती/इन दिनों/सिर्फ प्रतीक्षा रहती है/तुम्हारे एक अदद चुंबन की।” (एक अदद चुंबन, पृ० 91-92)

इस संग्रह में कहीं ठंड के अभिशप्त मौसम में भेड़ चराती लड़की की विवशता दिखलाई पड़ती है, तो कहीं शहर में टूटते रिश्तों की टूटन। कहीं अंधेरी राह में नई मंजिल की तलाश है, तो कहीं वर्तमान व्यवस्था में आज के एकलव्यों की घुटन। अन्य कविताओं में भी कवि के समय की संवेदना और परिवेश की अनुगूँज उनकी रचनात्मक सोच के साथ सुनाई पड़ती है। इस संग्रह में कवि ने सहज शिल्प के धागे में भावनाओं के उन मोतियों को पिरोया है, जो उनकी सत्यनिष्ठता, यथार्थवादिता और जीवन को वांछनीय रूप देने की भावना से प्रेरित है।

पुस्तक : क्रमर मेवाड़ी की कविताएँ, लेखक : क्रमर मेवाड़ी, प्रकाशक : श्रीसाहित्य प्रकाशन, दिल्ली,  
प्रथम संस्करण : 2024, पृष्ठ : 144, मूल्य : 350

समीक्षक : डॉ० पंकज साहा, झपाटापुर (ईगल हाउस के निकट), खड़गपुर - 721301 (प०ब०), मो० : 9434894190

लोक साहित्य विशेषांक लोक से लोकायित होकर प्रकाशित हुआ है। अंक : 44, मुक्तांचल ने (अक्टूबर-दिसम्बर 2024) मुक्त रूप से लोक में विचरण कर प्रकाशन योग्य सामग्रियों को समाहित किया है। यथा भोजपुरी, नागालैंड, अंगिका, अवधी, बुन्देलखण्ड, अरुणाचल, पंजाबी, ओड़िया, बांग्ला के लोक साहित्य संदर्भित आलेख उस लोक की भाषा संस्कृति, परम्परा और संस्कार बोध से परिशोधित करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भोजपुरी लोकगीतों में 'गारी' प्रो० शिवनाथ पाण्डेय जी का संवेदना-सम्पन्न आख्यान है— **फीकी है नीकां लगे, कहिये समय विचारी।/सबका मन हरषित करे, ज्यों विवाह में गारी।।**

सच में इस परम्परा की गारी विवाह-समय पर मन को हर्षित ही करती है यह भोजपुरी लोक का राग है जो सबको रागमय बनाता है। यहीं तक नहीं मुक्तांचल ने अपनी लोक-संवेदना से बंगाल, ओड़िसा और झारखण्ड की लोककथाओं को समादृत करते हुए एकान्त श्रीवास्तव की छतीसगढ़ी कविताओं की सहज समालोचना भी प्रस्तुत कर दिया है। यह लोकजीवन की रागमयता और मानवीय जिजीविषा के विभिन्न पहलुओं को उजागर करती है। डॉ० रितु होता ने इसे सरसता से व्यक्त किया है जो लोकमन को ग्राह्य है। बाकी के लोकसाहित्य के विभिन्न आयाम पर प्रकाशित अनुशीलित विमर्श अपने-अपने विषयानुसार गवेषणा के अनुकूल हैं जिससे लोक चेतस जागृत होता है। 'लोक यानी सृष्टि के पहरेदार का सांस्कृतिक ज्ञान-कोष' विमर्श का एक सत्य-तथ्य-पथ आलोकित करता है। शशिभूषण द्विवेदी का चेतस चिंतन परम हैं।

अतिथि संपादक डॉ० पंकज साहा का सुफल संपादकीय सफल हुआ है। अलबर्ट आइंस्टीन की चेतना आस बालक के माता-पिता को चेताती है "इसे और अधिक लोक लोककथाएँ सुनाइए।" यह चिंतन करने की चेतना जगाना है कि आइंस्टीन जैसा वैज्ञानिक के इस कथन में मानवीयता के कितने लोक-संदर्भ गुम्फित हैं। संस्तुति में संपादक मीरा सिन्हा लोक-साहित्य के सकारात्मक पक्ष को उजागर करने की बात करती हैं ताकि मनुष्यता बची रहे। प्रस्तुत अंक का प्रथम आवरण-पृष्ठ लोक-कला का अनुरागी आलेपन है। कवर द्वितीय पृष्ठ पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लोकमन और पृष्ठ तीन पर लोक गायिका शारदा सिन्हा का छठ गीत, अंतिम पृष्ठ पर नवगीत की सर्जनाकार और नवगीत कोकिल शांति सुमन स्मरण - यह एक सुन्दर संपादन का समन्वयभरा संयोजन है।

— डॉ० धूपनाथ प्रसाद, प्राक्तन प्राध्यापक, म०गा०अ०हि०वि०, वर्धा (महाराष्ट्र), मो० : 9420063304

मुक्तांचल (वर्ष : 11, अंक : 44, अक्टूबर-दिसम्बर 2024) लोक साहित्य पर केंद्रित रहा। भोजपुरी, अवधी, अंगिका, अरुणाचल के न्यीशी समाज, लोहड़ी लोकपर्व, उड़िया, बांग्ला, नागालैंड की सांस्कृतिक संपदा की थाती सहेजे हुए यह अंक "सांस्कृतिक-सम्प्रेषण" में पूर्ण सफल है। नागालैंड की कहावतें, बांग्ला लोककथा, अंगिका लोकनाट्य संवेदनाओं को समृद्ध करने के साथ ही समझ के दायरे को सहजता से व्यापकता देने में समर्थ हैं। इस महत्वपूर्ण अंक के लिए प्रधान संपादक डॉ० मीरा सिन्हा जी के साथ ही प्रकाशन से जुड़ी पूरी मण्डली को बहुत बधाई। साहित्य जगत आपके सतत योगदान का सदैव ऋणी रहेगा। सभी लेखकों को अशेष धन्यवाद।

डॉ० कल्पना दीक्षित

सरसरी दृष्टि से देखा। खूब अच्छी सामग्री। लोकसाहित्य का अकादमिक पक्ष व्यावहारिक समीक्षा

## अभिमत

में उतर आया है। क्षेत्रीय स्वरूप का वैविध्य बहुत विशिष्टता के साथ। आपके आलेख उद्धरण आलेख को सहज और लोकसाहित्य को लोकजीवन से पुष्ट करते हैं। इस संचित साधना के लिए बधाई। - श्री बी० एल० आच्छा

मुक्तांचल का दिसंबर अंक पीडीएफ में प्राप्त हुआ। लोककथाओं से संबंधित इस अंक को बेहतरीन कहा जा सकता है। लोकसामग्रियों के चयन में संपादक की कुशलता और कथाओं से संबंधित पाठ्य-दृष्टि का संकेत मिलता है- सूक्ष्म, जिसके लिए उनको साधुवाद। सामग्री शोधार्थियों और अध्येताओं के लिए काफी लाभदायक सिद्ध होगी। - रीता सिन्हा

लोक साहित्य लोकसंस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। लोकगीत, लोककथा, गाथागीत, लोकनृत्य, नौटंकी, रासलीला, लोकोक्ति इत्यादि लोकसाहित्य के घटक हैं। लोक साहित्य लोकजीवन की निश्छल अभिव्यक्ति है। इसलिए इसमें ग्राम्य जीवन का स्पंदन तथा जनसामान्य की आत्मा की प्रतिध्वनि होती है। लोक साहित्य लोकजीवन के निर्दोष राग-विराग, हर्ष-विषाद और आशा-निराशा की अभिव्यक्ति है। यह मनुष्य की प्राकृतिक अनुभूतियों का प्रगटीकरण है। साहित्य जगत की महत्वपूर्ण पत्रिका 'मुक्तांचल' का लोक साहित्य विशेषांक प्राप्त हुआ है जिसके लिए मैं पत्रिका की संपादक का आभारी हूँ। शोधपरक आलेखों और लोक साहित्य पर केंद्रित सामग्रियों से समृद्ध 'मुक्तांचल' का यह ऐतिहासिक है जिसकी गूँज भविष्य में भी सुनाई पड़ेगी। आलेखों का चयन करने में विशेषांक के अतिथि संपादक डॉ० पंकज साहा ने अपने नीर-क्षीर विवेक और वैदुष्य का परिचय दिया है। इस त्रैमासिक पत्रिका की संपादक डॉ० मीरा सिन्हा ने अपनी संस्तुति में लोक साहित्य की सकारात्मकता को रेखांकित किया है। इस अंक में लोक साहित्य, लोक नाट्य, अवधी लोक साहित्य, भोजपुरी लोक साहित्य, अंगिका लोक साहित्य, बुंदेली लोक साहित्य पर शोधपरक प्रकाशित हुए हैं जो पाठकों के मानस-क्षितिज का विस्तार करते हैं। पश्चिम बंगाल, झारखंड और ओड़िशा की लोककथाएँ मन की समझ विकसित करने में समर्थ हैं। लोक साहित्य पर केंद्रित उल्लेखनीय अंक के लिए मैं पत्रिका की संपादक, अतिथि संपादक और संपादन टीम के सभी सदस्यों को बधाई देता हूँ। विद्वान लेखक भी साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी मेधा-समिधा से इस सारस्वत अवुष्ठान को सफल बनाया है। - वीरेन्द्र परमार

'मुक्तांचल' का रमेश कुंतल मेघ विशेष अंक मिला। यह अंक डॉ० मीरा सिन्हा के कुशल संपादन में प्रकाशित हुआ है। अपने संपादकीय में उन्होंने लिखा है- "रमेश कुंचल मेघ जैसे असाधारण प्रतिभा के धनी लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व को सहज साधारण ढंग से सामने लाने की कोशिश इस अंक का अभिप्रेत है।" वास्तव में मेघ जी के विस्तृत रचना-संसार को कई दृष्टियों से जानने-समझने की कोशिश इस अंक में दिखती है।

इस अंक में एक ओर मेघ जी के कुछ महत्वपूर्ण आलेखों को 'चिंतन' के अंतर्गत शामिल किया गया है जो दूसरी ओर उनकी स्मृतियों को संजोया है- पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', डॉ० कृष्ण कुमार, अनूप सेठी और हरेंद्र सिंह भदौरिया ने। ये स्मृतियाँ मेघ जी के व्यक्तित्व को समझने में भलीभाँति सहायक हैं। अपने विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए वे जहाँ स्नेही और सहायक थे, तो संगोष्ठियों में बतौर विशेषज्ञ वक्ता वे अपने ज्ञान का डंका बजाकर सबको निःशब्द कर देने वाले भी थे। मित्रों के बीच उनके मिलनसार स्वभाव का पता भी इन आलेखों में मिलता है।

इस विशेष अंक की एक उपलब्धि और हैं- मेघ जी पर आलोचनात्मक लेख। इन आलेखों में रंजना अरगडे का आलेख मिथकों की कालोत्तीर्ष गोष्ठी- 'विश्वमिथक सरित्सागर', डॉ० के. वनजा का आलेख- 'कामायनी : सौंदर्य से साक्षात्कार उर्फ प्रकृति दर्शन' और सेवाराम त्रिपाठी का आलेख- 'रमेश कुंतल मेघ और मनखंजन किनके : कुछ नोट्स' चिंतनपूर्ण आलेख हैं।

अभिमत

वास्तव में, रमेश कुंतल मेघ पर केंद्रित 'मुक्तांचल' का यह अंक एक विजन के साथ प्रकाशित हुआ है, जो पाठकों और विशेषकर शोधार्थियों के लिए संग्रहणीय बन पड़ा है। इसके संपादक डॉ० मीरा सिन्हा जी को मैं अपनी बधाई प्रेषित करती हूँ। - डॉ० मनीषा झा, सिलीगुड़ी

## विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ

डॉ. रामजन्म मिश्र  
कुलाधिपति

गांधीनगर, ईशीपुर, भागलपुर - 813206  
(नि. संख्या : 244/02784)

मो० : 6201076265

पत्रांक : 10

दिनांक : 10/02/2025

### मुक्तांचल का लोक साहित्य विशेषांक वर्ष - 11, अंक - 44, अक्टूबर-दिसंबर 2024

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का 'मुक्तांचल' के 'लोक साहित्य विशेषांक' प्रो० पंकज साहा के सौजन्य से विगत दिनों मिला। प्रो० साहा लोक साहित्य विशेषांक के अतिथि संपादक भी हैं।

लोक साहित्य विशेषांक का नयनाभिराम आवरण पृष्ठ आनंदित करता है। लोक को समर्पित अनुपम चित्रकला का सुंदर समायोजन आकर्षक रंगों के चित्रों द्वारा सुरभि साहा ने प्रस्तुत किया है। सुरभि साहा को साधुवाद।

भाषा, स्थान, भूगोल के अनुरूप साहित्य का उल्लेख होता है। लोक-परलोक, लोक-वेद इत्यादि में लोक की चर्चा होती है। यथा वैदिक परंपरा, लौकिक परम्परा, श्रीमद्भगवद्गीता में भी लोक और वेद की चर्चा है। हम यहाँ लोक साहित्य की चर्चा के संदर्भ में कहना चाहेंगे कि लोक एक व्यापक एवं सर्वदेशीय, सर्वकालीन, विशेषण है। लोक साहित्य को बहुत पहले 'भद्रमानुष' हेय दृष्टि से देखता था। लेकिन, यह लोक शब्द साहित्य के साथ जुड़कर अपने प्रभाव को विस्तारित किया है। लोकगाथा, लोकगीत, लोक नाटक, लोक-नृत्य इत्यादि।

मुक्तांचल का विवेच्य अंक लोक साहित्य के परंपरा विस्तार एवं प्रभाव से संबंधित विभिन्न भाषाओं के लोक साहित्य से परिचित है। यह अंक हिंदी प्रदेश की भोजपुरी, अंगिका, अवधी, बुंदेलखंडी के साथ नागालैंड, अरुणांचल, ओड़िआ और बांग्ला भाषा के लोक के विभिन्न पक्षों से पाठकों का ज्ञानवर्द्धन करता है। धरोहर आलेख प्रो० दिनेश्वर प्रसाद के साथ ही अनुशीलन खंड के सभी आलेख लोक साहित्य के विस्तार, इसके सामाजिक सरोकार से परिचित कराते हैं।

अतिथि संपादक डॉ० पंकज साहा ने पत्रिका के इस आकर्षक कलेवर में विद्वतापूर्ण आलेखों को समाहित कर अंक को संग्रहणीय बनाया है। अतिथि संपादक प्रो० पंकज साहा, संपादक डॉ० मीरा सिन्हा, हावड़ा विद्यार्थी मंच के साथ अंक को सुंदर बनाने वाले सभी साथियों को बधाई साधुवाद। -कुलाधिपति

### पत्र व्यवहार का पता- प्रगति भवन, चैती दुर्गास्थान, साहिबगंज - 816109 झारखण्ड

मुक्तांचल 'लोक साहित्य विशेषांक' पत्रिका मिली। अतिथि संपादक डॉ० पंकज साहा जी अध्ययनशील और गंभीर चिंतक अध्यापक लेखक हैं। उसका परिचय देते दिखाई दे रही है यह पत्रिका। उन्होंने बहुत ही बेहतरीन तरीके से इसका संपादन कार्य किया है। सभी रचनाओं को विभिन्न वर्गों में बाँटकर एक ओर उन्होंने पाठकों के लिए सहूलियत कर दी है वहीं दूसरे ओर वह विभाजन यह भी दर्शाता है कि लोक साहित्य पर किए जाने वाले कार्यों को कितने प्रकार से, कितने दृष्टिकोण से देखा और परखा जा सकता है। यह बताया जाना अन्यथा नहीं लिया जाना चाहिए कि लोक साहित्य एक विराट संसार का नाम है। जब से पृथ्वी नामक ग्रह पर मनुष्य ने अपने अस्तित्व को पहचाना होगा तभी से लोकसाहित्य अपने अस्तित्व में आ चुका था। यह दूसरी बात है कि लोक साहित्य या लोक वार्ता को समझने में या रेखांकित करने में हमें काफी समय लगा। 1846 का वह साल अत्यंत सुखद रहा होगा जब सही अर्थ में लोक साहित्य को एक नया नाम दिया जा रहा था। पश्चिमी विद्वानों का ध्यान इस ओर गया बाद में भारतवर्ष में भी ईसाई मिशनरियों द्वारा और पश्चिमी विद्वानों द्वारा इस पर काम किया गया। 'फोकलोर' लोकवार्ता अपने भीतर अनंत संभावनाओं को छुपाए हुए है जिसके



## अभिमत

माध्यम से नए सिरे से मानव सभ्यता के इतिहास की व्याख्या की जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पत्रिका में रचनाएँ अपने स्तरीयता के लिए सराहनीय रही हैं और लोक साहित्य के अध्ययन मनन की दिशा की ओर नए संकेतक का कार्य कर रही हैं। यह बात सुनिश्चित तौर शुभता का संदेश है, परंतु यह कहने में भी गुरेज नहीं किया जा सकता कि अभी जो कार्य इस दिशा में हिंदी में किया है वह आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। जिन विविधताओं को पत्रिका में आलेख इत्यादि के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है वह एक सीमित पक्ष है लोक साहित्य के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष को अलग-अलग करके देखे जाने की पुनः आवश्यकता है। भारतवर्ष के कई विश्वविद्यालयों में लोक साहित्य के अध्ययन की सुविधा है। परंतु, होना यह चाहिए कि हर विश्वविद्यालय में लोक साहित्य के प्रति विद्यार्थियों में रुचि जागृत करने के लिए उन्हें इस पर सटीक ढंग का सिलेबस उपलब्ध करवाया जाना चाहिए और उसी क्रम में उन्हें लोक साहित्य की आवश्यकता, विशेष कर इस अंध दौड़ में, भूमंडलीकरण के तीव्र आँधी में किस तरह से अपने क्षेत्र की निजी विशेषताओं को समझा और परखा जा सकता है एवं उसके माध्यम से अतीत वर्तमान एवं भविष्य के बीच की अनसुलझी गुथियों को सुलझाया जा सकता है। इस दिशा में उन्हें प्रेरित किया जा सकता है। इस विषय को विशेष रूप से रुचिकर बनाकर ही यह कार्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस दिशा में शोध के लिए भी तमाम प्रबंध किए जाने चाहिए तथा उन्हें जोड़ा जाना चाहिए जिसे हमने अपने पाठ्यक्रम से भुला दिया है। इसी संदर्भ में बात हो रही थी तो जानकारी मिली कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में कभी डॉक्टर सत्येंद्र जी (सन 1955 में) की क्लासेस लगती थी। यह हम सबों के लिए कितना बड़ा सौभाग्य है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में ही कभी डॉक्टर सत्येंद्र 'मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन' और 'लोक साहित्य का विज्ञान' जैसे बहुमूल्य ग्रंथों की पृष्ठभूमि तय कर रहे थे। पत्रिका अवश्य ही न सिर्फ संग्रहित किए जाने योग्य है, वरन इसे पढ़े जाने की भी आवश्यकता है। मुक्तांचल की पूरी टीम को हार्दिक बधाई।

**-रंजना शर्मा**, हिंदी विभागाध्यक्ष, बेथुन कॉलेज, कोलकाता - 700 006, मो० : 9830021859

सिन्हा परिवार आवास एक समय में प्रगतिशील विचारों का साहित्यिक व सांस्कृतिक केंद्र था। आनंद सिन्हा और प्रोफेसर मीरा सिन्हा ने अपने जीवन का बेहतर हिस्सा समाज की जागरूकता में लगा दिया। आज मीरा जी अकेले उस विरासत को 'मुक्तांचल साहित्यिक अड्डा' और 'मुक्तांचल' पत्रिका को 'विद्यार्थी मंच' के माध्यम से संचालित किए हुई हैं। उसी सिलसिले में 23 फरवरी 25 पटना से आए कवि, लेखक, कथाकार शिवदयाल जी की उपस्थिति में एक संवाद गोष्ठी आयोजित की गई। संदर्भ था शिवदयाल के उपन्यास 'एक और दुनिया होती' पर विमर्श। कथाकार शर्मिला बोहरा जालान ने उपन्यास पर अपना लिखित पर्चा पढ़कर कथा के संदर्भ और विषय वस्तु को स्पष्ट किया उसके बाद शिवदयाल ने अपनी कुछ कविताओं का भी पाठ किया। बीच में सृजनात्मक को हवा देने वाली राजनीति पर भी भाई महेश जायसवाल ने बात छेड़ दी, जिससे लेखक की रचनात्मक मंशा पर भी बहस छिड़ी। बीच में ऋतेश पाण्डेय, मीरा सिन्हा, सेराज खान बातिश व अन्य लोगों ने भी अपने विचार साझा किए। केंद्रीय सत्ता के धर्म को हथियार बनाकर देश को छद्म आस्था व धर्ममुखी बनाकर देश के जरूरी मुद्दे से जनता को विमुख करने का भी आरोप लगाते हुए महेश जायसवाल ने सरकार की नाकामियों को दिखाते हुए लेखकों से अपनी रचनाओं में उसे उठाने का आग्रह किया। 'एक और दुनिया' जे पी आंदोलन पर लिखा— आज से बारह वर्ष पहले का उपन्यास है, जिसमें उपन्यासकार शिवदयाल ने उस समय की घटनाओं को समेटते हुए उपन्यास का रूप दिया है। 'अनन्या' प्रकाशन से छपा यह उपन्यास 222 पृष्ठों का है और इसमें दो खंड हैं। इस उपन्यास के कुछ पात्र सारा आकाश के कथानायक से कुछ-कुछ मिलते हैं। इस गोष्ठी में थोड़े से लोगों ने बड़े विषय पर विमर्श किया जिसमें मीरा सिन्हा जी का सहयोग सराहनीय रहा।

**- सेराज खान 'बातिश'**, 3बी, बंगाली, शाहरवासी लेन, द्वितीय तल, फ्लैट नं. 4, खिदिरपुर,  
कोलकाता- 700023 , कोलकाता, मो० : 9339847198

## मुक्तांचल के 'लोक साहित्य' अंक का हुआ विमोचन

विद्यार्थी मंच की साहित्यिक पत्रिका 'मुक्तांचल' के 44वें अंक का 29 दिसंबर 2024 को अतिथि संपादक पंकज साहा की उपस्थिति में विमोचन किया गया। 'मुक्तांचल' के द्वारा प्रकाशित विशेषांकों की श्रृंखला में यह अंक 'लोक साहित्य' पर केंद्रित है।

विद्यार्थी मंच एवं गाथा प्रकाशन द्वारा संचालित 'साहित्यिक अड्डे' में इस अंक के विमोचन के अवसर पर पत्रिका की संपादक डॉ० मीरा सिन्हा ने लोक साहित्य के अध्ययन और शोध की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि 'मुक्तांचल-44' का यह विशेषांक उन अध्येताओं के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा जो लोक साहित्य पर शोध कर रहे हैं।

विमोचन के मौके पर आलोचक रविभूषण, डॉ० विनय मिश्र, डॉ० प्रकाश अग्रवाल, डॉ० शुभ्रा उपाध्याय, शैलेंद्र शांत, पद्माकर व्यास, डॉ० विजया सिंह, सुशील कुमार पांडेय, सरिता खोवाला, नीतीश सिंह, डॉ० रेणु चौधरी, कंचन रजक (शोधार्थी), डॉ० नमिता जायसवाल, विनीता लाल, अक्षिता शशि साव, मंगल पांडेय, स्वराज पांडेय, जान्हवी पाण्डेय, प्रकाश प्रियांशु, शशि साव, राजसार्थक शर्मा, बलराम साव एवं अन्य लोग उपस्थित थे। विमोचन सह साहित्यिक अड्डे का कुशल संचालन विनोद यादव ने किया।

साहित्यिक अड्डा और पत्रिका के विमोचन के पूर्व डॉ० मीरा सिन्हा के आवास पर एक अंतरंग संगोष्ठी का आयोजन किया गया। डॉ० शुभ्रा उपाध्याय, उमा झुनझुनवाला, मंजू श्रीवास्तव तथा मृत्युंजय श्रीवास्तव ने प्रसिद्ध आलोचक एवं कवि डॉ० विजय बहादुर सिंह के सद्यः प्रकाशित काव्य संकलन 'फूल को याद थे सारे मौसम' की रचनाओं का पाठ किया। इस अंतरंग संगोष्ठी में सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० विजय बहादुर सिंह, डॉ० रविभूषण, मृत्युंजय श्रीवास्तव, मंजू श्रीवास्तव, डॉ० मंजू रानी सिंह, डॉ० शुभ्रा उपाध्याय, उमा झुनझुनवाला, गुंजन अजहर, विनोद यादव, सुशील कुमार पांडेय, मंगल पांडेय, जान्हवी पाण्डेय, स्वराज पांडेय उपस्थित थे।

## कवि व कथाकार शिवदयाल के सम्मान में 'साहित्यिक अड्डा'

मुक्तांचल पत्रिका एवं गाथा प्रकाशन के 'साहित्यिक अड्डा' में इस बार पटना से कोलकाता आए कवि एवं कथाकार शिवदयाल व आभा सिन्हा के सम्मान में दिनांक 23 फरवरी 2025 को पत्रिका की संपादक डॉ० मीरा सिन्हा ने एक गोष्ठी का आयोजन किया। विद्यार्थी मंच के सचिव विवेक लाल ने कार्यक्रम की शुरुआत में कथाकार शिवदयाल के रचना संसार से उपस्थित लोगों को परिचित कराया। कोलकाता की प्रसिद्ध लेखिका शर्मिला बोहरा जालान ने कथाकार शिवदयाल के लिखे उपन्यास 'एक और दुनिया होती' के कथ्य संदर्भ को संक्षेप में उद्घाटित करते हुए कहा कि "उपन्यास के केंद्र में जे०पी० के आदर्शों पर चलने की कोशिश करने वाला नायक है। उपन्यास को पढ़ने के बाद लगा कि इसमें सामाजिक और व्यक्तिगत संघर्षों का संतुलन है, जहाँ मुख्य पात्र अपने पिता की उम्मीदों और अमृत की प्रेरणाओं के बीच उलझा है। वह सामाजिक असमानता और व्यक्तिगत जीवन की चुनौतियों से जूझते हुए आत्म विश्लेषण और सामाजिक बदलाव के बीच संघर्ष करता है।" यह तो एक कोण है, उपन्यास को कई कोणों से पढ़ा जा सकता है। आगे उन्होंने कवि शिवदयाल के कविता संग्रह 'ताक पर दुनिया' का उल्लेख करते हुए कहा कि "इसकी भूमिका अनामिका जी ने लिखी है। जिसके पहले अनुच्छेद से शिवदयाल जी के वैचारिक संसार को समझने की मेरी थोड़ी समझ बनी है।"

साहित्यिक अड्डा में कवि एवं कथाकार शिवदयाल के कविता संग्रह 'ताक पर दुनिया' से विवेक लाल व प्रिया श्रीवास्तव ने कुछ कविताओं का पाठ किया। आगे शिवदयाल जी ने अपनी कुछ कविताओं का पाठ किया। अंत में शिवदयाल जी ने अपने लेखकीय कार्य के गति और अपने उपन्यास 'एक और दुनिया होती' के भौतिक मर्म से उपस्थित लोगों को अवगत कराया। उन्होंने 'साहित्यिक अड्डा' के आयोजन के लिए 'मुक्तांचल' पत्रिका की संपादक डॉ० मीरा सिन्हा के प्रति अपना आभार जताया और कहा कि अड्डा में शामिल होकर आनंदित हूँ।

## गतिविधियाँ

इस गोष्ठी में महेश जायसवाल, ऋतेश पाण्डेय, डॉ० मीरा सिन्हा, सेराज खान बातिस, डॉ० विजया सिंह, सुशील कुमार पाण्डेय, प्रिया श्रीवास्तव, रुद्र कान्त झा, राज सार्थक, बलराम साव, शशि साव, स्वराज पाण्डेय, राव्या श्रीवास्तव व अन्य लोगों ने भी अपने विचार साझा किए। कार्यक्रम का सफल संचालन व धन्यवाद ज्ञापन विवेक लाल ने किया।

## प्रख्यात शिक्षाविद, विचारक डॉ० विजय बहादुर सिंह एवं डॉ० मीरा सिन्हा को शिक्षा सम्मान

अकादमिक पत्रिका 'मुक्तांचल' की संपादक व शिक्षाविद डॉ० मीरा सिन्हा एवं प्रख्यात शिक्षाविद, विचारक डॉ० विजय बहादुर सिंह को पश्चिम बंगाल राज्य स्तर पर सक्रिय संस्था सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मिशन द्वारा 'प्रो० कल्याणमल लोढ़ा-लिली लोढ़ा शिक्षा सम्मान 2024' से सम्मानित किया गया। यह सम्मान कोलकाता में 26 दिसंबर 2024 से शुरू होने वाले 30वें हिंदी मेला में प्रदान किया गया। हिंदी मेला का यह सम्मान कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में लंबे समय तक अध्यक्ष रहे और हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए विपुल काम करने वाले प्रो० कल्याणमल लोढ़ा और उनकी पत्नी लिली लोढ़ा की स्मृति में उनकी सुपुत्री सुषमा लोढ़ा के सौजन्य से हर वर्ष दिया जाता है।

2024 के शिक्षा सम्मान से सम्मानित डॉ० विजय बहादुर सिंह ने लंबे समय तक मध्य प्रदेश में अध्यापन के साथ विपुल लेखन कार्य किया है। वे भारतीय भाषा परिषद के निदेशक रह चुके हैं। उनकी कुछ प्रमुख पुस्तकें हैं 'आलोचना वहत्रयी', 'नागार्जुन का रचना संसार', 'महादेवी के काव्य का नेपथ्य', 'पृथ्वी का प्रेमगीत', 'जयशंकर प्रसाद' आदि हैं।

डॉ० मीरा सिन्हा ने सावित्री गर्ल्स कॉलेज व कलकत्ता विश्वविद्यालय कोलकाता में 43 वर्षों तक हिंदी साहित्य के अध्यापन से अवकाश प्राप्त करने के उपरांत पिछले 12 वर्षों से निरंतर 'विद्यार्थी मंच' नामक सामाजिक संगठन के माध्यम से एक अकादमिक साहित्यिक पत्रिका 'मुक्तांचल' का संपादन कर रही हैं। आपने 1976 में प्रकाशित होने वाली 'अभिव्यंजना' पत्रिका के संपादन का कार्य भी किया था। आप कला और संस्कृति के क्षेत्र में विशेष रुचि और सक्रियता के कारण जानी जाती हैं। दोनों पुरस्कृत शिक्षकों को 'वर्तमान हिंसा और साहित्यिक परंपराएँ' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दिन 31 दिसंबर 2024 को मानिक बच्छावत मंच, फेडरेशन हॉल सोसायटी में सम्मानित किया गया था।

## बर्मिंघम (यू०के०) में 'गीतांजलि बहुभाषी साहित्य समुदाय' की गोष्ठी संपन्न

बर्मिंघम (यू०के०) की लोकप्रिय साहित्यिक संस्था 'गीतांजलि बहुभाषी साहित्य समुदाय' की पहली बैठक 12 जनवरी 2025 को डॉ० कृष्ण कन्हैया और डॉ० (श्रीमती) अंजना सिन्हा के निवास पर आयोजित हुई, जिसका संचालन डॉ० कृष्ण कन्हैया ने किया। इस कार्यक्रम में चालीस से अधिक प्रवासी भारतीयों ने शिरकत की। आभासीय पटल जूम के माध्यम से भी कई लोगों ने बैठक में भाग लिया। बैठक में साहित्य पर गंभीर चर्चा हुई, यह बैठक लगभग ढाई घंटे तक चली। गोष्ठी में 'मुक्तांचल' पत्रिका की पतिनिधि श्रीमती चाँदनी सिन्हा ने कहा कि "गीतांजलि बहुभाषा साहित्य समुदाय" के साथ मुक्तांचल का सहयोगी संपर्क रहा है। 'गीतांजलि' के तीस वर्षों की सफल यात्रा 'मुक्तांचल' परिवार के प्रेरणादायी है। गीतांजलि के अधिष्ठाता आदरणीय कृष्ण कुमार जी हमारे लिए प्रेरणा स्रोत है। बैठक के बाद उपस्थित सदस्यों ने सुस्वादु भोजन का लुत्फ उठाया।

## कांशी टीवी पर काव्य-पाठ का आयोजन

बर्मिंघम (यू.के.) के कांशी टीवी पर 5 फरवरी 2025 को शाम 7 बजे पाँच कवि/कवयित्रियों को तीन विषयों 'इंसानियत को बांटना न धर्म न ईमान है, सारे संत गुरुओं का बस एक ही पैगाम है, इंसानियत का दोस्तों विस्तार करना चाहिए' पर अपनी स्वरचित कविता का पाठ करने के लिए आमंत्रित किया गया था। कवि डॉ० कृष्ण कन्हैया, चाँदनी सिन्हा, परवेज़ मुज़फ़्फ़र, डॉ० वंदना खुराना, स्वर्ण तलवार ने अपनी स्वरचित कविताओं का पाठ किया। इस कार्यक्रम के संयोजक हरमोहिंदर सिंह उपासक व सहायक कुलदीप सिंह थे। इस कार्यक्रम का कांशी टीवी (स्काई चैनल 765) पर लाइव प्रसारण हुआ।

### :: श्रद्धांजलि ::



(1936-2025)

‘आज़ादी का हलफनामा’ और ‘स्मारिका’ के चर्चित कवि आलोक शर्मा के निधन पर मुक्तांचल परिवार अपनी संवेदना और श्रद्धा सुमन अर्पित करता है। आपकी कविताओं ने हमारे जीवन को गहराई से प्रभावित किया है और आपकी शब्दों की ताकत ने हमें सोचने और महसूस करने का नया तरीका सिखाया है।

### समीक्षार्थ पुस्तकें प्राप्त हुई

क्र०	पुस्तक का नाम	लेखक/लेखिका	प्रकाशक
1.	फुज्जार	धनेशदत्त पाण्डेय	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी, नई दिल्ली - 12
2.	मुक्त हुए मुक्तक कृष्ण कन्हैया के रिश्ताई मुक्तक	डॉ० कृष्ण कन्हैया	विश्व हिंदी साहित्य परिषद शालीमारबाग, दिल्ली - 88
3.	साँझ के घर में किरण	श्याम सुन्दर तिवारी	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी, नई दिल्ली - 12
4.	अज़ादी : सपना और हकीकत	रविभूषण	अभिधा बुक्स जी-72, गंगा विहार, गोकल पुरी, दिल्ली - 11094
5.	स्वतंत्र हुए स्वाधीन होना है	शिवदयाल	प्रलेक प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 702, जे-50, ग्लोबल सिटी, विरार (वेस्ट) मुंबई, महाराष्ट्र - 401303
6.	ताक पर दुनिया	शिवदयाल	प्रलेक प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 702, जे-50, ग्लोबल सिटी, विरार (वेस्ट) मुंबई, महाराष्ट्र - 401303
7.	त्राहिमाम युगे युगे	रामपाल श्रीवास्तव	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी नई दिल्ली - 12
8.	आधे चाँद की थकी पुतलियाँ	उमा झुनझुनवाला	इंडिया नेटबुक्स प्राइवेट लि० नोएडा - 201301

इस पार तक.....

## चादर कबीर की

ओढ़िये  
बिछाड़िये  
लपेटिये  
समेटिये  
बस जिस्म का हिस्सा समझिये इसे  
न भारी  
न हलकी / गुनी हाथों की करामात /  
सिर्फ साथ होने के अहसास का  
भरोसा  
वाकई बड़ी नायाब चीनज है यह।  
धूप / वर्षा / जाड़ा  
औला-पाला-काशी से मगहर तक  
हर उत्पात से पंजा लड़ाती  
निभाती देह का साथ  
टस से मस नहीं होती  
बचाती फर्ड की मरजाद  
शर्त सिर्फ यह  
कि इसे जतन से बरतें आप  
साधें ताने-बाने की कला का मर्म  
सुख-सेज से मरण-सेज तक  
धरती का ओढ़ना  
आकाश का चँदोवा है यह  
काश!  
बुनती रहें हमारी अँगुलियाँ  
इकतारे की धुन पर  
सुनते हुये अनहद का नाग  
झीनी-झीनी चादर यह  
कबीर की।



ध्रुवदेव मिश्र पाषाण  
(9 सितंबर 1939 - 7 जनवरी 2025)



## बधाई



विनोद कुमार शुक्ल को ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किए जाने पर हार्दिक अभिनंदन! यह सम्मान उनकी साहित्यिक प्रतिभा, अद्वितीय लेखन शैली और हिंदी साहित्य में उनके अमूल्य योगदान का सच्चा प्रमाण है। उनकी रचनाएँ, जो जीवन की साधारणता में गहनता को उजागर करती हैं, पाठकों के लिए हमेशा प्रेरणादायक रहेंगी। इस उपलब्धि के लिए मुक्तांचल परिवार की अनंत बधाई!

Scan & Pay Using PhonePe App



हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014)

6/2/1, आंशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106 द्वारा प्रकाशित  
एवं गाथा प्रकाशन, सलकिया, हावड़ा से मुद्रित

संपादक - डॉ. मीरा सिन्हा